प्रकाशक
लाला वेलूराम जैन ठेकेदार जालन्धर छावनी
प्राप्ति स्थान—सन्मति ज्ञान पीठ
लोहा मण्डी आगरा

प्रथमावृत्ति सन् १९४८ नवंबर
अर्घ मूल्य
अढ़ाई रुपया

मुद्रक
अमरचन्द्र
राजहंस प्रेस दिल्ली।

श्रीमान् सेठ स्व० धनीराम जी जैन ठेकेदार जालन्धर छावनी (पंजाब)

पुण्य-स्मृति

स्वर्गीय स्नेहमूर्ति पूज्य पिता श्री धनीराम जी की पुण्य-स्मृति मे उनके सुपुत्र ला० तेलूराम जी ठेकेदार जालन्धर निवासी की ओर से सस्नेहएवं सभक्ति भाव सादर प्रकाशित ।

धन्यवाद

आज मंगलमयी कार्तिक पूर्णिमा के शुभावसर पर श्रद्धेय लोकमान्य महामुनिराज प० गणी श्री उदयचन्द जी महाराज का यह विराट जीवन-चरित्र प्रेमी पाठकों के कर कमलों में सादर समर्पण करता हुआ अतीव हर्षानुभव कर रहा हूं।

श्रद्धेय गणी श्री जी का यह जीवन-चरित्र बड़े ही प्रामाणिक ढंग से लिखा गया है। श्रद्धेय गणी श्री जी के ही पौत्र शिष्य प० मुनि श्री शिवकुमार जी प्रस्तुत जीवन चरित्र के लेखक हैं। उन्होंने पद-पद पर गणी जी महाराज के प्रति श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का प्रवाह बहा दिया है। जीवन-चरित्र सम्बन्धी तथ्यों का बहुत अच्छा सुन्दर विश्लेषण किया है। पाठक पढ़ते समय ऊबता नहीं। वह लेखक की भावना के साथ सस्नेह बहता चला जाता है। इतना सुन्दर जीवन-चरित्र लिखने के लिए हम प० मुनि श्री शिवकुमार जी के हृदय से आभारी हैं।

प्रस्तुत जीवन-चरित्र का सम्पादन हमारे महामान्य उपाध्याय कविरत्न प० मुनि श्री अमरचन्द जी महाराज के हाथों हुआ है। उपाध्याय श्री जैन संसार में एक उच्च एव प्रतिष्ठित विद्वान् माने जाते हैं। आपकी लेखनी का चमत्कार समाज में सुप्रसिद्ध है। अस्तु, आपकी सुन्दर लेखनी का स्पर्श पाकर यह जीवन-चरित्र भी सोने में सुगन्धकी कहावत को चरितार्थ कर रहा है।

श्रद्धेय गणावच्छेदक श्री रघुवरदयाल जी महाराज के भी हम कृतज्ञ हैं कि आपके सत्प्रयत्नों से ही यह सुन्दर जीवन-चरित्र पाठकों को पढ़ने के लिए प्राप्त हुआ है। श्री गणावच्छेदक जी श्रद्धेय गणी जी महाराज के महान् योग्य शिष्य हैं। गणी श्री जी के चरण कमलों में चिरकाल तक सेवा करने का सौभाग्य आपको मिला है। गुरुदेव की कृपा का अमर आशीर्वाद पाकर आप धन्य-धन्य हो गए हैं। प्रस्तुत जीवन-चरित्र के निर्माण कराने में आपने अपनी गुरु भक्ति का आदर्श परिचय दिया है।

लाला तेलूराम जी भी हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं कि आपने विशाल

धन राशि खर्च कर गणी श्री जी के विस्तृत जीवन-चरित्र के प्रकाशन का सौभाग्य प्राप्त किया है। लालाजी का गुरुदेव के प्रति बड़ा ही अविचल भक्ति-भाव था। और उधर गणी श्री जी का भी आप पर महान् कृपाभाव था। लालाजी जहाँ धन वैभव के स्वामी हैं वहाँ उसका उचित उपयोग करने वाले भी हैं। समाज-सेवा के क्षेत्र में आप दिल खोल कर दान करते हैं। आप जिनेन्द्र पंचकूला के सभापति हैं और कई वर्ष से निरन्तर सेवा कर रहे हैं। सभापति पद से एक साथ ११ हजार का दान गुरुकुल को आपके द्वारा मिला है। पंजाब प्रान्तीय ऐस. ऐस. जैन कान्फ्रेंस के सभापति पद से की जाने वाली सेवायें भी आपकी सदा उल्लेखनीय रहेंगी। आपके यहाँ वंश परम्परा से जैन धर्म का महान् अनुराग चला आ रहा है। आपके पिता श्री ला. बख्शीराम जी रईस भी सुदृढ़ धर्म की श्रद्धा वाले जैन श्रावक थे। आपकी भी गणी जी महाराज के प्रति अपार श्रद्धा भक्ति थी। पिता के समान पुत्र भी उसी धर्म सेवा के पथ पर चल रहे हैं। अपने योग्य पिता की पुण्य स्मृति में यह ग्रन्थ प्रकाशित कर जहाँ ला. देवराज जी ने आदर्श पितृभक्ति का परिचय दिया है वहाँ आप ने गणी जी महाराज के प्रति आदर्श गुरु भक्ति का सम्मान भी प्रगट किया है। 'रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन।'

सन्मति ज्ञान पीठ, ला. देवराज जी का आभारी है कि आपकी ओर से यह महान् ग्रन्थ प्रकाशित कर इसे (ज्ञानपीठ को) अर्पण कर दिया है। इसके लिए हम लाला साहब और पूज्य प्रेरक श्रद्धेय गणावच्छेदक श्री रघुवरदयाल जी महाराज के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करते हैं।

मन्त्री—
सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा।

समालोचनार्थ

सप्रेमभेंट

जिनवाणी कार्यालय, जयपुर

लेखक की बात

"किं जीवन ? दोष-विवर्जित यत् ।"

भारतवर्ष के एक महान् आचार्य से शिष्य ने पूछा-"गुरुदेव ! जीवन क्या है ?" आचार्य ने मानव जीवन के अमर रहस्यको स्पर्श करते हुए उत्तर दिया "जो दोषों से रहित है, सांसारिक विकारों की कालिमा से अलिप्त है, वस्तुतः वही जीवन है।" मानव जीवन के गंभीर रहस्य को प्रगट करने वाली यह प्रश्नोत्तरी अजर अमर है। इससे बढ़कर जीवन की और क्या व्याख्या होसकती है ? जैन संस्कृति का रहस्य, नहीं-नहीं मानव संस्कृति का रहस्य जीवन की उपर्युक्त व्याख्या में स्पष्टतः चमक उठा है।

श्रद्धेय गणी श्री उदयचन्द्रजी महाराज का जीवन वस्तुतः ऊपर की जीवन-व्याख्या पर पूर्णरूपेण खरा उतरता है। उनका विराट संयमी जीवन, वह जीवन है, जिस पर संसार की वासनाओं का एक भी काला धब्बा पड़ा नजर नहीं आता। उनके जीवन का हर कोना प्रकाशमान है। उनका जीवन कैसा था, यह जीवन चरित्र के पृष्ठों में भली भाँति पढ़ा जा सकता है। यह ठीक है कि उनके विराट जीवन को इस लघु काय पुस्तक में अंकित करना ऐसा ही है, जैसा कि अपार सागर को कूजे में बन्द करना और अनन्त आकाश को मुट्ठी में पकड़ लेना। अतएव उनके विराट जीवन की छाप प्रस्तुत पुस्तक में स्पष्टतः अंकित नहीं की जा सकी है और न वह अंकित की जा सकती ही थी। फिर भी गरीब लेखक जो कर सकता था, उसने वह किया है और अपने मनकी भावनाओं को कागज पर उँडेल दिया है। प्रेमी पाठक, इस कुछ न को ही सब कुछ समझने की उदारता दिखाएँ।

जीवन चरित्र लिखने का कार्य बड़ा कठिन है। किसी के विस्तृत जीवन को जब लेखक लिपिबद्ध करता है तो कुछ बातें छूट जाती हैं, कुछ विशाल घटनाएँ छोटी होजाती हैं, कुछ विपर्यय का रूप भी लेलेती हैं। इस जीवन चरित्र में भी मुझ से ऐसा ही कुछ हुआ है। सहृदय पाठक इसके लिए मुझे क्षमा करेंगे। और यदि कहीं विपर्यय मर्यादा से बाहर दृष्टिगत हो तो आत्मीयता के भाव से सूचना देंगे, ताकि अगले संस्करण में सुधार दिया जाय।

मैं भाग्यशाली हूं कि मुझे अपने महामान्य बाबा गुरु के जीवन चरित्र को

लिखने का सौभाग्य मिला है। उनको गुरु पद प्राप्त हुआ था। उनसे प्रमाणित सामग्री रूप में पाया है। अत: उनके श्री चरणों में श्रद्धांजलि रखकर मैं अपने भार को हल्का समझता हूँ।

प्रस्तुत जीवन चरित्र के लिखने में सबसे बड़ी प्रेरणा मद्‌ गुरुदेव तथा सत्प्रेरक श्री रघुवरदयालजी महाराज के द्वारा मिली है। उनकी कृपा का ही यह फल है कि मैं इस विशाल कार्य को इस प्रकार पूर्ण कर सका। एक प्रकार से गुरुदेव ही इस सफलता के अधिकारी हैं।

उपाध्याय कविरत्न पं० श्री अमरचन्द्र जी महाराज का मैं हृदय से आभार मानता हूँ कि उन्होंने अवकाश न होते हुए भी अपना आवश्यक लेखन कार्य स्थगित रख कर भी प्रस्तुत जीवन चरित्र को संशोधित करने का कार्य किया। उन्होंने भाव और भाषा में वह चमत्कार पैदा कर दिया है कि जिससे पुस्तक चमक उठी है। उनकी सम्पादन कला का चमत्कार प्रत्येक पृष्ठ पर चमकता नजर आयगा। उपाध्याय श्री जी जैन समाज के माने हुए विद्वान् हैं। उनके पाण्डित्य का प्रभाव दूर दूर तक फैला हुआ है। इस पर भी इतने निरभिमान तथा स्नेह भरे हैं कि हर से हर कोई सहृदय आत्मीयता का भाव प्राप्त कर सकता है। उनकी मुझ पर विशेष कृपा रही है और है। प्रस्तुत पुस्तक के साथ उनके श्रम की जो मधुर स्मृतियाँ हैं वे कभी यह लेखक भुला नहीं सकेगा।

कुछ अन्य सहयोगी भी ऐसे हैं जिनका उल्लेख करना मैं आवश्यक समझता हूँ। पं० हरिशकुमार जी शास्त्री बी० ए० की सेवा भी स्मरणीय है। मध्यम विभाग में की गयी उनकी सेवा खास तौर से स्मरणीय है। डा० हीरालालचन्द्र जी बी० ए० ने भी प्रूफ संशोधन आदि में जो सेवा की है वह पुस्तक के इतिहास का एक खास अंग रहेगी। डा० विमलकुमार जी बी० ए० और डा० हेमसिंह जी एम० ए० की प्रकाशन सम्बन्धी सेवाओं का भी इस कम मूल्य नहीं है।

इतनी सेवा मैं कर सकता था मैंने अपनी योग्यतानुसार किया है। सीमितता के कारण भूलों का हो जाना स्वाभाविक है। उसके लिए एकमात्र क्षमा की ही है। आशा है विचारशील पाठक मेरे श्रम का मूल्य समझेंगे

और लोकमान्य श्री गणी जी महाराज के पवित्र जीवन चरित्र से शिक्षा ग्रहण करेंगे।

जीवन चरित्र महापुरुषों के,
हमें शिक्षण देते हैं।
हम भी अपना-अपना जीवन,
स्वच्छ रम्य कर सकते हैं॥

दिल्ली, सदर बाजार
कार्तिक पूर्णिमा
स० २००५

—शिवकुमार मुनि

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

जीवन-चरित्र

दूसरा खण्ड

प्रवचन

तीसरा खण्ड

प्रथम खण्ड

जी
व
न
च
रि
त्र

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

जीवन चरित्र

उदय

आकाश के विशाल रङ्ग मच पर अनेकानेक नक्षत्र समूह आते हैं और चले जाते हैं। परन्तु उनसे विश्व की प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं होता। बहुतों के सम्बन्ध में तो पता भी नहीं चलता कि वे आये भी या नहीं ? विश्व ने न उनका उदय होना जाना और न अस्त होना ही। परन्तु इन सब से विलक्षण, जब सूर्य उदय होता है, तब क्या होता है ?

पूर्व दिशा की ओर जब क्षितिज में से सूर्य देव अपना भास्वर मुख-मण्डल बाहर निकालता है तो विश्व का दृश्य कुछ और का और ही हो जाता है। रात भर के सघन अन्धकार का विशाल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है, सारा विश्व सुनहले प्रकाश से जगमगा उठता है। क्या गांव, क्या नगर, क्या उपवन, क्या जङ्गल, सब ओर एक खासी अच्छी चहल-पहल हो जाती है। क्या मनुष्य और क्या पशु पक्षी सब सोते से जाग उठते हैं,एव आलस्य की जड़ता के बन्धन को तोड़ने के लिए अगड़ाई ले कर अपने अपने कर्तव्य पथ पर जा खड़े होते हैं। यह है सूर्योदय। पहाड़ों की ऊँची चोटियों पर से, जिन लोगों को सूर्योदय सम्बन्धी सुरम्य दृश्य देखने का सौभाग्य मिला है, वे जानते हैं कि सूर्योदय, विश्व प्रकृति का कितना महान्, कितना विलक्षण चमत्कार है ?

हाँ तो मानव ससार में भी न मालूम कितने हजार प्राणी प्रति-दिन जन्म लेते हैं और मरते हैं ? कौन किस को जानता है ? यों ही आये, कुछ दिन रहे, और भोगवासना की अधेरी गलियों में ठोकरें खा कर एक दिन चले गए। जिनका हँसना-रोना प्रथम तो अपने तक सीमित रहा, और यदि आगे भी बढ़ा तो आस पास परिवार के गिने चुने लोगों तक। वे विश्व के सुख-दु ख में तदाकार होकर विश्वात्मा का महनीय विराट रूप प्राप्त न कर सके। भौतिक जगत के प्रतिनिधि चमक कर भी चमक नहीं

पाते, अन्धकार की कारा को क्षण भर के लिए भी तोड़ नहीं पाते । वे अन्धकार में से आते हैं और जाते भी अन्धकार में ही चले जाते हैं ।

परन्तु एक वे महापुरुष भी हैं जो संसार में सूर्य के समान प्रगट होते हैं । वे स्वयं अज्ञान की अन्धकारपूर्ण काली निशा की समाप्ति कर आध्यात्मिक आलोक से प्रकाशमान होते हैं एवं विश्व की सोई हुई मानवता को जगाने का महातिमहान् उत्तरदायित्व भी पूर्ण करते हैं । उनके दर्शन पाकर मानव संसार की जड़ता सहसा दूर हो जाती है समग्र जनता एक नई चेतना अनुभव करने लगती है । महापुरुष वह है जो स्वयं अज्ञान के अन्धकार से दूर रहे और भ्रान्त संसार को भी अंधकार में भटकने से बचाए । महापुरुष का जन्म सूर्योदय के समान है । मानवजगत में यह सूर्योदय भी एक महान् विलक्षण चमत्कार रखता है कौन है जो इस चमत्कार से चमत्कृत न हो ?

यहाँ मुझे एक ऐसे ही महान् आत्मा का जीवन अंकित करना है । वे एक सन्त थे संसार से विरक्त उदासीन और निस्पृह । उन्होंने संसार के भोग विलास को उजली हुई तरुणाई में ठोकर मारी और वैराग्य की कठोर राह ली । संयम जीवन में एक से एक भयंकर कठिनाइयाँ सामने आईं परन्तु उन्होंने सब कुछ हँसते-हँसते सहन किया । किसी भी विकट प्रसंग पर वे अपने स्वीकृत पथ से विचलित नहीं हुए । उनका मुनि जीवन स्वच्छ निर्मल और उज्ज्वल है । वह युग-युग तक आगे आने वाले साधकों के लिए आदर्श रहेगा मार्ग प्रदर्शक रहेगा । ऐसे महापुरुषों के जीवन की रेखाएं विश्व इतिहास की अनमोल सम्पत्ति होती हैं। यह सम्पत्ति जिस किसी भी व्यक्ति समाज धर्म और राष्ट्र को प्राप्त होती है सचमुच वह कितना अधिक भाग्यशाली होता है । जैन समाज इस महान् संत को पाकर धन्य २ हो गया ।

आज से लगभग तिरानवे वर्ष पहिले विक्रम संवत् १९१२ में वे महान् संत बालसूर्य के रूप में अवतरित हुए थे । वह युग भारत के लिए अत्यन्त अन्धकार से भरा युग था । भारत का प्राचीन गौरव छिन्न-भिन्न हो चुका था मान-मर्यादा नष्ट हो चुकी थी । अंग्रेजों की कठोर दासता के बन्धन में पड़ा हुआ देश अपनी स्वतंत्रता का भान तक खो बैठा था । सब ओर निराशा का अन्धकार घनीभूत होता जा रहा था । उस समय आवश्यकता थी ऐसे सन्त की जो व्यापक रूप से आलोक भारतीय जन जागृति पैदा

न कर सके तो कम से कम एक विशेष समाज की चिर निद्रा को तो भंग करे, उसे तो उज्ज्वल प्रकाश प्रदान करे। हमारे चरित नायक का जन्म उस युग में सचमुच जैन संसार को प्रकृति की ओर से एक महान् वरदान के रूप में प्राप्त हुआ।

चरित नायक का जन्म किसी सुप्रसिद्ध नगर में नहीं हुआ, जिसके चारों ओर इतिहास की नई पुरानी अनेक कड़ियां जुड़ी हुई हों। इतने बड़े विशाल भूमण्डल पर, और तो क्या भारत भूमि के वक्षस्थल पर भी राता गाव एक क्षुद्र बिन्दु के समान है। राता का परिचय केवल इतना ही है कि वह पहले नवाब फज्जर के राज्य में था। अंग्रेजों के आने पर नवाबी समाप्त हुई तो महाराजा नाभा को पुरस्कार के रूप में मिला। राता के भाग्य में स्वतन्त्रता का उपभोग करना कहां था? वह एक की गुलामी से दूसरे की गुलामी में चला गया। आज भी वह निजामत बावल के प्रदेश में अपनी काल यात्रा पूरी किये जा रहा है। सभव है अब कभी स्वतत्र भारत की यूनियन में उसके सुख स्वप्न पूर्ण हों।

हमारे चरित नायक ने राता गांव के एक उच्च गौड़ ब्राह्मण वश में जन्म लिया था। आपका कुल प्रतिष्ठित एव वश परपरा से उच्च मान-मर्यादा का अधिकारी रहा था। आपके पिता श्री शिवजी राम एक साधन सपन्न श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। रहने के लिये सुन्दर पक्की हवेली थी, दो चार मकान और भी आपके पास थे। सौ बीघे उपजाऊ क्षेत्र भूमि के धनी होने के नाते शिवजीराम गांव के जमींदार माने जाते थे। सस्कृत विद्या और विशेषत ज्योतिष शास्त्र का उत्तम ज्ञान वश परपरा से विरासत के रूप में मिला था, इस कारण भी शिवजीराम अपने गांव और आस-पास के गांवों में आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।

चरितनायक की माताश्री का नाम सम्पत्ति देवी था। वस्तुत वह अपने घर की सम्पत्ति देवी अर्थात् लक्ष्मी ही थी। गांव में रहते हुए भी बड़ी ही उदार, गम्भीर एव भव्य प्रकृति की नारी थी। हमारे चरित नायक कहा करते थे कि "मुझ पर पिता की अपेक्षा माता का ही अधिक प्रभाव पड़ा है। वह एक सौम्य, स्नेह मूर्ति तथा सब प्रकार से चतुर सावधान माता थी। माता का अकृत्रिम स्नेह मुझे सीमा से अधिक मिला था। मैं उन दिनों माता की छत्र-छाया में बहुत ही आनन्द विभोर रहा करता था।"

श्रद्धेय चरित्रनायक को आज के हम सब लोग गणी श्री उदय चन्द्र जी के नाम से जानते हैं। परन्तु यह उदय चन्द्र नाम इनके माता पिता का रक्खा हुआ नाम नहीं है। माता पिता ने नाम रक्खा था—"दौलतराम।" 'दौलत' नाम के पीछे माता पिता के हृदय की कितनी अधिक प्रसन्न भावना रही हुई है पाठक सहज ही कल्पना कर सकते हैं। दौलत भौतिक जगत में सुखी का प्रतीक है। हर्ष है कि यह दौलत आध्यात्मिक क्षेत्र में भी जब ध्वनित हुई तो सब ओर अपूर्व आनन्द की लहर दौड़ गई।

२

जन्म-जात ब्रह्मर्षि

मानव-जीवन के वर्तमान निर्माण में अधिकतर पूर्व जन्म के संस्कारों का निमित्त रहता है। साधारण जनता अपनी प्रगति के प्रवाह का मूल यहीं खोजना चाहती है और वह इधर-उधर के वातावरण आदि के प्रसंगों में उलझ पड़ती है। परन्तु मानव जीवन के सच्चे पारखी उसके भूत काल को टटोलते हैं, और वहीं से वर्तमान जीवन प्रवाह के मूल का निश्चय करते हैं। यही कारण है कि अत्याचारी राक्षसों के यहां जन्म लेकर भी प्रह्लाद जैसे हजारों मानव परखे हुए धर्मात्मा और सदाचारी भक्त प्रमाणित हुए हैं। और इसके विपरीत उच्च धार्मिक परिवारों में जन्म लेकर भी बहुत से दुरात्मा पापाचारी एवं अत्याचारी के रूप में विश्व के समक्ष आए हैं। ये पूर्वजन्म के संस्कार, अच्छे हों या बुरे, कभी-कभी बचपन से ही अपना विलक्षण प्रभाव दिखाना शुरू कर देते हैं।

हमारे चरित नायक बचपन से ही बड़ी गंभीर और विरक्त प्रकृति के बालक थे। साथी लड़के खेल कूद रहे हैं, लड़ झगड़ रहे हैं, शोर मचा रहे हैं, परन्तु नौबत की नौबत अलग ही कहीं बज रही है। वह नन्हासा बालक किसी गंभीर चिन्तन में डूबा-सा प्रतीत होता है। खेल कूद में, तूफान में उसे रस नहीं है। वह कहीं और ही जगह रस ले रहा है। साथी लड़के उसे खींच तानकर मण्डली में सम्मिलित करना चाहते हैं, पर वह साफ इन्कार करता है और व्यर्थ के तूफान मचाने को घृणा की दृष्टि से देखता है।

जब कभी अवसर मिलता है, वह आस पास के जंगल में चला जाता है और घण्टों वृक्षों के सघन झुरमुटों में घूमता रहता है। प्रारम्भ से ही उसे एकान्तवास इतना प्रिय है कि घर के माता पिता और अन्य बड़े-बूढ़े आश्चर्य करने लगते हैं। बाल मस्तिष्क से जब कभी वृद्धों जैसे सुलझे हुए गंभीर विचार निकलते हैं तो सुनने वाले सहसा चकित से हो उठते हैं।

गांव में वैष्णव साधु-संतों का आगमन अधिक रहता था। गांव के लोग श्रद्धालु थे और जहां श्रद्धा एवं भक्ति भावना होती है वहीं साधु सन्तों का केन्द्र होता है। बालक जीवनराज के लिये साधुओं का आना उत्सव हो जाता था। जब भी कोई साधु आता, दूर हो या निकट जीवन पहुंच ही जाता और आधी आधी रात गये तक उनके सत्संग में बैठा रहता। हमारे चरित नायक को बचपन में ही कबीर और दादू आदि वैष्णव संतों की सैकड़ों साखियां कंठस्थ हो गई थीं।

पण्डित शिवरामजी अपने प्रिय पुत्र की इन चेष्टाओं को सूक्ष्म दृष्टि से देख रहे थे। वे अत्यधिक करके भी कल्पना नहीं कर पा रहे थे कि पुत्र का भविष्य किस दिशा की ओर जाने वाला है। मैं पहिले बता चुका हूँ कि हमारे चरित नायक के पिता संस्कृत और ज्योतिष विद्या के अपने प्रदेश में माने हुए पण्डित थे। उन्होंने अपने पुत्र के भविष्य की जानकारी के लिए ज्योतिष का अवलम्बन लिया। ज्योंही जीवन की जन्मपत्रिका के ग्रह गोचर का फलादेश मालूम करने लगे उनका माथा ठनक गया। उन्हें मालूम हुआ कि जीवन एक साधारण ब्राह्मण न रह कर महर्षि बनने के संस्कार लेकर आया है। उनकी आशाएं धुंधली होने लगीं। उन्हें अपने पुत्र का भविष्य सुन्दर होते हुए भी अपने लिए असुन्दर मालूम हुआ। वे सहसा गहरी चिंता में निमग्न हो गए।

सौभाग्यवती सम्पत्तिदेवी ने यह दशा देखी तो वह स्तंभित सी हो गई। उसका मन समझ न सका कि आखिर जन्म पत्रिका में चिन्ता की क्या बात है? उसने हृदय में साहस बटोर कर पूछा कि "क्या बात है? चिन्ता में क्यों पड़ गए? मेरे जीवन का जीव योग तो अच्छा है न?" शिवजीराम ने कहा—"जीवयोग तो अच्छा है। परन्तु यहां तो कुछ और ही प्रभु की माया प्रबल बनने वाली है। जीवन की जन्म कुण्डली में तो ऋषि होने का योग पड़ा है। इसके महान् भविष्य से हमारा घर कुछ भी लाभ न उठा सकेगा। देख नहीं रही हो अब भी जीवन किन संस्कारों में बहा जा रहा है। यह घर की अपेक्षा साधु सन्तों की सत्संगति में अधिक रस लेता है। हमारे लिए यह खतरे की घण्टी है।

माता सम्पत्ति देवी के कोमल हृदय को एक बार तो इस चर्चा से मर्मभेदी चोट पहुंची। माता आखिर माता है। वह अपने पुत्र के उज्ज्वल भविष्य सम्बन्धी सुनहले स्वप्नों से सदा घिरी रहती है। अतः

कौन ऐसी माता है, जो अपने पुत्र के सुन्दर भविष्य को इस प्रकार भिक्षु जीवन में परिवर्तित होने की कल्पना को सहसा सहन कर सके? हमारे चरित नायक की माता को भी उपर्युक्त भविष्यवाणी से धक्का लगा। परन्तु वह एक गंभीर और धीर प्रकृति की माता थी। बहुत शीघ्र ही संभल गई और कहने लगी कि "आप क्यों चिन्ता करते हैं? जो होनहार है वह होकर रहेगी। हम तुम इस नियति के विधान में क्या उलट फेर कर सकते हैं? मुझे तो कोई चिन्ता नहीं है। मेरा नौबत कहीं भी रहे, कुछ भी बने, बस आनन्द से रहे। मुझे तो इसका जीव जोग अच्छा चाहिए और कुछ नहीं। यह तो प्रह्लाद के समान बचपन में ही प्रभु-भक्ति का मार्ग अपनाये हुए है। अब कौन सा यह ऋषि से कम है। मैं देखती हू, नौबत की हर बात और चेष्टा हर में साधु सन्तों एवं ऋषि मुनियों की गन्ध आती है। उस दिन वह साधू आया था और नौबत को अपना चेला बनाने के लिए मुझ से मांग रहा था। नौबत ने भी आग्रह करते हुए कहा था कि हाँ, माँ दे दो, मैं साधू बनूंगा। मैंने उस समय कुछ ध्यान नहीं दिया। पर अब समझती हूं, कहीं बात सच न निकले?"

पण्डित शिवजीरामजी अब अपने पुत्र की ओर विशेष ध्यान रखने लगे हैं। उसे इधर-उधर कहीं आने जाने नहीं देते, अपने पास ही रखते हैं। हिन्दी और संस्कृत का अध्ययन कराते हैं। नौबत एक मेधावी बालक है। वह पढ़ने में खूब रस लेता है, चिंतन करता है। पिता अपने पुत्र की प्रगति को देख कर जहां एक ओर प्रसन्नता अनुभव करते हैं, वहां दूसरी ओर अन्दर ही अन्दर कभी कभी खिन्नता भी अनुभव करते हैं कि कहीं मेरे ये सब प्रयत्न निष्फल तो नहीं जायगे? जन्म पत्री के ग्रहयोग, उन्हें कुछ और ही रहस्यपूर्ण संकेत करते हैं, जिनके लिए वह पितृ हृदय अभी किसी भी दशा में तैयार नहीं है। अपने वंशपरम्परागत आस्तिक भावना के कारण, वह उन संकेतों को सत्य भी मानता है, फिर भी उन्हें बदल डालना चाहता है। यह है मानव जीवन की परिभाषा, चाहे आप इसे दुर्बलता कहें या सबलता, पर है यह अवश्य। सब कुछ जानकर भी मनुष्य अपने से प्रतिकूल बहते हुए घटना-प्रवाह को अपने अनुकूल बनाने की आकांक्षा में उलझा रहता है।

: १ :

सत्य के द्वार पर

दिल्ली को भारत की राजधानी होने का गौरव प्राप्त है। दिल्ली का इतिहास आजकल का नहीं है इस की कड़ियाँ महाभारत के महान् ऐतिहासिक युग को स्पर्श करती हैं। महाभारत-काल से लेकर आज तक भारतीय इतिहास में दिल्ली का प्रमुख स्थान रहा है। सभ्यता के अनेकों उतार-चढ़ाव इस ने देखे हैं। बड़े-बड़े सम्राटों की सुख-दुःख भरी जीवन-कहानियाँ दिल्ली के इतिहास में गुंथी हुई हैं। दिल्ली के आस पास के अनेक खण्डहर और ऐतिहासिक इमारतें भारतीय इतिहास के वे स्वर्ण पृष्ठ हैं जिन में मानव जीवन की आशा निराशा का अमर रहस्य अंकित रहा है।

महाभारत काल में दिल्ली का नाम इन्द्रप्रस्थ था। कहते हैं दिल्ली की शोभा को निरखने के लिए इन्द्र भी आकाश लोक से आता जाता सहसा चला ही आता था। वह था दिल्ली का वैभव जो जनता की किंवदन्तियों में इस प्रकार फैला हुआ था। आज वह युग नहीं है। फिर भी शताब्दियों की दासता के बन्धन से मुक्त होने के पश्चात् दिल्ली को ही स्वतंत्र भारत की राजधानी होने का महनीय गौरव प्राप्त हुआ है।

हाँ तो हमारे चरितनायक को भी बाल और तरुण अवस्था के मध्यकाल को दिल्ली में बिताने का सौभाग्य मिला है। किसी दिन दिल्ली उन के लिए भी आकर्षण की चीज थी। दिल्ली आने और वहाँ रहने की बात को सुन कर उन का बाल-हृदय भी एक बार मचल उठता था।

दिल्ली में लाला पन्नालाल जी एक प्रतिष्ठित ओसवाल वणिक थे। आप के दो भाई और थे लाला प्यारे लाल जी बड़े और लाला हीरा लाल जी छोटे। तीनों ही बन्धुओं को जैन धर्म के प्रति असीम श्रद्धा तथा सद्भावना थी। उपाश्रय में जाकर नित्य प्रति सामायिक करना, मुनिराज पधारे हुए हों तो व्याख्यान सुनना कोई भी धर्म-कार्य हो उसमें रसपूर्वक उचित भाग लेना, आप कभी भूलते न थे। ला० पन्नालाल जी हमारे चरित नायक के

पिता श्री के परिचित मित्र थे। अतः चरित नायक जी को लाला जी की अभिभावकता में नागरिक शिक्षा और संस्कार पाने के लिए दिल्ली में रक्खा गया।

पिता ने सोचा था कि "राता एक साधारण सा गाँव है। यहाँ जीवन कोई विशेष प्रगतिशाली जीवन नहीं बन सकता। दिल्ली प्रसिद्ध शहर है, हिन्दुस्तान का दिल है। अतः वहाँ जीवन-समृद्धि के साधन अधिक हैं। दूसरे यहाँ साधु-सतों का आना अधिक है। जीवन इनके पास जाने से नहीं हटता। दिल्ली में रहेगा तो इस झंझट से भी छुटकारा पा जायगा। शहरों में इन बाबा फकीरों को कौन पूछता है?" परन्तु भोले पिता को क्या पता था कि वह पुत्र को जिस लक्ष्य से हटाना चाहता है, वहीं पहुँचा रहा है? दिल्ली में वैराग्य के संस्कार कम न होकर और अधिक तीव्र होंगे? मैं जो यह अपने पुत्र को पास रखने के लिए दूर कर रहा हूँ कहीं दूर ही न रह जाये?

लाला पन्नालाल जी के पास रह कर हमारे चरित नायक जी के धार्मिक संस्कारों को और अधिक वेग मिला। बचपन से ऊपर उठते हुए जहां दिल्ली में लौकिक जीवन से सम्बन्धित जागृति पैदा हुई वहां आध्यात्मिक जागृति का भी वास्तविक रूप निखरा। अपने गाँव में धार्मिक भावना इने-गिने मिथ्या विश्वासों और असंस्कृत साधु वर्ग तक ही सीमित थी। अब वह तर्क का वास्तविक रूप लेकर शुद्ध सत्य की ओर मुड़ने लगी।

ला० पन्नालाल जी के देवीदयाल नामक एक चाचा थे। उनकी बड़े दरीबे में पगड़ियों की दूकान थी और एक अच्छा खासा कारोबार चल रहा था। जहाँ धन बढ़ता है वहाँ प्रायः धर्म को जगह मिलनी कठिन हो जाती है। परन्तु यहाँ उल्टा मार्ग था। ज्यों-ज्यों धन बढ़ता था, त्यों-त्यों धर्म-भावना और भी अधिक बढ़ती जा रही थी। ये बड़े ही साधु भक्त, सरल एवं निश्छल धार्मिक पुरुष थे। चरितनायक कहा करते थे कि "जब मैं उनके सम्पर्क में आया तो मेरी जीवन-दिशा ही बदल गई। पहिले मैं ब्राह्मण और वैष्णव धर्म का अभिमानी होने के कारण जैन धर्म से अलग सा रहा। परन्तु देवीदयाल जी के उच्च विचार, पवित्र आचार, दयाभावना से भरा हुआ हृदय, व्यापार आदि में भी सत्य का आग्रह-कुछ ऐसे गुण थे, जिन्होंने मुझे जैन धर्म की ओर सहसा खींच लिया। मैं देवीदयालजी के साथ उपाश्रय में जाने लगा, जैन मुनियों के सम्पर्क में आने लगा। जैन साधुओं के निष्कलंक धार्मिक जीवन को देख कर मेरा हृदय उनके प्रति श्रद्धा से भर गया। मेरे मन ने कहा—साधु तो ये हैं। अब तक तो मैं चन्दन के भ्रम में कँटीले झाड़ों में ही उलझा हुआ था।"

यह सम्यक्त्व के बीजारोपण की कहानी है । इसका सीधा प्रकाश चरित नायक जी को जब मिला तो उन्होंने इसे ग्रहण करने में आनाकानी नहीं की । चरित नायक जी प्रारंभ से ही गंभीर एवं चिन्तनशील प्रकृति के स्वामी थे । उन्होंने पूर्व जन्म के उच्च संस्कारों द्वारा विलक्षण प्रतिभा प्राप्त की थी । अतएव उनके बुद्धिवादी हृदय को जैन धर्म के तर्क-संगत विचारों ने अधिक सन्तुष्ट किया । जैन धर्म जहां आचार प्रधान धर्म है, वहाँ उच्च कोटि का विचार प्रधान धर्म भी है । यह मनुष्य की प्रतिभा और तर्क बुद्धि को पंगु नहीं बनाता । प्रत्युत उसे और अधिक वेग प्रदान करता है । यही कारण है कि जैन धर्म को समझने में जहाँ साधारण प्रतिभा के स्वामी असफल हो जाते हैं वहाँ विशेष प्रतिभाशाली सज्जन बहुत शीघ्र सफलता प्राप्त कर लेते हैं ।

हमारे चरित नायक प्रारंभ से ही तर्क बुद्धि के धनी रहे हैं अतः उन्हें जैन धर्म के प्रति शीघ्र ही विशेष लगाव हो गया । बुद्धि तीव्र थी कुछ ही दिनों में सामायिक के पाठ कंठस्थ कर लिए और लाला देवीदयालजी के साथ स्वयं भी नित्य प्रति सामायिक करने लगे ।

गणीजी श्री कहा करते थे कि 'ला. पन्नालाल और देवीदयालजी बड़े ही उदार विचारों के धनी थे । मैं उनके यहाँ उनके परिवार का अंग बन कर ही रहा । किसी भी प्रकार का द्वैत भाव एवं वस्त्र आदि में मुझ से नहीं रखा गया । जहाँ भी कोई उत्सव होता मुझे साथ ले जाते और अपने लड़कों के समान मेरे को भी रुपये-पैसे खर्च करने के लिए मुक्त कर दे दिए जाते । मैंने वहाँ रहते हुए कभी परायापन अनुभव नहीं किया । गणीजी श्री के जीवन चरित के पाठक उन्हीं के शब्दों में पढ़ सकते हैं कि जैन धर्मावलम्बी सच्चे श्रावक का क्या कर्तव्य होता है ? उस हृदय का कितना उदार और विशाल होना चाहिये । जो व्यक्ति अपनी जाति का नहीं अपने धर्म का नहीं गाँव का रहने वाला वह भी साधारण स्थिति का ब्राह्मण कुमार परन्तु उसके प्रति भी कितनी ममता, कितनी स्नेह-भावना । जैन संस्कृति का मर्म इसी स्नेह भावना में रहा हुआ है । आपके घर पर रह कर यदि किसी ने आप की हरकतों से परायापन अनुभव किया तो क्या आप जैन संस्कृति की उपासना की ? सच्चे जैन धर्म का काम विभिन्न मानव हृदयों को मानवता की भावना से आपस में जोड़ने के लिए है न कि तोड़ने के लिए । जिसने यह जोड़ सीखा समझो उसने जैन धर्म की आत्मा को पा लिया ।

: ४ :

मुमुक्षु श्रोता

दिल्ली का प्रवास आनन्दपूर्वक हो रहा था। लौकिक और लोकोत्तर दोनों ही प्रकार के जीवन पथ की यात्रा के लिए चरित नायक जी को दिल्ली का प्रवास अत्यन्त अनुकूल सिद्ध हुआ। वे दिल्ली में आकर जहाँ नागरिकता की दृष्टि से व्यवहारदक्ष बने, वहाँ आध्यात्मिक जीवन की पवित्रता के दर्शन पा कर भी कृतार्थ हुए।

संसार में जितने भी चमत्कार हैं, उनमें सब से बढ़ कर चमत्कार मनुष्य के अपने भाग्य का है। भाग्यशाली आत्मा को एक-से-एक सुन्दर अवसर प्राप्त होते हैं, जिनको पाकर वह अपना अभीष्ट जीवन निर्माण कर सकता है। मनुष्य को संकल्प भी नहीं होता और उसका भाग्य सहसा उसे किसी महान आदर्श पर पहुँचा देता है। हमारे चरित नायक भी बड़े भाग्यशाली थे। उनका भाग्य, वे जहाँ भी रहे या गए, वहीं एक से-एक बढ़ कर विलक्षण चमत्कार दिखाता रहा।

दिल्ली में रहते चरित नायक जी को पाँचवाँ वर्ष चल रहा था। विक्रम संवत् १९३९ में मारवाड़ी पूज्य श्री कचौड़ी मल जी महाराज की सम्प्रदाय के साधुओं का चातुर्मास दिल्ली में लाला पन्ना लाल जी के मकान में हुआ। यह चातुर्मास बड़ा ही प्रभावशाली एवं धर्म भावना की वृद्धि करने वाला था। मुनि-मण्डली में एक महान तपस्वी भी थे जिन्हों ने ३५ उपवासों का लम्बा तपश्चरण किया। चरित नायक के समक्ष इतने लम्बे उपवासों की तप साधना बिलकुल नई चीज थी। उनका भावुक हृदय बहुत प्रभावित हुआ। और जब प्रवक्ता मुनि ने व्याख्यान में श्री जम्बू स्वामी जी का जीवन चरित्र सुनाया तो वैराग्य का सागर हिलोरें लेने लगा। संसार के भोग-विलास तुच्छ एवं नगण्य मालूम देने लगे। हमारे चरित नायक में भी एक महान विरक्त आत्मा का अस्तित्व था। परन्तु वह अब तक सोई हुई थी। जम्बू कुमार के आदर्श जीवन ने मानों उसे झकझोड़ कर जगा दिया।

प्रबुद्ध आत्माओं के लिए साधारण सा संकेत ही दिशा सूचन कर जाता है। आत्मज्ञान होने वाला होता है तो वह मामूली घटना से भी हो जाता है। और यदि नहीं होने वाला हो तो अनन्तानन्त काल गुजर जाता है पारस देखते कुछ नहीं होता। भरतखण्ड के आदि सम्राट् भरत चक्रवर्ती को कौन जानता था कि ये भी कभी इतने बड़े विशाल वैभव को त्याग कर वैराग्य का पथ अपनायेंगे ! शीश महल में गए थे भोग-पूर्ति के लिए पर ज्यों ही रत्न जटित सुनहली अंगूठी से शून्य अपनी भद्दी अंगुली को देखा तो जीवन दिशा बदल गई। महल से ऐसे निकले मानों काले बादलों के कारागृह से निर्मल चन्द्रमा बाहर निकल आया हो। अनित्य भावना के प्रचण्ड पवन के धक्के से भोगवासना के काले बादल मुहूर्त भर में इधर उधर बिखर गए। इधर आत्मा में केवल ज्ञान का महान् प्रकाश जगमगाया और उधर आकाश में देव दुन्दुभियाँ गड़-गड़ाईं। संसार आश्चर्य की मुद्रा में चकित-सा विस्मित सा अभिभूत सा रह गया। आत्मा में योग्यता हो तो किसी भी निमित्त कारण को पाकर वह कर्तव्य-पथ पर कटिबद्ध हो जाती है।

श्री जम्बू स्वामी जी का जीवन सुनने वाले सैकड़ों ही श्रोता थे परन्तु उनमें हमारे चरित नायक ही ऐसे थे जिनको वैराग्य का स्पर्श हो गया। पूर्वजन्म के संस्कारों से भूमिका तैयार थी ज्यों ही बीज पड़ा वह अंकुरित हो उठा। दिन रात जम्बू ही जम्बू। कितने महान त्यागी थे वे ! यौवन की उन्मत्त दशा में भी इतनी विलक्षण वैराग्य-भावना। भोगविलास की विपुल सामग्री अनायास उपलब्ध थी फिर भी ठोकर मार दी। वह भी मुमुक्षा ही एक तत्त्व था। उस केसरी सिंह को माया के पिंजरे में डालने का कितना प्रयास किया गया परन्तु वह सच्चा सिंह था बिलकुल नहीं फँसा। क्या मैं व्यर्थ ही माया के जाल में फँस जाऊँगा ? यों ही जीवनभर वासना की पूर्ति के लिए दर-दर की ठोकरें खाता फिरूँगा ? नहीं यह कदापि नहीं होगा। मेरा आदर्श जम्बू कुमार है। मैं उसी के पथ का यात्री बनूँगा। अब तक मेरी जीवन नौका लक्ष्य-शून्य थी इस अन्धकाराच्छन्न संसार सागर में कहीं किनारा न पा रही थी। परन्तु अब तो मुझे जम्बू कुमार के त्यागी जीवन का प्रकाशस्तंभ प्राप्त हो गया है। यदि मैं इस महान् प्रकाशस्तंभ का दर्शन पा-कर भी अपनी जीवन नौका को इधर उधर समुद्र में ही भटकाता रहा अन्त पर न ले जा सका, पार न पहुँचा सका तो मुझ जैसा मूर्ख और कौन होगा ? मनुष्य अन्धकार में तो भटक सकता है परन्तु प्रकाश में ? प्रकाश में नहीं

भटक सकता। यदि प्रकाश पाने पर भी भटके तो फिर उसके उद्धार का प्रश्न हल होना कठिन है, सर्वथा असंभव है।" हमारे चरित नायक इन दिनों वैराग्य-भावना की इसी प्रचण्ड वेगवती धारा में बहने लगे थे। जब कभी एकान्त पाते, चिन्तन में उतर जाते। बैठे हुए घंटों गुजर जाते, उन्हें पता ही न लगता कि समय कहाँ से कहाँ छलांग लगा गया है।

चरित नायक ने अपने विचार लाला पन्नालाल जी के समक्ष प्रगट किये। उन्होंने कहा—"रहने दो इन बातों को। तुम अभी बच्चे हो, अक्ल के कच्चे। साधुता का मार्ग बड़ा कठिन है। मालूम होता है तुम इसे फूलों का मार्ग समझ रहे हो। यह फूलों का मार्ग नहीं है, यह है तलवार की नंगी धार पर चलने का मार्ग। दूसरी बात यह है कि तुम मेरे मित्र के पुत्र हो। मेरे पास लोक-व्यवहार की शिक्षा लेने आए हो, वैराग्य लेने नहीं। तुम्हारा पिता मुझे क्या कहेगा? मैं अपने मित्र की धरोहर को इस प्रकार गँवा कर बदनाम नहीं होना चाहता। तुम भाग्यशाली हो कि तुम्हें जैन धर्म पर श्रद्धा हुई है। मेरा निमित्त पाकर तुम्हारे पूर्व जन्म के शुभ संस्कार जागृत हो उठे, इसके लिए मुझे अपार हर्ष है। परन्तु मैं साधु नहीं होने दूँगा। गृहस्थ में रहो, जितना धर्माचरण कर सको, करो। तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने दूँगा।" लाला पन्नालाल जी को चरित नायक जी पिता के रूप में देखते थे। उनका सरल स्नेह पिता से किसी प्रकार भी कम न था। अतएव उन से अधिक संघर्ष करना उचित न समझा, समय की प्रतीक्षा की जाने लगी।

चातुर्मास समाप्त हो चुका था, मारवाड़ी मुनिराजों ने अलवर की ओर विहार किया। चरित नायक उन्हें बहुत दूर तक छोड़ने के लिए गए। मंगल पाठ सुन कर जब लौटने लगे तो आपने बड़े मुनिजी से अपने हृदय की बात कही। मुनि जी ने आपकी बात को गंभीरता से सुना और कहा—"अभी शीघ्रता न करो। यह तुम्हारे आत्म निरीक्षण का समय है। जितनी भी गहराई से अपने आपको टटोल सको, टटोलो। अपनी दुर्बलता और सबलता की सूक्ष्म दृष्टि से जाँच करो। अभी समय नहीं आया है। जब आएगा, विचार करेंगे।"

५

भीष्म प्रतिज्ञा

श्रद्धेय गंभीर मल जी महाराज वस्तुतः गंभीरमल जी ही थे। आपकी प्रकृति आप की साधुता एवं आपकी प्रतिभा बहुत ही उच्च तथा गंभीर थी। आप किसी भी स्थिति में विकट से-विकट परिस्थिति में भी घबराना नहीं जानते थे। चाहे कोई अमीर हो या गरीब वृद्ध हो या तरुण हर किसी से बड़े प्रेम भाव से बातें करना और सत्य सिद्धान्त समझाना आप अपना कर्तव्य समझते थे।

विक्रम संवत् १९७ में श्री गंभीरमल जी महाराज का देहली में चातुर्मास था। आप संसारी अवस्था में देहली के ही रहने वाले एक प्रतिष्ठित जौहरी थे। अतः आपका चातुर्मास बड़े आग्रह से कराया गया था और इस चातुर्मास में धर्म ध्यान का ठाठ भी खूब रहा था। हमारे चरित नायक जी को भी आपके परिचय में आने का सौभाग्य मिला।

चरित नायक जी कहा करते थे कि बाबा महाराज श्री के बाद पर मैं स्वतंत्र था मुझे किसी विशेष कार्य की नियुक्ति का बन्धन नहीं था। मैं जब भी चाहता महाराजश्री के पास पहुँच जाता और ज्ञान ध्यान सीखता रहता। महाराजश्री की स्नेहशील प्रकृति ने मुझे मोह-सा लिया। दिन में दस-दस और कभी-कभी बीस-बीस चक्कर लगते थे। जब देखो तब महाराजश्री के पास उपाश्रय में। मेरी जीवन स्मृति पर उनकी अपार करुणाभाव की अब भी अमिट छाप है।"

चरितनायक जी ने एक बार उन से भी श्री जम्बू कुमार स्वामी का जीवन चरित सुनने की अभिलाषा प्रगट की। महाराजश्री ने अपने स्नेही भक्त की बात को बहुमान दे कर श्री जम्बूस्वामी का जीवन सुनाया। एक ओर तो श्री जम्बू स्वामी का जीवन ही वैराग्य रस से भरा हुआ और दूसरी ओर वर्णन करने की शैली भी श्रोता के हृदय को स्पर्श करती हुई सोने में सुगन्ध पैदा हो गई। चरितनायक पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि अब की बार

उन्होंने बन्धन तोड़ने का दृढ़ निश्चय कर लिया ! प्रथम चातुर्मास से जला हुआ वैराग्य दीपक बुझा नहीं था। वह बाहर से शान्त था परन्तु अन्दर-ही-अन्दर जल रहा था। दूसरी बार, ज्यों ही श्री जम्बू स्वामी का जीवन सुना तो वह और अधिक प्रदीप्त हो उठा। अपने जीवन लक्ष्य को निश्चित करने के लिए श्री जम्बू स्वामी के जीवन चरित्र ने बहुत बड़ा काम किया। चरितनायक के एक अज्ञात संसारी प्राणी के जीवन को वैराग्य की अमर ज्योति प्रदान करने में, यदि कह सकें तो एक मात्र जम्बू कुमार का जीवन ही निमित्त कारण बना। जम्बू, तुम धन्य हो ! तुमतो स्वर्गोपम वैभव को ठोकर मार कर एक दिन वैराग्यमूर्ति जैन मुनि बने ही थे, परन्तु तुम्हारा अमर जीवन भी कुछ कम नहीं है। वह भी ढाई हजार वर्ष से भोगविलास के गहन अन्धकार में भटकने वाले पामर ससारी जीवों को वैराग्य का, संयम जीवन का अमर प्रकाश दे रहा है। तुम्हारे जीवन ने ही हमें श्रद्धेय गणी श्री उदयचन्द्र जी महाराज जैसे आदर्श मुनि अर्पण किए, जिनको पाकर जैन संसार कृतार्थ हो गया। हे साधकों के अन्तर्हृदय के अमर देवता ! तुम्हारे चरण कमलों में कोटि-कोटि बार प्रणाम !

चरित नायक केवल सुनने के लिए श्रोता नहीं थे, वे जीवन बनाने वाले श्रोता थे। जम्बूकुमार स्वामी का जीवन चरित्र जिस दिन पूर्ण हुआ तो जैन साधुओं की परपरा के अनुसार श्री गंभीरमल जी महाराज ने कहा—'नौबत, कथा सुनने की कुछ भेंट चढ़ाओ !' चरित नायक हाथ जोड़ कर खड़े हो गए, कहिए महाराज, क्या भेंट लाऊँ !

तू जानता है, जैन साधुओं को क्या भेंट चाहिए। रुपया पैसा नहीं, यहाँ तो कोई नियम प्रत्याख्यान लेना चाहिए।"

"अच्छा तो कौन सा नियम, प्रत्याख्यान ?"

"मैं नहीं बताता, जो तुम ठीक समझो और पालन कर सको। नियम के लिए साधक को अपनी योग्यता देखनी है, किसी का कहना सुनना नहीं।"

"महाराज, इसमें कहने और आग्रह करने की क्या बात है। मैं अन्तर्हृदय से बोल रहा हूँ, आज मेरी आत्मा सब कुछ करने को तैयार है। जम्बूकुमार का जीवन रेंग रेंग कर मार्ग तय करना नहीं सिखाता, किन्तु एक छलांग में ही हिमालय की चोटियों को लाँघना सिखाता है।"

"यह बात तो ठीक है। बताओ, जम्बू स्वामी के चरणों में क्या भेंट अर्पण करना चाहते हो ?"

'जम्बू स्वामी के जीवन का अमर आदर्श ही नियम स्वरूप उनके पवित्र चरणों की भेंट हो सकती है।'

स्पष्ट कहो क्या अभिप्राय है?

"मैं आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना चाहता हूँ। मैं अभी अविवाहित हूँ। विवाह न कराऊँगा भोगवासना को दूर-दूर से अलग रख कर आदर्श ब्रह्मचारी का जीवन बिताऊँगा।

'सोच विचार कर काम करो। ब्रह्मचर्य का पालन कुछ साधारण बात नहीं है। तुम अभी तरुण हो जीवन का विशाल मार्ग तुम्हारी आँखों के सामने है। क्या-क्या संकट फिर आएँगे तुम्हें कुछ पता है? मनोविकारों के भयंकर तूफानों का सामना करने की क्षमता तुम में है?

महाराज दृढ़निश्चयी आत्मा सब कुछ कर सकती है। जम्बू कुमार भी तो एक दिन तरुण ही थे, संसारी प्राणी ही थे। यदि वे इस कठोर आदर्श पर चल सके तो मैं क्यों नहीं चल सकता? यह ठीक है विकारों पर विजय प्राप्त करना कोई आसान काम नहीं है। परन्तु आखिर विजय पाने वाले मनुष्य ही तो हैं और तो कोई नहीं। भगवन! मुझे दुर्बलता की ओर मत धकेलिए, मुझे सबल बनाइए सबल।

मैं तुम्हें दुर्बल नहीं बनाता स ब बनाता हूँ। यह सारे जीवन का प्रश्न है। जैन धर्म प्रतिज्ञा न लेने वाले को तो पापी ही कहता है परन्तु जो प्रतिज्ञा ले कर भंग कर देता है उसे महा पापी कहता है।

'भगवन्! मैं महापापी नहीं बनूँगा। मैं अपने मन से निरन्तर एक वर्ष से बातें कर रहा हूँ। यह भावना आज से नहीं एक वर्ष से है। बहुत सोच-विचार के बाद चिन्तन-मनन के पश्चात् मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ। मैं विकारों का दास नहीं उनका विजेता बनना चाहता हूँ। मैं जहाँ पहुँचना चाहता हूँ उसके लिए यह भूमिका है। मुझे आगे बढ़ना है वहीं नहीं रुकना है।

क्या तुम मुनि बनोगे संयम लोगे?'

हाँ महाराज! विचार तो ऐसा ही है।'

"तब तो ठीक है। सँभल कर रहना। मार्ग में बाधाएँ आवेंगी तुम्हें उन को साहस के साथ पार करना पड़ेगा। तुम्हारा संकल्प पवित्र है। जम्बू के उत्तराधिकारी! तुम्हारी जीवन-यात्रा प्रशस्त हो।"

चरितनायक के अत्यन्त आग्रह करने पर, श्री गभीरमल जी महाराज ने, आजीवन ब्रह्मचारी रहने का घोर नियम करा दिया। नियम कराने के बाद ब्रह्मचर्य सम्बन्धी गंभीर उपदेश भी दिया। मुनिश्री जी ने जैन शास्त्रानुसार नव बाड़ ब्रह्मचर्य की भी सिखाई और ब्रह्मचारी को अपना जीवन, रहन सहन कैसा बनाना चाहिए, यह भी बताया।

यौवन के सिंहद्वार पर ब्रह्मचर्य का नियम धारण करना बड़ा ही वीरतापूर्ण कार्य है। इसके लिए असीम आत्मबल की अपेक्षा होती है। दुर्बल साधक ब्रह्मचर्य के दुर्गम पथ पर यात्रा नहीं कर सकता। इस सम्बन्ध में योगिराज भर्तृहरि ने विश्व के वीरों को चुनौती देते हुए कहा है—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूरा,
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षा।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरत प्रसह्य,
कन्दर्प-दर्प-दलने विरला मनुष्या॥

अर्थात् भूमण्डल पर वे भी शूरवीर हैं जो मदमत्त गजराजों के कुम्भस्थल का दलन कर सकते हैं। ससार में उन वीरों की भी कमी नहीं है जो भयकर सिंहों को मारने की कला में भी दक्ष हैं। किन्तु मैं इन सब वीरों को एक चुनौती देता हूँ कि काम वासना पर विजय प्राप्त करने वाले विरले ही भाग्यशाली आत्मा हैं।

हमारे चरितनायक का आत्मबल देखिए कि उन्होंने उठती हुई तरुणाई में आजीवन ब्रह्मचर्य की भीष्म-प्रतिज्ञा ग्रहण की। केवल ग्रहण ही नहीं की, आजीवन निर्मल भाव से सफलता के साथ पालन भी की। उस दिन से ले कर जीवन की अन्तिम घड़ियों तक इतने लबे जीवन में कहीं भी ठोकर नहीं खाई।

महाभारत काल में पितामह भीष्म ने भी यह प्रतिज्ञा ली थी। वे भी राजकुमार थे, तरुण थे। उनके सामने भी एक ओर ससार के भोग विलास थे, प्रलोभन थे, तो दूसरी ओर पिता की इच्छा पूर्ति के लिए ब्रह्मचर्य का महान् प्रण था। उन्होंने अपनी काम वासना को जोर की ठोकर लगाई और आजीवन ब्रह्मचारी रहने की भीष्म प्रतिज्ञा ग्रहण की। उनका मूल नाम देवव्रत था। आजीवन ब्रह्मचर्य की भीष्म प्रतिज्ञा ग्रहण करने के कारण ही ससार में भीष्म के नाम से प्रसिद्ध हुए। हमारे चरित नायक के समक्ष पिता की इच्छा पूर्ति या और कोई मजबूरी की बात नहीं थी। उन्होंने आत्म कल्याण के लिए ही

स्वतन्त्र भावना से यह घोर व्रत लिया और जीवन भर पालन किया। हमारे चरित नायक का आदर्श पितामह भीष्म के आदर्श से भी ऊँचा रहा। भीष्म ब्रह्मचर्य की भूमिका से आगे नहीं बढ़ सके किन्तु चरित नायक संयम की कठोर साधना के पथ पर किस प्रकार प्रखर गति से अग्रसर हुए, यह आगे के पृष्ठों में देख सकते हैं।

६

गुरुदेव के चरणों में

विवाह न कराके आजीवन ब्रह्मचारी रहने की बात जब लाला पन्नालाल जी को मालूम हुई तो वे बड़े असमंजस में पड़े। उन्होंने देखा— "नौबत अपने पिता के निर्धारित संकल्पों से बहुत दूर जा रहा है। पिता ने इसको मेरे यहां कुछ और बनाने के लिए छोड़ा था और यह बनता जा रहा है कुछ और ही। यदि मैं नौबत के पिता को सूचना न दूं, चुपचाप ही रहूँ तो अपने कर्तव्य पालन से भ्रष्ट हो जाऊँगा। यह तो एक प्रकार का विश्वासघात होगा।"

राता सूचना दे दी गई। चरितनायक के ससारी मामा रामसुखदासजी राता गाँव में ही रहते थे। प० शिवजीराम ने उनको दिल्ली भेजा कि नौबत को शीघ्र ही यहां ले आएँ। रामसुखदास जी ने आकर चरितनायक जी की जीवन चर्या देखी तो हैरान हो गए। बिल्कुल साधु का सा जीवन। सब ओर सयम का वायु-मण्डल। पत्र से उन्होंने जिस स्थिति की कल्पना की थी, आखों के सामने प्रत्यक्ष उससे भी कहीं अधिक विकट था।

रामसुखजी ने प्रेम से समझाना शुरू किया, किन्तु कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जन्मभूमि राता चलने का आग्रह किया गया, साफ इन्कार मिल गया। रामसुख जी दुविधा में थे कि क्या करें और क्या न करें? नौबत, पुराना राता गाँव वाला नौबत नहीं था, अब वह बदल चुका था।

अन्ततोगत्वा ला० पन्नालाल जी से परामर्श किया गया। उन्होंने समझा-बुझाकर पिता के पास जाने के लिए तैयार किया। ला० पन्नालालजी चतुर एव व्यवहार प्रधान आदमी थे। उनका कहना था कि—"इस प्रकार रहने से कैसे काम चलेगा? पिता के पास जाना ही चाहिए। कुछ भी करो, पिता की आज्ञा के बिना कुछ नहीं होगा। तुम साधू बनना चाहते हो तो वह काम भी पिता की आज्ञा से ही हो सकेगा। क्या तो तुम उनको समझा

तो था उनकी समझ थी। जीवन का मार्ग एक दिशा में स्थिर करना ही होगा।"

चरित्रनायक अपने मामा के साथ रास्ता पहुँच गए। जीवन के आने की सूचना मात्र पर गांव भर में फैल गई। गांव के क्या वृद्ध और क्या युवा क्या बालक और क्या स्त्रियां दिल्ली से आने वाले भाजी से मिलने के लिए सब के सब दौड़ पड़े। चरित्रनायक सब से मिलते जुलते बातें करते। वे दिल्ली जैसे शहर में रहकर दूसरे लड़कों के समान गांव वालों को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखने लगे थे। वे बड़े बूढ़ों के चरणों में पड़ते उनका आशीर्वाद लेते।

स्नेहमयी माता तो अपने पुत्र को पाकर हर्ष से फूली नहीं समाती थी। पुत्र बहुत वर्षों के बाद दिल्ली से आया है यह उसके लिए कुछ कम आनन्द की बात नहीं थी। यह प्रसन्नता का वातावरण कुछ दिन चलता रहा। परन्तु जब एक दिन चरित्रनायक ने अपने विचार माता पिता के सामने रक्खे तो प्रसन्नता हवा होगई। जैन साधु बनने की बात सुनते ही माता पिता सहसा अप्रसन्न एवं खिन्नचित्त से होगए। वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि उनका प्यारा पुत्र जैन साधु भी बन सकता है! उन्होंने बहुत कुछ समझाया प्रलोभन दिए अन्त में धमकाया भी। किन्तु चरित्रनायक अपने पथ से विचलित नहीं हुए।

पं० शिवजीराम जी का पुत्र दिल्ली से आया है यह समाचार जब आस पास के गांवों में पहुंचा तो विवाह के सन्देश आने लगे। एक से एक अच्छे साधन संपन्न घर से सगाइयां आ रही थीं। परन्तु चरित्रनायक का सब के लिए एक ही उत्तर था। वह था साहसपूर्ण नकार में। जो साधक आजन्म ब्रह्मचर्य का भीष्म प्रण कर चुका हो भला वह विवाह की उलझनों में कैसे उलझ सकता है! विवाह के प्रलोभन दुर्बल आत्माओं को तो पथ भ्रष्ट कर सकते हैं परन्तु जम्बूकुमार का जीवन सुनने के बाद जिसने दृढ़ता के साथ ब्रह्मचर्य-साधना का दुर्गम पथ अपनाया हो उस बलवान् आत्मा को पथ भ्रष्ट करने की शक्ति किस में है! हमारे चरित्रनायक को तो इन संसारी भोग विलासों की निचली भूमिकाओं से बहुत ऊँचा उठना था एक महान् त्यागी श्रमभिक्षु बनना था। अतः वे क्योंकर विवाह के रूप में भोग विलास के खूँटे से बंधे रहते। माता पिता परिवार के अन्य लोग नाते रिश्तेदार सब के सब इस सिंह को माया के पिंजरे में बंद कर देना चाहते थे। किन्तु उन्हें पता नहीं था कि यह सिंह वह सिंह है जो जन्म जन्मान्तर सम्बन्धी माया के

मज़बूत पिंजरों को तोड़ने के लिए अवतीर्ण हुआ है। भला यह इस टूटे फूटे पिंजरे में कैसे बंद हो सकेगा ?

संघर्ष चलता रहा, महीनों गुजर गए। कुछ भी निर्णय नहीं होसका। उधर माता पिता और परिवार के लोग अपने पक्ष पर अड़े हुए थे, इधर चरित नायक अपने विचार शिखर से एक इंच भी नीचे उतरने को तैयार न थे। बात झूलती और झूलती रही। एक दिन अवसर पाकर, सब की आंख बचाकर, रात के सघन अंधकार में चरित नायक दिल्ली की ओर चल पड़े।

चातुर्मास समाप्त हो चुका था। श्री गंभीरमल जी महाराज जनजागृति के पथ पर विहार कर गए थे। परन्तु मैंने पहिले कहीं लिखा है कि हमारे चरित नायक प्रारम्भ से ही बड़े भाग्यशाली रहे हैं। अस्तु, ज्योंही चरितनायक दिल्ली पहुँचे तो पंजाब प्रान्त में विचरण करने वाले एक विशिष्ट मुनिमण्डल के दर्शन प्राप्त हुए। महान् प्रतापी, त्यागमूर्ति, पश्चात् आचार्य पद प्रतिष्ठित होने वाले श्रद्धेय मुनि श्री सोहनलाल जी महाराज देहली पधारे हुए थे। आपके सुप्रसिद्ध प्रधान शिष्य पं० श्री गैण्डेराय जी महाराज भी आपके साथ ही थे। दिल्ली के धर्म-प्रेमी जैन-संघ में नवजीवन आया हुआ था। व्याख्यान आदि में बहुत सुन्दर एवं विराट चहल पहल थी। चरितनायक की धर्म पिपासा बहुत तीव्ररूप में बढ़ी हुई थी। प० श्री गैण्डेराय जी महाराज के पास आपने धर्म चर्चा में भाग लेना शुरू किया। मुनिश्री के महान् त्याग, वैराग्यभाव, उग्र क्रियाकाण्ड एवं विवेक शीलत्व का आप पर ऐसा अटल प्रभाव पड़ा कि आप भक्तिभाव से गद्‌गद् हो गए। आपने अपने मन में दृढ़ निश्चय कर लिया कि "जब भी कभी दीक्षा लूंगा, इन्हीं के श्रीचरणों में लूंगा।

भूमण्डल पर गुरु नामधारी जीवों की कुछ कमी नहीं है। जिधर देखो, उधर ही गुरुओं के झुंड के झुंड घूमते मिलते हैं। परन्तु कितने हैं इनमें वे गुरू, जो देश की सोई हुई आत्मा को जगाएँ, शिष्यों के अज्ञान अन्धकार को दूर करें, भोली जनता को धर्म का सच्चा रहस्य बताएँ ? शिष्यों के धन को हरण करना एक बात है, और उनके मन को हरण करना दूसरी बात है। धन के लोभी गुरू नहीं हो सकते। गुरू वह है जो शिष्य के हृदय पर आध्यात्मिक जीवन की पवित्र छाप डाले। अज्ञान अन्धकार के जाले से घिरी हुई शिष्य की आंखों को, जो ज्ञानांजन की शलाका से निर्मल नहीं बना सकता, वह गुरू ही क्या है। आचार्य पाणिनि ने कहा है —

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

चरितनायक ने अपने गाँव में वैष्णव साधुओं के रंग ढंग को देखा था। किस प्रकार गाँव की भोली जनता के अज्ञान से लाभ उठाते हैं, मौज उड़ाते हैं और फिर ऊपर से साधुता के मिथ्या अहंकार पर अकड़ते हैं। वासना के निर्मलन के लिए किसी भी प्रकार की संयम भावना नहीं। परन्तु जब से जैन साधुओं का जीवन देखा विशेषरूप से गुरु श्री गैंडेराय जी महाराज का परिचय हुआ उन्हें सच्चे गुरुत्व की झाँकी मिल गई।

गुरुदेव के चरणों में दीक्षा लेने के विचार प्रगट करने पर उत्तर मिला कि 'दृढ़ निश्चय करलो तुम्हें क्या करना है? जैन साधु की जीवनचर्या तुम देख रहे हो कितनी कठोर है। यहाँ जीवित ही अपने को मरा हुआ समझना होता है। संसार की भोग वासना को यहाँ अणुमात्र भी अवकाश नहीं है। दिन और रात साधना की अग्नि में अपने आपको तपाना और आत्मा का वास्तविक रूप निखारना होगा। क्या तुम सिर के बालों को उखाड़ने की बात जानते हो? जानते हो तो पता है कि कितना कष्ट होता है? क्या तुम उस कष्ट को प्रसन्न भाव से सहन करने को तैयार हो?"

हमारे चरित नायक ने प्रसन्न मुद्रा से निवेदन किया कि गुरुदेव! मैं जैन साधुओं की जीवन चर्या से पूर्णतया परिचित हूँ। मैं किसी और कारण से साधु बनना नहीं चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ आत्म कल्याण के लिए साधु बनना। अतः कितने ही कष्ट हों कितनी ही आपत्तियाँ हों, मैंने सब कुछ सहन करके आत्म कल्याण के पथ पर पहुँचने का दृढ़ संकल्प कर लिया है। सिर के बालों का लोंच तो क्या है? मैं आत्मभाव की साधना के लिए समय आने पर स्कन्धक मुनि के समान खाल की खाल तक उतरवाने को तैयार हूँ। मैं कष्ट से नहीं डरता। मैंने खूब सोच समझ कर यह मार्ग अपनाने का निर्णय किया है। मैं आजीवन ब्रह्मचारी रहने का नियम पहिले ही ग्रहण कर चुका हूँ।

"अच्छा, तुमने आजन्म ब्रह्मचर्य का नियम लिया हुआ है?"

"जी हाँ गुरुदेव!

'तब तो तुम्हारा मार्ग प्रशस्त है।

'फिर कृपा कीजिए गुरुदेव!

"क्या घर से माता-पिता की आज्ञा मिल चुकी है ?"

"गुरुदेव ! अभी आज्ञा नहीं मिली है।"

"बिना अभिभावकों की आज्ञा प्राप्त हुए जैन साधू किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते। अत पहिले आज्ञा प्राप्त करो।"

"बिना आज्ञा शिष्य बनाने में क्या आपत्ति है ?"

"आपत्ति क्या, यह भी एक चोरी है। किसी भी प्रकार की चोरी हो, साधू को यावज्जीवन के लिए त्याग होता है।"

"यदि आज्ञा न मिले तो ?"

"तो का क्या प्रश्न ? लगन चाहिए सब कुछ मिल सकता है। अन्दर की ज्वाला बुझने न दो।"

गुरुदेव, कुछ दिन दिल्ली में ठहर कर आस-पास के गावों में विहार कर गए। हमारे चरितनायक शरीर से दिल्ली में रहे और मन से गुरुदेव के चरणों में। गुरुदेव का यह प्रथम साक्षात्कार, यह प्रथम दर्शन कितना मगलमय था ? जब कभी चरितनायक चर्चा किया करते थे तो आनन्द-विभोर हो जाया करते थे। "धन्यो गुरुर्देवता।"

। ७ ।

मित्रों का कुचक्र

मनुष्य परिस्थितियों का दास है। वह अनन्तकाल से अपनी इच्छा के अनुकूल परिस्थितियों को बनाने का प्रयत्न करता आ रहा है परन्तु अभी तक उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई है। मनुष्य की दुर्बलता का पता यहीं आकर लगता है।

पं० शिवजीराम जी आनंदपूर्वक गृहस्थी का धंधा चलाते आ रहे थे। उन्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं थी। मात्र एक ही चिन्ता थी कि उनका प्रिय पुत्र भिक्षु बनने की धुन में था। इसके लिए वे प्रयत्न शील थे कि वह भिक्षु न बनने पाए। उन्हें सफलता पाने की पूरी-पूरी आशा थी और इसी आशा के भरोसे उनका पुरुषार्थ उचित दिशा में काम कर रहा था।

परन्तु कर्मों की लीला विचित्र है। मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ और ही है। हमारे चरित नायक की माता एक दिन बीमार पड़ी। ऐसी बीमार पड़ी कि फिर रोगशय्या से उठ ही नहीं सकी। आप जानते हैं उपचार करने में अपने विचार से कौन कसर रखता है? पर संसार में उपचार ही तो सब कुछ नहीं है। मृत्यु की निश्चित घड़ी को टालने की शक्ति आज तक तो किसी को मिल पाई नहीं है। सम्पत्ति देखी धन न सकी सदा के के लिए परिवार की मोह माया को छोड़ कर वहीं अपने मन में लिए हुए ही चली गई।

पं० शिवजीराम पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। उन के जीवन का रस सूख गया। वही घर था वही परिवार था वही मिलने वाले मित्रों से भरा हुआ सारा गाँव था, परन्तु पंडित जी का उदास मन वहाँ शान्ति प्राप्त नहीं कर पा रहा था। गाँव छोड़ कर वे जमपाड़ा में रहने लगे। वहाँ पोखे-मल के शिव मन्दिर में संस्कृत पाठशाला खोलदी और ब्राह्मण कुमारों को लघुकौमुदी आदि संस्कृत के ग्रन्थ पढ़ाने लगे। वातावरण बदल गया था।

अत मन भी कुछ-कुछ बदल रहा था। मनुष्य आखिर मनुष्य है, वह पुराने को भुलाने के लिए है और नये को अपनाने के लिए।

लाला पन्नालाल जी के द्वारा मालूम हुआ कि नौबत उसी गतिविधि पर है, अपने लक्ष्य से हटा नहीं है। अस्तु आप एक दिन दिल्ली गये और बड़ी कठिनाई से समझा बुझा कर अपने साथ फगवाड़ा ले आए। पिता ने समझा था कि जिस प्रकार नये वातावरण में मैं बदल गया उसी प्रकार संभव है पुत्र भी बदल जाए। परन्तु नौबत वातावरण के अनुसार बदलने वाली प्रकृति का बना हुआ ही न था। वह तो असाधारण सकल्पों की दुनिया में विचरण करने वाला अटल साधक था। पिता अपने पुत्र की सुख सुविधा का पूरा-पूरा खयाल रखते थे। वे अपने मन में समझते होंगे कि "दु ख पाकर कहीं भाग न जाये। सुख-सुविधा रहेगी तो टिका रहेगा।" परन्तु भोले पिता को क्या पता था कि उसके पुत्र की निर्णय करने की पद्धति और ही है। वह अपने कर्तव्य को नापने का गज सुख दुःख से भिन्न ही रखता है।

पण्डित शिवजीराम जी फगवाड़ा के ब्राह्मण समाज में बहुत लोक प्रिय हो गए थे। उनका पाण्डित्य और सौजन्य अच्छे अच्छे विद्वानों के लिए आकर्षण की चीज बन गया था। अत जब लोगों को पता चला कि पण्डित जी का पुत्र नौबत जैनभिक्षु बनना चाहता है तो सबके सब स्तभित हो गए। ब्राह्मण विद्वानों के लिए यह मर्म भेदक बात थी। एक ब्राह्मण कुमार, और वह जैनभिक्षु बने! यह कभी नहीं हो सकता। सब विद्वानों ने निश्चय कर लिया कि हम उसे जैनभिक्षु कदापि नहीं बनने देंगे। उधर पण्डितजी के विद्यार्थी जो अब चरित नायक के मित्र बन गए थे, वे भी अपने मित्र को अपनी मान्यता के अनुसार कुमार्ग से हटाने के लिए कटि बद्ध हो गये। एक खासा अच्छा सघर्ष चल पड़ा।

पण्डितजी के छात्रों में देवकीनन्दन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। चरित नायक के कथनानुसार वह बहुत ही प्रतिभाशाली एव मेधावी छात्र था। उसकी असाधारण प्रतिभा को देख कर फगवाड़े के विद्वान एव धनी-मानी सज्जन उसे बड़े आदर सम्मान की दृष्टि से देखते थे। वह चरित नायक के घनिष्ट परिचय में आया। उसने अपने अध्ययन की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना कि हमारे चरित नायक को अपने दृढ़ निश्चय से डिगाने

की ओर दिया। एक दिन छात्र मण्डली में बैठ कर उसने यह प्रण तक किया कि 'मैं मौवत को जैन साधु बनने से अवश्य ही हटा कर रहूँगा।

शिवमन्दिर में एक दिन माहाय विद्वानों की सभा का आयोजन किया गया। मौवत बीच में बड़े थे अन्य सब लोग चारों ओर। मौवत को समझाया जा रहा था कि वह जैन साधु न बने। ऐसा करने से हम लोगों की प्रतिष्ठा नष्ट होती है।

मौवत समझ नहीं पा रहा था कि आखिर सदाचरण पर चलने से हम की प्रतिष्ठा क्यों कर भंग होती है? मैं कोई बुरा काम तो नहीं कर रहा हूँ, साधु ही बन रहा हूँ। और साधु भी ऐसा गैरा नहीं। जैन साधु, जिसका जीवन त्याग की कसौटी पर कसा हुआ शुद्ध सौटंची सोना है।

बात चीत आगे बढ़ी। देवकानन्द ने कहा— जैन लोग नास्तिक होते हैं। क्या तुम आस्तिक से नास्तिक बनोगे?

उत्तर मिला—"आप लोगों ने जैनों में कौन सी नास्तिकता देखी है! वे बड़े अहाह दयावान् और भोग जीवन से पराङ्मुख होकर कठोर त्याग का जीवन अपनाने वाले हैं। क्या नास्तिक की यही परिभाषा है? नास्तिक तो भोगविलास का कीड़ा होता है। वह परलोक की चिन्ता के प्रति अश्रद्धा भावना की और कठोर तप साधना की बात को क्या जाने?

'यह सब तो ठीक है पर ईश्वर पर विश्वास नहीं करते।

'ईश्वर पर विश्वास करने से आप का क्या अभिप्राय है? वे जीवन की पवित्रता में विश्वास रखते हैं। प्रत्येक आत्मा को अपनी शुद्ध दशा प्राप्त करने पर ईश्वर मानते हैं रागद्वेष आदि से रहित ईश्वर के शुद्ध स्वरूप को स्वीकार करते हैं। फिर आप कैसे कहते हैं कि ईश्वर पर विश्वास नहीं करते? पुराणों के कल्पित रागी द्वेषी ईश्वर को न मानना, कोई पाप नहीं है। जो ईश्वर हमारे जैसा ही रागी द्वेषी हो संसार की मोहमाया में फँसा हो विश्व के बनाने और उजाड़ने में लगा हो वह कैसा ईश्वर? ऐसा ईश्वर हमारा आराध्य देव नहीं हो सकता।

'जैन साधु बड़े गंदे होते हैं। इतने गंदे कि कुछ पूछो नहीं। शौच जाकर शुद्धि भी नहीं करते। ऐसे गंदे साधुओं में तुम पवित्र वैदिक धर्म के मानने वाले कैसे जीवन गुजारोगे?

'कौन कहता है कि गंदे रहते हैं? यह सब पाखंड है, झूठ है। जैन-

धर्म को बदनाम करने के लिए आप जैसे लोगों द्वारा यह मिथ्या प्रचार किया गया है। मैं जैन साधुओं के अन्तरग परिचय में आया हूँ। मैंने आज तक ऐसी कोई भी बात नहीं देखी, जिस पर आपकी बातें सत्य प्रमाणित हों।"

बहुत लंबी बात-चीत चली। काफी कड़ा संघर्ष हुआ। हमारे चरित नायक दबने वाली शक्ति नहीं थे। उन्होंने विरोधियों की दलीलों का स-प्रमाण उत्तर दिया। सब अपना-सा मुँह लेकर चले गए।

देवकीनन्दन अब भी पीछा नहीं छोड़ रहा था। वह एक प्रकार से छाया की तरह पीछे रहने लगा। पण्डित जी का आदेश और अपनी भी हार्दिक प्रेरणा, देवकीनन्दन को विश्रान्ति नहीं लेने दे रही थी। वह सर्वदा जागरूक रहता था कि कहीं चरित नायक चुपचाप भाग न खड़े हों?

एक दिन देवकीनन्दन ने बहुत बड़ी धूर्तता की, बहुत बड़ा कुचक्र रचा। ला० पन्नालाल जी के नाम से स्वयं एक पत्र लिखा और दूर किसी गाँव के डाकखाने में डलवा दिया। जब पत्र चरित नायक को मिला और उन्होंने खोल कर पढ़ा तो सहसा हँस पड़े। उन्हें समझने में तनिक भी देर न लगी कि यह क्या माया है और किस की है?

पत्र में लिखा था —

"प्रिय नौबत! आज मैं तुम्हें हृदय की सच्ची बात बता रहा हू। मैंने तुम्हें जो जैनधर्म की शिक्षा दी है, वह सब मिथ्या है। मैं बड़ा पापी हूँ जिसने तुम्हें गलत मार्ग पर डाला। जैनधर्म में सत्य का कुछ भी अंश नहीं है। उसकी सारी बुनियाद असत्य और दंभ पर खड़ी की गई है। हमारा हाल तो उस नकटे जैसा है जिस की नाक किसी अपराध में काट ली गई थी, परन्तु उसने भोले लोगों में यह मिथ्या प्रचार करना शुरू कर दिया कि उसे ईश्वर दिखाई देता है। जब लोग पूछते कि ईश्वर कहाँ है, हमें क्यों नहीं दिखाई देता तो उत्तर देता कि वह तुम्हारी नाक की ओट में है, इसलिए नहीं दिखाई देता। मेरी तरह इसे कटवा लो, देखो, अभी दिखाई देने लगता है। मूर्ख लोग उस के झांसे में आ जाते और नाक कटा लेते। ईश्वर कहाँ दिखने वाला था? पहिला नकटा चुपके से कान में कहता कि नाचो-कूदो और कहो कि ईश्वर दिखाई देता है। यदि ऐसा न कहोगे तो अपने मित्रों में तुम ही अकेले नकटे रह जाओगे और सदा के लिए लज्जित रहोगे।

इस प्रकार नकरा पंथ ही बच पड़ा। माई हम तो अपने पाप कर्म भोग रहे हैं तुम क्यों व्यर्थ इस कीचड़ में सनते हो? तुम्हें जैन मुनिदीक्षा हर्गिज नहीं लेनी चाहिए आदि।

पत्र का चरित नायक पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे जानते थे कि लाला पन्नालाल जी जैनधर्म के रंग में इतने गहरे रँगे हुए हैं कि तीन काल में भी ऐसा पत्र नहीं लिख सकते। यह सब भ्रातृवर्गों का कुचक्र है जो मुझे यहाँ सत्य या असत्य किसी भी रूप में फँसाये रखना चाहते हैं।

समझाने और प्रेमभाव से रखने का जब कोई परिणाम नहीं निकला तो अब चरित नायक के साथ कठोर बर्ताव होने लगा। असफल मनुष्य क्रुद्ध होता है और क्रुद्ध मनुष्य दण्ड देने पर उतर आता है। पण्डित शिवजी राम जी और दूसरे सहयोगियों ने मिल कर चरित नायक को खूब ही सताया मारा-पीटा और भूखा रक्खा। कोठे में बंद कर के बाहर से ताला बन्द किया जाता। एक के बाद एक नयी से नयी यातनाओं का सिलसिला शुरू हो गया।

यह सब कुछ किया और मर्यादा से बढ़ कर किया। परन्तु चरित नायक तिल मात्र भी अपने प्रण से विचलित नहीं हुए। भय और आतंक से अपना पथ बदल देने वाले कोई और ही होते हैं। सच्चा वीर सिपाही मृत्यु के मुख में पहुँच कर भी अपनी राह नहीं बदलता। वह आपत्तियों की चोटें खाकर अपने उद्देश्य में और अधिक दृढ़ हो जाता है। कितने ही संकट हों कष्ट हों और दुःख हों शक्तिशाली आत्मा सब को चकनाचूर करता हुआ अपने पथ पर सहर्ष बढ़ता ही चला जाता है क्षण भर के लिए भी नहीं रुकता। बालू रेत की दीवारें गंगा के विशाल प्रवाह के आगे कितनी देर टिक सकती हैं? अपने पिछले संस्कारों के प्रभाव से शक्ति प्राप्त महान आत्माएँ, एक बार जिस ओर चल पड़ती हैं फिर उस मार्ग से उन्हें भला कौन-सी शक्ति विचलित कर सकती है?

"क ईप्सितार्थ स्थिरनिश्चयं मनः।
पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्॥

८

मुनि दीक्षा

मध्य रात्रि है, चारों ओर गहन अन्धकार छाया हुआ है। आँखे सारी शक्ति लगा कर भी मार्ग नहीं पाती हैं। सुनसान जंगल! आसपास मनुष्य की छाया तक नहीं। सब ओर भय का साम्राज्य। अज्ञात पशु पक्षियों की विचित्र ध्वनियाँ अन्धकार में और अधिक भीषणता उत्पन्न कर रही हैं। वर्षा की ऋतु है। काले बादल आकाश में गर्ज रहे हैं और बीच-बीच में बिजलियाँ कड़क रही हैं।

परन्तु देखिए, वह साहसी नवयुवक! किस भाँति दृढ़ता के साथ निर्भय और निष्कप अपने मार्ग पर बढ़ा चला जा रहा है! उसके निकट हजार-हजार कोप तक कहीं कोई भय नहीं, डर नहीं। अन्धकार के कारण भूमि अच्छी तरह दिखाई नहीं देती है, फलत ऊँचे-नीचे पैर पड़ते हैं, झटके पर झटके लगते हैं। फिसलन हो रही है, कभी कभी गिर पड़ता है और कीचड़ में सन जाता है। बीच-बीच में वर्षा की बोछारें अलग तंग कर रही हैं। मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए एक मात्र अवलंबन बिजली की चमक है। युवक असाधारण मालूम होता है। किसी महान् उद्देश्य को लेकर ही रात्रि में वह भी घनघोर वर्षा में चल पड़ा है।

क्या आप बता सकते हैं, यह कौन युवक है? संभव है आपका संकल्प कुछ निर्णय न करे। मैं ही बता दूँ, ये हमारे चरित नायक गणी श्री उदयचन्द्र जी हैं जो अपने पहिले के नौबत नामधारी रूप में उदयचन्द्र बनने के लिए यात्रा कर रहे हैं। अपनी गृह गृहस्थी की मोहमाया और परिवार को अन्तिम बार त्याग कर चल पड़े हैं पूर्ण त्याग की उच्च भूमिका पर आरूढ़ होने के लिए।

समय बड़ा विकट है, पर कोई डर नहीं। वे वीर हैं, साहसी हैं। अपने लक्ष्य पर पहुँच कर ही विश्राम लेंगे। बचपन में याद की हुई संत कबीर की वाणी उनका मार्ग प्रदर्शन कर रही है—

"पंथा मारग दूर घर विकट पंथ बहु मार।
कह कबीर कस पाइये दुर्लभ गुरु दीदार॥"

वे जानते हैं कि गुरु दर्शन संसार की सबसे बड़ी दुर्लभ वस्तु है। दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति के लिए कष्ट सहने ही होते हैं। जो कष्टों से घबरा कर वापस लौट गया वह लौट गया उसका भाग्य लौट गया। प्रभु का मार्ग शूरवीरों के लिए है कायरों के लिए नहीं—

'प्रभु नो मारग है शूरा नो
नहीं कायर नो काम जोने।

भोला भाला मनुष्य समझता है कि सुन्दर सुनहरी महलों में सुख है बहुमूल्य वस्त्रों में सुख है नाना प्रकार के सुस्वादु भोजन में सुख है बड़े-बड़े गगनचुम्बी भव्य महलों की ऊँची अट्टालिकाओं पर चढ़ कर अपने आपको चक्रवर्ती राजा समझने में सुख है। परन्तु यदि इन्हीं वस्तुओं में सुख होता तो भगवान महावीर और बुद्ध जैसे महापुरुष क्यों कठोर त्याग का दुर्गमपथ अपनाते? वे क्या सुख भोगना नहीं जानते थे? उन्हें संसार की दृष्टि से सब कुछ प्राप्त था। फिर भी सब छोड़ कर भाग निकले। आध्यात्मिक सुख के समक्ष उन्हें सांसारिक सुख विष स्वरूप मालूम दिया। हमारे चरित नायक भी उन्हीं के पथ पर चले जा रहे हैं। प्रकृति का उपद्रव अपनी पूरी शक्ति से प्रतिरोध कर रहा है। परन्तु प्रतिरोधों को कुचल कर आगे बढ़ना ही वीरत्व की मौलिक परिभाषा है। वीरपुरुष जब अपने मनमें कोई निश्चय कर लेता है तो फिर असंभव को भी संभव कर दिखाता है।

अंगणवेदी वसुधा
कुल्या जलधिः स्थली च पातालम्।
वल्मीकश्च सुमेरु
कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य॥

अर्थात् जब वीरपुरुष किसी उच्च आदर्श के लिए प्रतिज्ञा कर लेता है तो संसार की विघ्न-बाधाएँ कितनी ही क्यों न खड़ी रहें हों उसे अवरुद्ध नहीं कर सकतीं। उसकी दृष्टि में सारा भूमण्डल घर का आँगन है महासमुद्र छोटी सी नहर (जलधारा) है पाताल लोक स्थल और सुमेरु पर्वत साधारण सा रेत का टीला है।

आप जानना चाहते होंगे कि चरितनायक ने यह यात्रा रात्रि के इस भयंकर समय में क्यों की? बात यह हुई कि रात और दिन चरितनायक पर

कड़ा पहरा रक्खा जाता था। कहीं भी स्वतन्त्र रूप से जाने आने नहीं दिया जाता था। सब को आशंका थी कि यदि इसे ज़रा भी स्वतंत्रता मिली तो यह भाग जायेगा। अतएव चरितनायक, एक दिन अवसर पाकर, अँधेरी रात में ही घर से बाहर होगए और चल पड़े अपने निश्चित लक्ष्य की ओर।

मार्ग की कठिनाइयाँ कुछ कम नहीं थीं। अनेक बार भूखे-प्यासे रह कर भी चलना पड़ा। सुख सुविधा का कोई साधन नहीं। अन्तर्हृदय की आदर्श प्रेरणा ही इस महान् यात्री का जीवन सबल था। इधर उधर भटकता हुआ यह यात्री एक दिन दिल्ली, लाला पन्नालाल जी की चिरपरिचित दूकान पर पहुँचा और जय जिनेन्द्र की। ला० पन्नालालजी आश्चर्य में थे कि तुम कहाँ? जब बातें हुई और पता चला तो पन्नालालजी ने कहा—"अब तुम्हे रोकना व्यर्थ है। तुम्हारी ज्योति वह ज्योति नहीं, जिसे कोई बुझा सके। अच्छा, जिस पथ पर आगए हो अब उसपर आगे बढ़ो। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। तुम एक महान् सयमी मुनि बनो और जैनधर्म के अन्तरिक्ष में सूर्य के समान चमको।"

ला० पन्नालालजी से गुरुदेव का पता लेकर चरितनायक मुजफ्फर नगर जिले के कांधला नामक नगर में पहुँचे। विक्रम सवत् १९४१ का वर्ष था। श्रद्धेय त्यागमूर्ति (पूज्यश्री) सोहनलालजी म० और गुरुदेव श्री गैण्डेरायजी म० ने कांधला में चातुर्मास किया हुआ था। तपस्या तथा धर्मध्यान की धूम मची हुई थी।

गुरुदेव के चरणों में दीक्षा देने के लिए निवेदन किया। वहाँ वही पहिले का एक ही उत्तर था—"आज्ञा ले आए हो?"

"आज्ञा तो नहीं मिली।"

"फिर दीक्षा कैसे?"

"आज्ञा मिले या न मिले। अब मैं वापस घर लौटकर नहीं जाऊ गा। गुरुदेव, दीक्षा दीजिए। मन आकुल होगया है। अब अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकता।"

"यह नहीं हो सकता। शास्त्र का विधान है, हम उसका उल्लघन नहीं कर सकते। कुछ भी हो, पहिले आज्ञा प्राप्त करो, फिर दीक्षा की बात होगी।"

चरित नायक ने लाचार हो कर पिता जी को पत्र लिखा। दीक्षा के

लिए विनम्र शब्दों में आज्ञा माँगी और लिखा कि अब मैं अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकता। आपका और मेरा हित अब इसी में है कि मुझे जल्दी-से-जल्दी आज्ञा मिल जाये।

पं० शिवराम जी पत्र पाते ही कोलकता आए। उन्हें प्रसन्नता थी कि बच्चा मौवत ठिकाने पर तो पहुँच गया। अन्यथा वे इस चिन्ता में थे कि न मालूम कहाँ भटकता होगा? भूख प्यास और सर्दी-गर्मी की क्या-क्या कठिनाइयाँ भोग रहा होगा?

दीक्षा की बात चली। पिता-पुत्र लंबी-लंबी विचार चर्चा करते रहे। कोई निर्णय नहीं हुआ। आखिर मुनिराजों और श्रावकों ने भी समझाना शुरू किया। कुछ भी सफलता नहीं मिली। चोपड़े के श्रावक बड़े चतुर थे। उन्होंने युक्ति से काम लिया। छुआछूत का प्रश्न उठाते हुए कहा गया कि 'आप ब्राह्मण हैं। किसी भी अब्राह्मण के हाथ का खाना नहीं खाते। छुआछूत का कितना विचार रखते हो? परन्तु आप का पुत्र न जाने कहाँ कहाँ घूमा है? किस-किस के हाथ का खाया पिया है? क्या आप ऐसे पुत्र के साथ अपना भोजन पान का सम्बन्ध रखेंगे? यदि रखेंगे तो आप की ब्राह्मण जाति में क्या प्रतिक्रिया होगी? जरा विचार से काम लीजिए।

पं० शिवराम जी विचार में पड़ गए। वह युग विक्रम संवत् १८७१ का युग था। कितने अन्धकार से भरा था वह युग। छुआछूत के सम्बन्ध में कितनी कट्टरता थी उन दिनों? छुआछूत का कट्टर पक्षपाती स्मार्त ब्राह्मण अपने मन का समाधान नहीं कर सका। उस ने देखा—पुत्र हठ पर है, मानता नहीं है। और इधर यह छुआछूत की बात भी विचारणीय है।

पिता ने पुत्र को बड़े स्नेह भरे शब्दों में आज्ञा दी और कहा— बेटा, जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। जब तुम मानते ही नहीं साधु बन ही रहे हो तो बनो। देखना अपने नियम धर्म में दृढ़ रहना। किसी प्रकार का भी अपने पवित्र कुल पर कलंक न लगाना। भगवान तुम्हें वह शक्ति दे जिससे तुम अपने कल्याण मार्ग में आदर्श सफलता प्राप्त करो।'

'धर्मे ते धीयतां बुद्धिः
मनस्ते महदस्तु च।''

अब क्या था चोपड़ा के जैन संघ में हर्ष की लहर दौड़ गई। उत्साह का पार न रहा। धूमधाम से दीक्षा महोत्सव करने की योजनाएं बनने लगीं।

हमारे चरित नायक को यह सब पसद नहीं था। वे साधारण रूप मे दीक्षा लेना चाहते थे। श्रद्धेय पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज भी इन्हीं विचारों के थे। श्रावक लोग मान नहीं रहे थे। उनका कहना था कि हमारे यहां बड़ी-बड़ी दीक्षाए बहुत धूमधाम से हुई हैं। यह दीक्षा हम कैसे छोटी कर सकते हैं? बाहर की जनता आए बिना दीक्षा का उत्सव ही क्या होगा ?

भाई अपनी कहते रहे और चरित नायक अपनी। परन्तु हुआ वही जो हमारे चरित नायक को अभीष्ट था। विक्रम सवत् १६४२ था, भादवा सुदी एकादशी। रिम-झिम वर्षा बरस रही थी। प्रकृति शान्त और सुन्दर। श्रद्धेय गुरु देव गेण्डेरायजी म०के चरणों में, महाप्रतापी पूज्य श्री सोहनलालजी म० के पवित्र कर कमलों से चुपचाप दीक्षा विधि सपन्न हो गई। यहां तक हुआ कि बहुत से सज्जनों को तो दीक्षा का पता बाद में चला।

अब नौबतराय, मुनि उदय चन्द्रजी थे। पूज्य श्री के द्वारा रक्खे हुए इस सुन्दर एव समुज्ज्वल नाम में, भविष्य का महान अभ्युत्थान छुपा हुआ था, जो समय पर प्रकट हुआ, जिसने जैन-धर्म को चार चाँद लगा दिए।

: ६ :

प्रथम परीक्षा

सुवर्ण सच्चा है या खोटा यह परीक्षा होने पर ही जाना जा सकता है। बाहर के रङ्ग रूप में सुवर्ण की महत्ता नहीं है। बाह्य दृष्टि से तो सोना और पीतल एक जैसे ही मालूम होते हैं। परन्तु जब कसौटी पर कसा जाता है काटा जाता है और अग्नि में तपाया जाता है तब पता लगता है कि सच्चा सोना कौन सा है? पीतल परीक्षाओं को सहन नहीं कर सकता काला पड़जाता है। परन्तु ज्यों ज्यों परीक्षाएं होती हैं त्यों त्यों सोना अधिकाधिक तेजस्वी होता जाता है। वह काला या मैला कभी नहीं पड़ता। "आग में पड़कर भी सोने की चमक जाती नहीं।

साधु का जीवन परीक्षाओं का जीवन है। एक प्रकार से यों कहना चाहिए कि साधु का समूचा जीवन ही परीक्षामय है। कौन साधु कैसा है, यह क्रम पर आने वाली स्थितियों के द्वारा मालूम होता है। जो जितना अधिक जीवन की विषम स्थितियों में समभाव से रह सकेगा परीक्षाओं में पास हो सकेगा वह उतना ही अधिक साधुत्व की उच्च भूमिका पर पहुंचा हुआ माना जायेगा।

हमारे चरित्र नायक को दीक्षा लेते ही परीक्षा का सामना करना पड़ा। दीक्षा के कुछ ही दिनों बाद आश्विन में मलेरिया बुखार का भयंकर प्रकोप हुआ। कांधला और बावड़ा के आसपास के गांव विशेष रूप से इस चपेट में आए। हमारे नव-दीक्षित चरित्र नायक पर भी मलेरिया का आक्रमण हुआ और बड़े जोर से हुआ। लगभग १२ दिन से कुछ अधिक ज्वर की पीड़ा रही। नव-दीक्षित होते हुए भी आपकी विलक्षण सहन शीलता को देखकर बड़े बड़े दीर्घ संयमी साधु भी चकित रह गए। कोई आकुलता नहीं। चुपचाप अपने आसन पर बैठे रहते और आध्यात्मिक भावनाओं का चिन्तन करते रहते। न हाय मरना, न कराहना और न किसी बात पर झुंझलाना ही। वर्षा होती रहती थी। अतः कभी-कभी पूरा का

पूरा दिन ऐसा निकल जाता था कि न समय पर आहार मिलता और न औषधि का प्रबन्ध ही हो पाता। देखने वाले देखते कि चरित नायक, जब देखो तब प्रसन्न हैं। किसी भी तरह की ग्लानि के भाव, उनके प्रशान्त मुख मण्डल पर नहीं दिखाई देते।

एक दिन जब कि बुखार काफी ऊंची डिग्री पर चढ़ा हुआ था, सारा शरीर भट्टी की तरह जल रहा था, एक सज्जन ने कहा कि "देखो, क्या हुआ है? अभी दीक्षा ली और अभी बीमार पड़ गए।

हमारे चरित नायक ज्वर की तीव्रता में भी अपने आप को भुलाये हुए नहीं थे। आप ने शांत स्वर में कहा कि "भाई, तुम भूलते हो। दीक्षा और रोग का कोई सम्बन्ध तो नहीं है। यह तो कर्मों का भोग भोगना ही है। दीक्षा न लेता तब भी भोगता और अब दीक्षा ले ली है तब भी भोग रहा हूं। संयम की मर्यादा में कर्मों का भोग आत्म शुद्धि के लिए होता है। जो कर्म हँस हस कर बांधे हैं वे रो-रो कर भोगे जाते हैं। यदि कोई साधक सम भाव से भोग सके तो वह निर्जरा का कारण है। कर्मों के भोग तो किसी से भी नहीं छूटे। भगवान महावीर तक को भी भोगने पड़े। मेरे जैसे पामर जीव तो किस गिनती में हैं?"

वयो वृद्ध सज्जन महाराज श्री का उत्तर सुनकर भक्ति भावना से गद्-गद् हो गए। इतनी छोटी अवस्था और फिर बिलकुल नई दीक्षा! इस पर भी इतनी विशाल गंभीरता? जिस आदर्श की आशा बड़े-बड़े साधकों से नहीं की जा सकती, वह इस छोटे मुनि में! उनके आश्चर्य का पार न रहा।

मुनिश्री जी की यह पहिली परीक्षा थी, बड़ी कठोर और बड़ी उग्र। परन्तु मुनि जी इसमें सौ के सौ नंबर ले गए। श्रद्धेय (पूज्य श्री) श्री सोहनलालजी म० और श्री गैण्डेरायजी म० अपने नये शिष्य की दृढ़ता एवं गंभीरता को देखकर सन्तोष अनुभव कर रहे थे। नव-दीक्षित की साधुता का भविष्य, उसकी प्रारम्भिक जीवन दशा में ही उज्ज्वल प्रतीत होने लगा। कुछ सन्तों ने आपस में बातें करते हुए कहा-"उदय अपने समय में एक महान तेजस्वी मुनि बनेगा।"

साधुत्व की मर्यादा के साथ यथा योग्य उपचार होता रहा। काफी दिनों के बाद मुनिजी ने स्वास्थ्य लाभ किया। दुर्बलता तो बहुत अधिक समय

तक बनी रही। परन्तु उस आत्म बल के धनी ने शारीरिक दुर्बलता की कोई परवाह न की और शीघ्र ही अपनी शास्त्राध्ययन आदि की सत्प्रवृत्तियां चालू कर दीं।

भारत के देहात की एक कहावत है कि "होनहार बिरवान के होत चीकने पात"। नव-दीक्षित मुनि ने दीक्षा लेते ही कांधला के चातुर्मास में इस लोकोक्ति को पूर्ण रूपेण चरितार्थ कर दिखाया। क्या श्रावक और क्या साधु सभी को आपकी आत्म चेतना ने प्रभावित कर दिया।

१०

विनय मूर्ति

मुनि मंडल ने कांधला चातुर्मास के बाद मेरठ और मुजफ्फर नगर के देहाती क्षेत्रों में भ्रमण किया। ग्रामीण जनता ने भक्ति भावना पूर्ण हृदय से मुनिराजों का स्वागत किया। मुनि-मण्डल जहां भी पहुंचता श्री संघ में हर्ष का समुद्र उमड़ने लगता। व्याख्यान में भीड़ इतनी अधिक होती कि सार्वजनिक रूप में खुले चौक में भाषण देने होते थे। नव-दीक्षित मुनि ने गांवों के धर्म प्रचार में भी भाग लिया। श्रोताओं पर अपनी वाणी का प्रभाव डालने की शक्ति, उन्हें जन्म जात संस्कारों से मिली थी। चरित नायक के साधारण से भजनों और धर्म कथाओं के संक्षिप्त प्रवचनों में ही भविष्य के एक महान प्रवक्ता के चिन्ह स्पष्टत दीखने लगे थे।

मुनि मण्डल विहार करता हुआ मेरठ जिले के बड़ौत नगर में पहुँचा। बड़ौत में सर्व श्री तपस्वी लीला पतजी म०, श्री हरनाम दासजी म० (सुप्रसिद्ध महामुनि श्री मयारामजी म० के गुरु देव) और श्री शिवदयालजी म० आदि संत विराजमान थे। सुप्रसिद्ध पण्डिता आर्या श्री पार्वतीजी म० भी उन दिनों बड़ौत में ही थी। हमारे चरित नायक उपस्थित मुनि मण्डल में सब से छोटे थे। चरित नायक की भद्रता, विनयभाव एवं सेवा वृत्ति देखकर सभी वयोवृद्ध मुनियों ने प्रसन्नता प्रकट की। महासती श्री पार्वतीजी म० तो आपकी विलक्षण ज्ञान चेतना को देखकर बहुत ही प्रभावित हुई।

मनुष्य का महत्व इसी में है कि वह जहाँ भी रहे और जिससे भी मिले, अपने व्यक्तित्व का प्रभाव अंकित करे। वह मनुष्य ही क्या, जो मिलने वाले पर अपनी विलक्षणता की छाप न डाल सके। जैन संस्कृति का आदर्श है कि "मनुष्य, तू अपने आपको असाधारण बना। अपनी प्रशंसा अपने मुख से न कर, अपने गुणों से कर। तू पुरानी और नई दोनों पीढ़ियों पर अपना प्रभाव डाल। तू इतना विनीत हो कि बड़े बूढ़े तुझे देखते ही प्रसन्नता से उमँगने लगें। तू अपने अहंकार और आलस्य को इतनी दूर फेंक दे कि स्वप्न में भी कभी तेरे पास न आएँ। तू वृद्धजनों की सेवा करते हुए उनकी

भावना में इतना घुल मिल था कि उनके हृदय को अच्छी तरह स्पर्श कर ले। तेरी विनय का सबसे बड़ा प्रमाण पत्र यही है कि तुझे तेरे वयोवृद्ध अभिभावक जीवन भर भूल न सकें। तेरी विनय भावना और मृदुता ऐसी हो कि वह केवल वाणी में ही नहीं किन्तु मन और कर्म में भी अभिव्यक्त हो।

हाँ तो चरितनायक संप्रदाय के जिस किसी भी स्थविर मुनि के संपर्क में आते अपने विनयशील व्यवहार से उसे मोह लेते। उनकी आत्मा प्रारम्भ से ही बहुत जागृत थी। बड़ी सावधानी से रहते कि कहीं कोई अज्ञानभाव से आशातना न हो जाय। शरीर में आलस्य बिलकुल नहीं था अतएव गुरुजनों की ओर से आज्ञा मिलने में देर भले ही हो परन्तु उनकी ओर से आज्ञा पूर्ति में देर नहीं होती थी। शरीर स्वस्थ हो या अस्वस्थ किसी कार्य के लिए इनकार करना वे जानते ही न थे। कठिन से कठिन सेवा का काम भी वे प्रसन्न मुद्रा से करते थे। आहार लाना हो पानी मँगाना हो वस्त्र धोने हों पगचंपी करनी हो कुछ भी सेवा का काम हो हमारे चरितनायक एक वीर सिपाही की तरह अपने आपको सदा तैयार रखते थे।

चरितनायक की वाणी में अतीव माधुर्य था। गुरुजनों के प्रति आदर एवं सम्मान की भावना उनके प्रत्येक शब्द से स्पष्टतः व्यक्त होती थी। वे नपी तुली भाषा में बोलते और प्रत्येक की पद-मर्यादा का ख्याल रखते। उन्होंने तरुण कंधों पर बूढ़ों जैसा विवेकशील मस्तिष्क पाया था। वे प्रारम्भ से ही इतने मेधावी एवं संयमशील थे कि कहीं भी अपनी पदसीमा से बाहर नहीं होते थे।

आजकल के विनयशून्य शिष्यत्व पर कभी चर्चा चल पड़ती तो एक कहानी कहा करते थे —

एक ग्रामीण व्यक्ति किसी सद्गुरु के पास पहुँचा और कहने लगा— 'महाराज मुझे भी अपने पास रख लीजिए।

गुरु ने कहा— बताओ शिष्य बन कर रहना चाहते हो या गुरु बन कर ?

आगन्तुक ने कहा— शिष्य को क्या करना होता है और गुरु को क्या ?'

गुरुदेव ने उत्तर दिया— शिष्य वह होता है जो गुरुकी सेवा करे। गुरु के लिए भोजन लाए, पानी लाए पगचंपी करे और अन्य भी जो सेवा हो सब

विनम्रभाव से करने के लिए हर समय तैयार रहे। गुरु को कुछ नहीं करना होता। गुरु सेवा कराता है और शिष्य करता है। गुरु वह जो बैठा रहे और शिष्य वह जो हाथ जोड़े खड़ा रहे। बताओ, तुम क्या बनना चाहते हो ?"

आगन्तुक दुखी था। घर गृहस्थी के धधों से उकताया हुआ था। आलसी जीवन। रोटी कमाकर नहीं खाई जाती थी। सोचा था, चलो, साधु ही बन जाएँ, आराम से तो रहेंगे। अस्तु, उसने झटपट उत्तर दिया--

"महाराज, मुझे तो अपना गुरु ही बना लीजिए। शिष्य तो मैं घर में ही बना हुआ था। मेरी इच्छा तो अब गुरु बनने की है।"

महाराज श्री कहा करते थे कि--"आज का शिष्य तो प्रस्तुत कहानी के नायक के समान शिष्य बनने के लिए नहीं आता, प्रत्युत गुरु बनने के लिए आता है। परन्तु जब तक जीवन में नम्रता न हो, विनयभावना न हो, तब तक आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। पानी का स्वच्छ सरोवर हो। यदि प्यासा यात्री पानी पीने के लिए न झुके और तना हुआ ही खड़ा रहे तो क्या कभी प्यास बुझ सकती है ? कभी नहीं, तीन काल में भी नहीं। इसी प्रकार गुरुदेव ज्ञान के सरोवर हैं। उनके श्री चरणों में ज्ञान की प्यास बुझानी हो, ज्ञान जल ग्रहण करना हो तो पूर्णतया विनय भाव से झुक कर रहना चाहिए। अहंकारी शिष्य गुरुदेव से कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकेगा। मैंने तो जो कुछ भी पाया है, गुरुजनों की विनयभक्ति के द्वारा ही पाया है।"

श्रद्धेय गणीजी महाराज का यह प्रवचन और नवदीक्षित जीवन-सम्बन्धी उनका वह अनुकरणीय विनयभाव, आजकी शिष्य परम्परा के लिए आदर्श है। आजका शिष्य वर्ग यदि अपने आपको किसी योग्य बनाना चाहता है तो उसे 'विणओ जिणसासणमूल' का महामन्त्र अपनाना ही चाहिए।

तपोधन

प्रवर्तक (पूज्यश्री) सोहनलाल जी म० तथा गुरुदेव श्री गेंडेराम जी महाराज ग्रामानुग्राम धर्म प्रचार करते हुए दिल्ली पधारे और दिल्ली से पंजाब की ओर प्रस्थान किया। चरितनायक गुरुदेव की सेवा में थे। विहार में एक से एक कठिनाइयाँ सामने आतीं उनको शान्ति पूर्वक सहन करते।

चरितनायक कठिनाइयों से घबराते नहीं थे। उनका जीवन कठिनाइयों से जूझने के लिए बना था पीछे हटने के लिए नहीं। ज्यों-ज्यों कठिनाइयाँ आतीं त्यों त्यों चरितनायक का साहस और अधिक बढ़ता। लंबा विहार करने के बाद जब साधु किसी अपरिचित नवीन गाँव में पहुँचते तो सब थके हुए होते। आहार पानी के लिए कौन जाए? चरितनायक सबसे पहिले पात्र लेकर तैयार होते और आज्ञानुसार प्रसन्नभाव से आहार-पानी आदि से सेवा करते। वे थकना नहीं जानते थे। यदि थके हुए भी होते तो सेवा से मुँह मोड़ना उनकी प्रकृति में नहीं था।

लंबे और निरन्तर के विहारों में प्रायः तपस्या नहीं की जाती है। परन्तु चरितनायक इस लंबी विहार परम्परा में भी आठम पक्खी का व्रत नहीं छोड़ते थे। विहार भी करना और साथ ही उपवास भी रखना। और इस पर पारणे के दिन दूध आदि का उचित योग भी न मिलना। कितना साहस एवं उत्साह से भरा हुआ जीवन था हमारे चरितनायक का!

चरितनायक का साधुत्व किसी सांसारिक सुख सुविधा के अभाव का परिणाम नहीं था। उनका साधुत्व जीवन की अन्तरतम वैराग्य ज्योति से निकल कर आया था। सांसारिक दृष्टि से कुछ भी सुख सुविधा पाने के उनमें संकल्प ही नहीं थे। उनका मार्ग वैराग्य का मार्ग था—त्याग का मार्ग था। वे आत्मशुद्धि के लिए सब कुछ छोड़ने को तैयार होकर आए थे। सच्ची फकीरी क्या होती है यह उन्हें पहिले से पता था। वे इस मार्ग के कोई अनजान यात्री नहीं थे। उनकी अन्तर्वीणा में यह स्वर अविराम भाव से झंकृत रहता था कि—

"फकीरा फकीरी दूर है, जितनी लम्बी खजूर ।
चढ़े तो चाखे प्रेम रस, गिरे तो चकनाचूर ॥"

यहाँ तो इसी प्रकार तपश्चरण करते और जींद, कैथल, समाना, पटियाला, नाभा आदि क्षेत्रों में धर्म प्रचार करते हुए मुनिमण्डल मालेरकोटला पहुँचा । मालेरकोटले वाले भाई पहिले ही नाभा आदि क्षेत्रों में चातुर्मास की प्रार्थना के लिए समय-समय पहुचते रहे थे । मालेरकोटला जैन श्री सघ का अत्यन्त आग्रह होने से परम प्रतापी (पूज्य श्री) सोहनलाल जी म० तथा श्री गैण्डेराय जी म० ने विक्रम सवत् १६४२ का चातुर्मास यहीं पर किया । दीक्षा लेने के बाद गुरुदेव के साथ चरितनायक का यह पहिला चातुर्मास था ।

मालेरकोटला का क्षेत्र पंजाब प्रान्त में, जैनपुरी के नाम से ख्याति-प्राप्त था । कहते हैं उस समय वहाँ लगभग एक हजार से कुछ अधिक जैनों के घर थे । पाँच सौ घर मालेरिये कहलाते थे और पाँच सौ तपे वाले । ओसवाल समाज भी अच्छी उन्नति पर था । सवत्सरी पर्व पर व्रत तथा पौषध की गणना कभी-कभी २५०० के लगभग होती थी । वह युग धर्माराधन की दृष्टि से सतयुग (चौथे आरे) के समान समझा जाता था । जनता में धर्म ध्यान की श्रद्धा तीव्रगति पर थी ।

महाराज श्री कहा करते थे कि "इतने बड़े विशाल संघ में एकता भी अनुकरणीय थी । तपा वाले ५०० घरों के मुखिया लाला रलाराम जी हकीम तथा मालेरियों के लाला मोहकमचन्द जी थे । श्री सघ में मुखिया का इतना बहुमान था कि वह जो भी कहता, पत्थर की लकीर हो जाती थी । दोनों सघों के मुखियाओं में परस्पर बड़ा भारी प्रेम था । वे एक दूसरे का सदा सम्मान करते थे । आजकल के समान तब अपनी-अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी नहीं पकाई जाती थी ।"

श्रद्धेय गणी जी महाराज के ये शब्द, उस समय के जैनसघों का कितना सुन्दर आदर्श उपस्थित करते हैं । इतने इतने बड़े विशाल सघ और फिर इतना महान सगठन ! सचमुच आदर्श की चीज है । आज वह युग कहाँ है ? आज तो हर जगह सघर्ष है, कलह है । छोटे बड़े की कोई मान मर्यादा ही नहीं रही । हर आदमी नेता बनने की धुन में है । सब लोग सेनापति बनना चाहते हैं, भला सिपाही कौन बने ?

चौधरी की धूम है और चौकीदार कोई नहीं,
सब तो अफसर हैं यहाँ आखिर सिपाही कौन है ?

परन्तु लोग यह नहीं जानते कि सिपाही बने बिना सेनापति नहीं बना जा सकता। पहिले सिपाही बनो और बाद में और कुछ। जनता का सेवक ही जनता का प्यारा नेता बनता है। नेता खुद नहीं बना जाता दूसरों के द्वारा बनाया जाता है। और इस के लिए जनसम्मोहन का सबसे बड़ा मंत्र विनम्र सेवाभाव से सेवा करना है।

जीवन चरित्र के पाठक क्षमा करें, मैं बहुत दूर चला गया हूं। जब कोई बात हृदय को स्पर्श कर लेती है तो आदमी सहसा बहक जाता है। चरित नायक ने बताये हुये उपयुक्त आदर्श संगठन के दृष्टिकोण ने मुझे आश्चर्य में डाल दिया है। तन की और मन की तुलना करता हूं तो हृदय मन की दशा पर खिन्न हो उठता है। यह मैंने उपदेश नहीं लिखा है हृदय की वेदना लिखी है। गणी जीवन के पाठक यहां कुछ देर रुक कर जरा विचार करेंगे तो मुझे प्रसन्नता होगी।

अच्छा तो अब जीवन चरित्र की बात सुनिए। मालेर कोटला का चातुर्मास है। व्याख्यान में विशाल जन मेदिनी एकत्रित होती है। धर्म ध्यान का तपश्चरण का खूब ठाठ लगा हुआ है। कहने वाले कहते हैं कि चातुर्मास में इतना आनन्द कभी नहीं आया।

गुरुदेव श्री गैंडेरायजी महाराज ने इस चातुर्मास में १० दिन की तपस्या की। चरित नायक ने तपश्चर्या के समय गुरुदेव की मन लगाकर सेवा की। सेवा की साधना तो पहिले से भी अभिराम गति से चली आ रही थी। परन्तु तपश्चरण के प्रसंग में चरित नायक ने अपनी समयज्ञता और द्रव्य क्षेत्र काल भाव की जानकारी का अच्छा परिचय दिया। दिन रात सेवा में जुटे रहते।

चरित नायक स्वयं भी तप: साधना में पीछे रहने वाले कहां थे गुरुदेव का प्रभाव शिष्य पर पड़ता ही है। आप भी लम्बी तपस्या चाहते थे परन्तु पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज ने नव दीक्षित को एक दम आज्ञा नहीं दी। अत: आपने दो महीने के लगभग बेले-बेले किया। दो दिन उपवास और तीसरे दिन पारणा। इस प्रकार दो हजार देने एक नव दीक्षित के लिए साधारण बात नहीं है। चरित नायक

दीक्षा लिए हुए अभी एक ही वर्ष तो हुआ था और अवस्था भी तो छोटी ही थी। गुरुजनों की सेवा का भार और इस पर बेले-बेले तपश्चरण भी। गुरुदेव! तुम्हारी दृढ़ता, तुम्हारी ही थी। तुम हर क्षेत्र में अलौकिक थे!

आचार्य श्री का आशीर्वाद

जिस समय चरित नायक जी ने दीक्षा ली उस समय पंजाब जैन स्थानक वासी संघ का नेतृत्व आचार्य पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज के सुयोग्य कर कमलों में था। श्रद्धेय पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज आपके स्वर्गस्थ होने पर आचार्य पद पर विराजमान हुए थे।

पंजाब जैन संप्रदाय, पूज्य श्री अमरसिंह जी महाराज की संप्रदाय के नाम से प्रख्यात है। पूज्य श्री अमरसिंह जी म बड़े ही प्रभावशाली और उग्र क्रिया कारकी आचार्य हो गए हैं। पंजाब संप्रदाय की विभूति एक प्रकार से उन्हीं की तपः साधना का फल है। क्षीण और निस्तेज होते हुए पंजाब जैन संघ में आपके द्वारा ही नव जीवन का संचार हुआ था।

आपके स्वर्गवास होने पर पूज्य श्री रामबक्स जी म आचार्य पद पर आसीन हुए। आप बड़े ही सरल सौम्य एवं विद्वान् मुनि राज थे। समाज का दुर्भाग्य कि आप केवल ११ दिन ही आचार्य पद पर रहे और स्वर्गवासी हो गए। जैन संघ के हृदय पर आघात चोट लगी।

आपके स्वर्गस्थ हो जाने पर पुनः आचार्य पद की समस्या उपस्थित हुई। मुनि मण्डल में इस प्रश्न को लेकर काफी मत भेद चलता रहा। कुछ श्री विलास रायजी म को पूज्य बनाना चाहते थे तो कुछ श्री मोतीराम जी म को। कुछ का विचार श्री सोहनलालजी महाराज के पक्ष में भी था। अन्ततोगत्वा सर्व सम्मति से श्री विलासरायजी महाराज को आचार्य पद देना निश्चित हुआ।

श्री विलासराय जी महाराज बहुत गंभीर एवं निरभिमान मुनि थे। उनका जीवन सरलता की प्रति मूर्ति था। आप आलेरकोटला के रहने वाले अग्रवाल जैन थे। पूज्य श्री अमरसिंह जी म के उपदेश से संसार की स्वयं प्राप्त सुख सुविधा का परित्याग कर साधुत्व ग्रहण किया था। आपकी वैराग्य भावना बहुत उच्च कोटि की थी।

श्री संघ के अत्यन्त आग्रह करने पर आपने आचार्य पद की चादर स्वीकार तो की, परन्तु हाथ की हाथ ही समस्त मुनि मण्डल के समक्ष श्री मोतीरामजी महाराज को अर्पण कर दी। आचार्य पद की अपनी चादर श्री मोतीरामजी म० को उढ़ाते हुए आपने श्री सघ से कहा कि—"आपने मुझ तुच्छ सेवक को जो इतना बड़ा सम्मान अर्पण किया है, मैं इसके लिए सघ का कृतज्ञ हू। किन्तु मै अपने आपको इस योग्य नहीं समझता कि आचार्य पद ग्रहण करूं। श्री मोतीरामजी म० मुझ से कहीं अधिक योग्य एव अनुभवी मुनि राज हैं। अत मेरी अपेक्षा ये श्री सघ की अधिक सेवा कर सकेंगे। मै अपनी ओर से इन्हें आचार्य पद पर स्थापित करता हू।"

श्री विलासरायजी महाराज की इस महान उदारता का सघ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। श्री विलासरायजी म० और श्री मोतीरामजी म० के जय जय कारो स आकाश गूँज उठा। यह है, ऊँची साधुता! कितना सरल तथा अहकार से शून्य जीवन! इस तुच्छ सवक को यह सब पावत्र इतिहास चर्चा, चरित नायक के द्वारा ही प्राप्त हुई है। जीवन चरित्र की सीधी पगडण्डी से मै जरा अलग हो गया हू परन्तु चरित नायक जब कभी इस प्रसग का वर्णन करते तो वे आनन्द मग्न हो जाते थ। उनकी पवित्रात्मा इन महापुरुषों की जीवन कथा में अपूर्व पवित्रता का अनुभव करती थी। वे कहा करते थे कि मैं जो कुछ बना हू, इन्हीं महान आत्माओं के पद चिन्हों पर चलकर बना हू। ये मेरे लिए अधकार में प्रकाशस्तम्भ रहे हैं।

हमारे चरित नायक को, इन दोनो महापुरुषों के प्रथम दर्शन मालेरकोटला के चातुर्मास के बाद समाना में हुए। श्रद्धेय श्री सोहनलाल जी महाराज, खास तौरपर नव दीक्षित को दर्शन कराने समाना पधारे थे। पूज्य श्री मोतीरामजी म० बड़े ही शान्त स्वभावी एव मृदु प्रकृति के आचार्य थे। समस्त मुनि मण्डल, आचार्य श्री के सुयोग्य शासन में परम प्रसन्नता अनुभव करता था।

हमारे चरित नायक आचार्य श्री के दर्शन पाकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उनकी गंभीर मुख मुद्रा, उनका गभीर शास्त्रज्ञान, उनकी प्रभाव डालने वाली गभीर वाणी, चरित नायक के लिए अनुपम आकर्षण पैदा करने लगी। श्री विलासरायजी महाराज के प्रति आचार्य श्री की भक्ति भावना और आदर प्रतिष्ठा बड़ी अपूर्व थी। वे जो भी काम करते, श्री विलासराय जी महाराज से सम्मति लेकर करते। दोनों वयो वृद्धों का प्रेम एक आदर्श प्रेम था। एक

आचार्य थे तो दूसरे सामान्य साधु। परन्तु आचार्य की दृष्टि में सामान्य साधु बड़े थे और सामान्य साधु की दृष्टि में आचार्य। दोनों एक दूसरे को महत्व पूर्ण आदर की दृष्टि से देखते थे। चरित नायक दोनों पूज्यों के इस पारस्परिक सौजन्य एवं स्नेह भाव को देख कर बहुत प्रभावित हुए।

चरित नायक जब दोनों महान् आत्माओं के निकट संपर्क में आए तो सहसा उनकी मधुर कृपा के पात्र बन गए। उनकी भविष्य की ओर झांकने वाली आंखों ने बालमुनि में विलक्षण प्रकाश जग मगाता पाया। चरित नायक की विनय भावना विलक्षण प्रतिभा, वाक् चातुरी और विवेक शीलता को देख कर मुग्ध हो गए। उन्होंने एक दिन श्री गैंडेराय जी म० से कहा— 'तुम भाग्यशाली हो तुम्हें एक योग्य शिष्य मिला है। देखना अच्छी तरह से रखना और शिक्षा पढ़ा कर योग्य बनाना। यह एक दिन पंजाब संप्रदाय के आकाश का उज्ज्वल नक्षत्र बनेगा।'

आचार्य श्री का यह आशीर्वाद, चरित नायक के लिए महा मंत्र बन गया। इतना महान आशीर्वाद पाकर वे अहंकार से मत्त नहीं हुए अपितु और अधिक विनम्र हुए। कर्तव्य की गुरुता को जानकर वे अपनी संपूर्ण शक्ति से अभ्युदय की साधना में लगे। जब भी कभी इधर उधर के प्रसंग होते उन्हें आचार्य श्री का आशीर्वाद याद आता और उन्हें नया बल नयी प्रेरणा दे जाता।

बड़ों के सहज स्वभाव से प्राप्त हुए आशीर्वाद कभी मिथ्या नहीं होते। चरित नायक के प्रति दिया हुआ आशीर्वाद देने वाले पूज्य श्री के सामने ही सफल हो गया था। विक्रम संवत् १९७१ में सर्व प्रथम पूज्य श्री के दर्शन होते हैं और आशीर्वाद मिलता है। इसके पश्चात् चरित नायक बहुत शीघ्र ही शास्त्र ज्ञान अपूर्व क्षमा और शंका समाधान करने की पटुता आदि गुणों में वह विलक्षण प्रगति प्राप्त करते हैं कि जनता में एक प्रकाशमान नक्षत्र के समान चमकने लगते हैं। आठ नौ वर्षों में ही आपने अपनी प्रतिभा का व्याख्यान कला का वह चमत्कार दिखाया था कि बड़े वृद्ध पूज्य श्री मोतीराम जी म० ने लगातार २१ और २२ के दो चातुर्मास अपने पास लुधियाना में कराए। पूज्य श्री आप की भाषण शक्ति तर्क शैली एवं विद्वत्ता पर इतने मुग्ध थे कि जब देखो तब प्रशंसा करते रहते थे।

: १३ :

रावलपिंडी और लाहौर

पंजाब प्रान्त में, रावलपिंडी, जैन संघ का एक विशेष केन्द्र रहा है। धर्म-प्रेम इतना कि कुछ पूछो नहीं। क्या स्त्री, क्या पुरुष, सभी धर्म के गहरे रंग में रँगे हुए। सैंकड़ों कोस दूर आकर मुनि राजों को ले जाना और छोड़ जाना। साथ में पैदल चल कर धर्म प्रचार में खूब अच्छी तरह सहयोग देना। इतनी दूर अनार्य देश में, अपने शुद्ध अहिंसामूलक जैन धर्म पर अडिग रहना, वस्तुत रावलपिंडी के साहसी जैन श्री संघ का ही काम था।

पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज के चरणों में रावलपिंडी संघ की आग्रहपूर्ण प्रार्थना बहुत वर्षों से चल रही थी। पूज्य श्री जा नहीं पा रहे थे, इधर ही धर्म प्रचार में लगे रहते थे। आखिर विक्रम संवत् १९४९ में रावलपिंडी का आग्रह चरमसीमा पर पहुँच गया। पूज्य श्री को अब की बार प्रार्थना स्वीकार ही करनी पड़ी।

रावलपिंडी का विहार बड़ा लम्बा था। मार्ग की कठिनाइयाँ भी कुछ कम नहीं थीं। परन्तु धर्म प्रचार का अदम्य उत्साह रखने वाला मुनिमण्डल, अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता ही चला गया। कितने ही स्थानों पर आहार पानी का अभाव रहा, ठहरने को जगह भी ठीक नहीं मिली, काफी सकट का सामना करना पड़ा। किन्तु धर्म प्रचार के पथ पर चलने वाले महापुरुषों को इस दुःख में भी सुख ही मालूम होता है। हमारे चरितनायक भी पूज्य श्री की सेवा में थे। इस कठोर विहार में आपके धैर्य की पग पग पर परीक्षा होती थी। एक के बाद एक आपत्ति और कठिनाई सामने अड़ती ही रहती थी। परन्तु हमारे चरित-नायक कहीं भी हताश नहीं हुए। पूज्य श्री और श्री गुरुदेव गैण्डेराय जी म के चरण-चिन्हों पर पीछे पीछे शान्तभाव से चलते ही रहे, कहीं भी पिछड़े नहीं।

रावलपिंडी पहुँचे तो जनता में हर्ष का पार न रहा। मुनिराज क्या पहुचे, उनके लिए तो मानों साक्षात् भगवान् ही पधार गए थे। जैन अजैन

जनता दर्शनों के लिए इस प्रकार उमड़ती थी जैसे किसी देवता क
लग रही हो। चातुर्मास के चार महीने बड़े ही आनन्द में धर्म के
में गुज़रे। रावलपिंडी का धर्म ध्यान और तपश्चरण इन दिनों
प्राप्त कर रहा था। चरितनायक कहा करते थे कि अपने चातुम
संवत्सरी पर्व के अगले दिन ८८ अठाइयों का पारणा एक ही
हुआ। जहाँ ८८ अठाइयों की एक ही दिन में पूर्ति हुई हो वहाँ आप
सकते हैं अत मौपध और वृता आदि का तपश्चरण तो कितनी बड़ी
में हुआ होगा!

हा हन्त! काल की गति विचित्र है। समय की ठोकरें किस का
कुछ ही वर्षों में बदल देती हैं। बड़े बड़े साम्राज्य पल भर में इधर
हो जाते हैं। रावलपिंडी के जैन संघ का इतिहास भी समय के फेर से
अपना रूप में बदल जाता है। आज पाकिस्तान बन चुका है भारत
भंग हो चुका है। यवनों के अत्याचार मानवता की सब सीमाओं को
आगे बढ़ गए। मानव किस प्रकार दानव बन सकता है और साम्प्र
संघर्ष का साधारण सा स्फुलिंग किस प्रकार सर्वनाशक दावानल का रू
धर सकता है यह आज छिपने की बात नहीं। नर पिशाचों का नग्न
पाकिस्तान और भारत दोनों ही देशों में अपनी रक्तलीला दिखा चुक
यही कारण है कि आज रावलपिंडी स्यालकोट पसरूर नारोवाल
और लाहौर आदि सुप्रसिद्ध नगरों के विशाल जैन संघ जगह जगह
फिर रहे हैं। दैवी विचित्रा गति। आज इनके मानस में सुख के बा
का अंधेरा छाया है। परन्तु धर्म के प्रभाव से क्या यह दुःख का बा
[illegible] नहीं जाएगा? अवश्य जाएगा।

हाँ जीवन चरित्र का प्रसंग चलिये। हमारे चरितनायक रा
के चातुर्मास में जहाँ तपश्चर्या की साधना में लगे रहे वहाँ अपन
साधना का कार्य भी तीव्र गति से चलाते रहे। चरितनायक की प्रति
स्मरणशक्ति बड़ी अद्भुत था। जो भी शास्त्र पढ़ना आरम्भ करते
करते और शीघ्र ही पूरा करते। शास्त्राध्ययन के लिए केवल प्रतिभा ह
लगन भी बड़े ऊँचे दर्जे की थी। अध्ययन-काल में चार बजे से चार
और रात से पहिले उठते। नींद से अपने को छुड़ाने के लिए, सिर के
का चोटी के द्वारा खूंटे से बाँध कर रखते थे। इस प्रकार पर नींद सता
सकती थी।

चरितनायक अपनी धुन के पक्के थे। जिस ओर भी लगते, पूरी शक्ति से लगते थे। शास्त्राभ्यास में लगे तो उसमें भी चमत्कार कर दिखाया। पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज, शास्त्रों के अगाध पण्डित थे। उन्होंने अपने चिन्तन और मनन के द्वारा शास्त्रों का मर्मस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था। चरितनायक ने आपके पास ही जैन सूत्रों का गम्भीर एवं तत्त्वस्पर्शी अध्ययन किया। चरितनायक की वस्तुस्थिति को समझने और तर्क करने की शक्ति अपूर्व थी। पूज्य श्री आपको पढ़ाते समय विशेष आनन्द अनुभव किया करते थे। योग्य विद्यार्थी को पाकर प्रत्येक गुरु का हृदय उल्लसित हो जाता है।

अस्तु, रावलपिंडी का चातुर्मास हमारे चरितनायक के लिए अध्ययन आदि की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा। चातुर्मास के बाद स्यालकोट की ओर विहार हुआ। रावलपिंडी के भाई काफी अच्छी संख्या में, भक्तिवश मुनि मण्डल के साथ थे और धर्म-प्रचार में सहयोग दे रहे थे। मुनिमण्डल जब किला नामक ग्राम में पहुँचा तो वहाँ पुरपानचो के रहने वाले श्री बिहारीलाल भाई मिले। आप कुछ वर्षों से वैराग्य भाव में रह रहे थे और साधु बनना चाहते थे। घर वालों की आज्ञा न मिलने के कारण अभी तक अपने संकल्प में सफल नहीं हो सके थे। आज्ञा मिलते ही आप पूज्य श्री की सेवा में पहुँचे और दीक्षा के लिये निवेदन किया। रावलपिंडी वाले भाईयों को पता लगा तो उन्होंने वापस रावलपिंडी जाकर दीक्षा देने का आग्रह किया। पूज्य श्री वापस जाना नहीं चाहते थे। परन्तु रावलपिंडी वालों का अत्यन्त आग्रह होने पर वापस रावलपिंडी पहुँचे और बड़े समारोह से दीक्षा संपन्न हुई। नवदीक्षित का नाम, पिंडी की स्मृति में, बिहारीलाल से पिंडीपत रक्खा गया।

रावलपिंडी कुछ दिन रहकर मुनिमण्डल फिर लंबे विहार के मार्ग पर चल पड़ा। ग्रामानुग्राम धर्म प्रचार करता हुआ, मुसलमानों आदि से मांसाहार छुड़ाता हुआ, हिंसक अनार्य प्रदेश में भी अहिंसाभाव की गंगा बहाता हुआ, मुनिमण्डल लाहौर पधारा और संवत् १९४९ का चातुर्मास भी लाहौर में ही सम्पन्न हुआ।

पंजाब प्रान्त में लाहौर प्रारंभ से ही जैन समाज का प्रमुख केन्द्र रहा है। सम्राट अकबर से जैन मुनि शान्तिचन्द्र जी ने, लाहौर में ही बकरीद के अवसर पर हिंसाकाण्ड बंद कराया था। उपाध्याय समय सुन्दर जी ने, लाहौर में रहकर ही 'राजानो ददते सौख्य' इस आठ अक्षर के छोटे से वाक्य के आठ-

जाप धर्म किए थे। यह वही लाहौर है जहाँ चरित नायक के कथनानुसार कभी व्याख्यान में भगवती सूत्र बँचता तो श्रावकों की ओर से भी पच्चीस भगवतीसूत्र खुलते थे। साधारण साधु का साहस नहीं होता था कि वह लाहौर में व्याख्यान के पाट पर बैठे। परन्तु आज वह लाहौर और लाहौर का जैन संघ कहाँ है? पाकिस्तान की कृपा से सारा खेल बिगड़ चुका है। अब तो भविष्य ही बताएगा, लाहौर अपनी पुरानी दशा में कभी आयेगा भी या नहीं?

लाहौर के चातुर्मास में धर्म ध्यान का खूब ठाठ रहा। जैन संघ ने दिल खोल कर दर्शनार्थियों की सेवा की और धर्म प्रचार में हिस्सा लिया। चातुर्मास की समाप्ति पर लाला तुलसीचन्द्रजी ने गुरुदेव पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज के चरणों में प्रार्थना की कि वैरागी लक्ष्मणदास की दीक्षा मुझ सेवक के घर से ही होनी चाहिये। मेरी यह इच्छा बहुत दिनों से है।' वैरागी लक्ष्मणदास को हमारे चरित नायक ने ही धर्म का बोध दिया था और वह चरित नायक के चरणों में ही ज्ञानाभ्यास कर रहा था।

लाला दुनीचंदजी बड़े ही धार्मिक एवं श्रद्धालु श्रावक थे। भला आप की प्रार्थना व्यर्थ कैसे जाती? दीक्षा की स्वीकृति मिल गई और बड़े धूम धाम से दीक्षा की तैयारियाँ होने लगीं। पूज्य श्री एवं चरित नायक नहीं चाहते थे कि इस प्रकार धूमधाम हो। इन्होंने लाला दुनीचन्द आदि लाहौर के दूसरे श्रावकों को इसके लिए निषेध भी किया। परन्तु लाहौर में दूसरे धर्म वालों के यहाँ समय समय पर उत्सव होते रहते हैं अपना कोई भी उत्सव नहीं होता। इसलिए दीक्षा धूम धाम से होनी चाहिये ताकि जैनों के अस्तित्व का भी तो जनता को पता लगे। अस्तु यह वही एक दलील थी जो साधारण रूप में ही जाने वाली दीक्षा को धूमधाम की ओर ले गई।

लाला दुनीचन्दजी ने खर्च का सब उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले रखा था। जैन संघ में प्रेम और संगठन की भावना पूरे यौवन पर थी। अतः समस्त संघ दीक्षा महोत्सव की तैयारी में जुट गया। पंजाब के बहुत से नगरों में निमन्त्रण पत्र भेजे गए। जनता विशाल संख्या में एकत्रित हुई।

परन्तु संसार की दशा बड़ी विचित्र है। यह किसी के शुभ कार्य को अच्छी नज़रों से नहीं देखता। "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" की लोकोक्ति के अनुसार शुभकार्य में विघ्न हुए बिना रहते ही नहीं। अस्तु, इस दीक्षा पर भी धर्म

द्रोही विरोधियों ने उत्पात मचाना शुरू किया। कुछ कट्टर पंथी लोगों ने यह अफवाह फैला दी कि पार्श्वनाथजी की नगी मूर्ति निकाली जायेगी जिससे किसी महान् अनर्थ की आशका है। भोली जनता पथ भ्रष्ट कर दी गई। मामला यहा तक बढ़ा कि पुलिस में झूठी रिपोर्ट कर दी गई। पुलिस ने दगे की आशका से दीक्षा के जुलूस पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इधर जैन सघ जुलूस निकालने पर तुला हुआ था और उधर विरोधी दल इस बात पर अड़ा हुआ था कि कुछ भी हो जाय, हम नगर में जुलूस किसी भी हालत में नहीं निकलने देगे। लाहौर की जनता में व्यर्थ ही एक विकट सघर्ष छिड़ गया।

बाहर से आने वाली जैन-जनता निराश होने लगी। उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिल रही थी। परन्तु ला० दुनीचंद्रजी हताशहोने वाले व्यक्ति नहीं थे। वे अपने सकल्पों के एक महान दृढ़ सहासी सज्जन थे उन्होंने जैन सघ की विशाल सभा में बड़े उत्साह भरे शब्दों में कहा कि "चिन्ता की कोई बात नहीं है। हम अपने सत्कार्य में अवश्य सफलता प्राप्त करेंगे। कोई भी भाई वापस न लौटे। आपकी सेवा के लिए सब प्रकार का प्रबंध है। सप्ताह क्या, महीना भी लगे, तब भी हमें यहा अड़े रहना है और जैन धर्म का गौरव सुरक्षित रखना है।"

लाला दुनीचन्द्रजी डिप्टी कमिश्नर के यहा पहुचे। सब बातों की ठीक ठीक स्थिति उनके सामने रक्खी गई। लाला जी की बातों को डिप्टी कमिश्नर ने ध्यान से सुना और दीक्षा के जुलूस की सहर्ष स्वीकृति दे दी। जुलूस में किसी प्रकार का विघ्न न होने दिया जायगा, इसके लिए अच्छी तरह तसल्ली दी और स्वय भी यथावसर उपस्थित होने के लिए कहा। दीक्षा का उत्सव बड़ी धूमधाम से सपन्न हुआ। जुलूस भजन मडलियों के साथ शहर के मुख्य मुख्य बाजारों और चौराहों से होकर निकला, किसी प्रकार का विघ्न न हुआ।

चरित नायक के सामने यह सब घटना चक्र चल रहा था। जब कभी बात चीत होती तो चरित नायक एक ही उत्तर देते थे—'सत्यमेव जयते नानृतम्।' आखिर सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं। 'सत्ये नास्ति भय क्वचित्'–यदि सत्य है तो फिर भय किस बात का है? वस्तुत सत्य की शक्ति ससार में एक बहुत बड़ी शक्ति है। हाँ, इस पर सुदृढ़ विश्वास होना चाहिए।

। १७ ।

तार्किक के रूप में

पंजाब क्रांति का केन्द्र है। यहां अनेकानेक राज्य क्रांतियां और धर्म क्रांतियां हुई हैं। हिन्दुओं का प्रबल साम्राज्य फिर मुसलमान सिक्ख और अंग्रेजों का शासन। अब पंजाब का बंटवारा होगया है और वह अपने विभक्त रूप में स्वतन्त्र भारत एवं पाकिस्तान की दृश छाया में है। राज्य क्रांतियों का सिलसिला एक के बाद एक चला ही आ रहा है। पंजाब आज से नहीं हजारों वर्षों से युद्ध भूमि के रूप में शूर वीरों का खेल खेलता रहा है।

पंजाब में पन्थों और सम्प्रदायों का दौर भी खूब चलता है। कभी हिन्दुत्व का बोल बाला था तो कभी मुसलमानों का। कभी सिक्ख धर्म का सत श्री अकाल आकाश में गूंजता रहा तो कुछ दिन सात समुद्र पार का ईसाई धर्म भी प्रचार बढ़ाता रहा। स्वामी दयानन्दजी के आर्य समाज की जड़ें भी पंजाब में आकर हो मजबूत हुईं। जैन धर्म ने भी पंजाब में काफी करवटें बदलीं। कभी दिगम्बर तो कभी श्वेताम्बर, कभी स्थानक वासी तो कभी मन्दिर मार्गी खूब अपने तगड़े संघर्ष चलाते रहे।

हाँ तो श्वेताम्बर मूर्ति पूजक संप्रदाय के आचार्य श्री विजयानन्दजी सूरि पंजाब के स्थानक वासियों को अपनी नवीन विचार धारा में दीक्षित करने का प्रबल प्रयत्न कर रहे थे। कुछ स्थानों पर उन्हें साधारण सी सफलता मिल भी गई थी अत उनके हौसले बढ़े हुए थे। श्री विजयानन्दजी श्री आत्मारामजी के नाम से पहिले स्थानक वासी जैन मुनि ही थे। परन्तु पंथ से अलग कर दिए जाने पर आप गुजरात में जाकर मूर्ति पूजक संप्रदाय में सम्मिलित हो गए थे और अब पंजाब में अपने विचारों का प्रचार करने आए हुए थे।

श्री विजयानन्दजी के मार्ग में मुख्य बाधक महाप्रतापी पूज्य श्री अमरसिंहजी महाराज थे। जब तक वे विद्यमान रहे, कहीं अच्छी तरह पर नहीं

लगने दिए। उनके स्वर्गवास के बाद श्री विजयानन्दजी को आशा थी कि अब कुछ सफलता प्राप्त होगी। परन्तु अब उन्हें श्रद्धेय श्री सोहनलाल जी महाराज के गंभीर शास्त्र ज्ञान से टक्कर लेनी पड़ी । पंजाब में स्थानकवासी जैन धर्म की रक्षा करने का श्रेय सर्वोपरि पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज को मिलता है। उन जैसी महान् आत्माएं ही वस्तुत धर्म की रक्षा कर सकती हैं।

विक्रम संवत् १९४७ का चातुर्मास श्री विजयानन्दजी का मालेर कोटला निश्चित हुआ था। इस पर मालेर कोटला के स्थानक वासी जैन संघ ने जैनाचार्य पूज्य श्री मोतीरामजी महाराज के चरणों में प्रार्थना की कि 'आपका चातुर्मास हमारे यहां होना चाहिए । अवलम्बन हीन जनता संभव है भ्रांति में पड़ जाय।''

पूज्य श्री ने धर्म रक्षा की दृष्टि से अपने चातुर्मास की स्वीकृति दे दी और श्री सोहनलालजी म० को भी साथ ही चातुर्मास करने के लिए सूचना भेज दी। यह चातुर्मास बहुत तीव्र संघर्ष का समझा जा रहा था । अस्तु, सर्व श्री विलासरायजी म०, आचार्य पुगव पूज्य श्री मोतीरामजी म० यशस्वी प्रवक्ता श्रद्धेय श्री सोहनलालजी म०, हमारे चरित नायक और नव दीक्षित मुनि श्री लक्ष्मणदासजी का चातुर्मास, बड़ी धूमधाम के साथ मालेर कोटला में हुआ। दोनों ही पक्ष अपने अपने सिद्धान्तों का धड़ल्ले से प्रचार करते रहे। कितनी ही बार शास्त्रार्थ का प्रसंग भी उपस्थित हुआ, परन्तु श्री विजयानन्द जी के पीछे हट जाने से प्रत्यक्ष संघर्ष न हो सका।

चरित नायक के लिए यह चातुर्मास बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण रहा। श्री विजयानन्द जी जैसे प्रौढ़ शास्त्राभ्यासी से प्रत्यक्ष संघर्ष तो नहीं, किन्तु परोक्ष संघर्ष प्राय प्रति दिन ही करना होता था। श्रावकों के द्वारा शास्त्र चर्चाएं चलती रहती थीं। एक से एक बढ़ चढ़कर के युक्तियों के जाल बिछाये जाते और छिन्न भिन्न किए जाते थे। हमारे चरित नायक को अपने शास्त्राभ्यास की परीक्षा के लिए कसौटी मिली । श्री सोहनलालजी महाराज के साथ साथ चरित नायक भी शास्त्रचर्चा में भाग लेते थे और अपने पक्ष का प्रमाण पुरस्सर प्रबल समर्थन करते थे। आपके सर्वथा नवीन युक्तिवाद एव शास्त्रज्ञान को देखकर, पूज्य श्री मोतीरामजी म० तथा श्री सोहनलालजी महाराज, अत्यन्त हर्ष अनुभव करते थे। चरित नायक के पास रहने से उनका अधिकतर भार हलका हो गया था । शास्त्रचर्चा आदि के लिए बहुत कुछ उत्तरदायित्व चरित नायक ने अपने ऊपर लिया हुआ था।

चातुर्मास समाप्त होते ही श्री विजयानन्द सूरि (आत्माराम) जी ने लुधियाना और जालन्धर होते हुए होशियारपुर ज़िले के अन्तर्गत मियानी टांडा, उड़मड़ देनापुर आदि ग्रामों की ओर विहार किया। ये सब के सब ग्रेम स्थानकवासी थे इन्हें सूरिजी अपने प्रभाव में लेना चाहते थे। सूरिजी के साथ साधुओं का विशाल दल था। लगभग वहां पर पचास साधुओं का ज़बर्दस्त जत्था अपने विजय पथ पर अग्रसर हो रहा था।

स्थानक वासी जैन मुनि मण्डल में भी इस सम्बन्ध में विचार विमर्श हुआ हमारे चरित नायक ने प्रार्थना की कि यदि आज्ञा हो तो मैं प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उधर जा सकता हूं। विश्वास रखिए आपका यह तुच्छ सेवक पूर्ण सफलता के साथ आपके मिशन को पूरा करेगा स्थानकवासी जैन धर्म की कुछ भी हानि नहीं होने देगा। आपने बहुत कुछ कार्य किया है। अब की बार यह सेवा मुझे सौंपनी चाहिए।

चरित नायक के उत्साह को देखकर उपस्थित मुनि वृन्द बहुत ही प्रभावित हुआ। पूज्य श्री सोहनलालजी म. चातुर्मास में आपकी तर्क बुद्धि का चमत्कार देख चुके थे अतः प्रसन्नता के साथ आज्ञा प्रदान कर दी गई। चरित नायक अपने एक मात्र शिष्य लक्ष्मणदास को लेकर सहर्ष अपनी विजय यात्रा के पथ पर चल पड़े। आपने अपने पास श्री विजयानन्द सूरि जी की लिखी हुई सम्यक्त्व शल्योद्धार नामक पुस्तक रख छोड़ी थी। उन्हीं की पुस्तक से उन्हीं का खण्डन यह चरित नायक की अपनी अनोखी विशेषता थी। सूरिजी जहां भी पहुंचते वहीं चरित नायक भी पहुंच जाते और सच्चे जैन धर्म का जय घोष जनता के हृदय में गुंजा देते।

सम्वत् १९४० था माघ का महीना। सूरिजी अपने दल बल के साथ टांडा नगर में विराजमान थे। भोली जनता पर जादू की अनोखी किरणें डाल रहे थे सूरिजी अपनी सफलता पर मुग्ध थे। परन्तु ज्यों ही चरित नायक वहां पहुंचे और सिंह गर्जना की तो सारी स्थिति ही बदल गई। जो लोग कुछ डगमगा रहे थे, वे चरित नायक के तर्क पूर्ण प्रवचनों से संभल गए।

चरित नायक ने देखा कि परोक्ष संघर्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष संघर्ष का प्रसंग उपस्थित करना चाहिए। बिना प्रत्यक्ष संघर्ष के साधारण जनता वस्तु स्थिति को अच्छी तरह नहीं समझ सकती। चरित नायक स्वभाव से ही निर्भय एवं निष्कंप प्रकृति का व्यक्तित्व रखते थे। भय और आशंका तो उन्हें स्पर्श तक न कर पाते थे।

किसी भी निश्चय पर एक बार पहुंच जाते तो फिर विना किसी भय और आशंका के पूर्ण दृढ़ता से अड़ जाते। वापस लौटना, उनकी प्रकृति में नहीं था।

अस्तु, चरित नायक ने सिंह गर्जना के साथ आचार्य श्री विजयानन्द सूरि जी को शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया। केवल मौखिक गर्जना ही नहीं, अपनी ओर से शास्त्रार्थ के लिए कुछ लिखित प्रश्न भी किए। परन्तु सूरिजी मौन व्रत अपनाते हुए विहार कर गए, कोई उत्तर नहीं दिया। वह वयोवृद्ध आचार्य समय की गति को परख रहा था। उसके सामने तेजस्वी के रूप में एक अदम्य शक्ति अड़ना चाहती थी। सूरिजी, इस उठती हुई नयी शक्ति से संघर्ष करते हुए कतरा रहे थे।

सूरिजी ने चुपचाप विहार कर दिया तो उनके साथ ही उनका प्रभाव भी चुपचाप विदा हो गया। इस प्रकार मौन साध कर चुपचाप चले जाना, उनके लिए अच्छा नहीं हुआ। जिन टांडा, उडमड, ऐयापुर आदि में अपना प्रचार करने गए थे, वहां सूरि जी को वह पराजय देखनी पड़ी कि फिर कभी भी इन क्षेत्रों में पैर नहीं जम सके। चरित नायक ने उन दिनों जो सत्प्रयत्न किए, उनकी सफलता का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि ये क्षेत्र आजतक स्थानक वासी जैन हैं। समय अपनी मंथर गति से कितना आगे बढ़ आया है, उस युग की शताब्दी पूर्ण हो चुकी है और नया शताब्दी का युग आ चुका है परन्तु चरित नायक के महान व्यक्तित्व का प्रभाव आज भी इन क्षेत्रों में सर्वथा अक्षुण्ण है। गणी श्री उदयचन्द्र जी का नाम, प्रान्त के बच्चे बच्चे की जबान पर है और वह है पूरे आदर सम्मान के साथ।

प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार बुद्धिमान पाठकों पर ही छोड़ रहा हूं। गणी जी महाराज क्या थे और उनकी प्रतिभा एवं तर्क शक्ति किस कोटि की थी, इसका निर्णय करने के लिए ऊपर की पंक्तियों का पढ़ जाना ही पर्याप्त होगा। कितनी छोटी अवस्था है, दीक्षा लिए अभी केवल छः ही वर्ष तो हुए हैं फिर भी न्यायाम्भोनिधि श्री विजयानन्द सूरि जैसे लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों से टक्कर लेना और उन्हें चुप कर देना, कुछ साधारण बात नहीं है। ज्ञानावरण कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम के द्वारा प्राप्त तर्कशील प्रतिभा ही, इस प्रकार के विलक्षण चमत्कार दिखा सकती है। एक से एक पण्डित कहे जाने वाले पच्चीस साधुओं के विशाल दल से अकेले ही जाकर अड़ जाना, और उनकी भयंकर तर्क रूप गोले बरसाने वाली वाणी रूप तोपों को सर्वथा ठंडी

का देना बड़े ही उग्र साहस एवं सतर्क पाण्डित्य का काम है। योग्य गुरु का योग्य शिष्य ही इतने महत्व एवं कर्तव्य पर नियुक्त किया जाता है। श्री गणी जी महाराज वस्तुतः योग्य गुरु के योग्य शिष्य थे।

: १५ :

शास्त्रार्थ नाभा

मनुष्य-जीवन उतार-चढ़ाव का जीवन है। जितने रंग-रूप यह बदलता है, उतने और कोई जीवन नहीं बदलता। यही कारण है कि मनुष्य कभी चचल एवं उद्दण्ड प्रकृति का होता है तो कभी सरल, गम्भीर एव शान्त प्रकृति का हो जाता है। कभी कषाय भावना में बहता है तो कभी वीतराग भाव की साधना करता है। कभी मानव अति मानवता की ओर बढ़ता है तो कभी अपमानवता की ओर लौट पड़ता है। मनुष्य की परस्पर विरोधी प्रकृतियों के विचित्र खेल का पता, पूर्ण रूप से केवल ज्ञानी के अतिरिक्त और कौन लगा सकता है ?

आज के आचार्य श्री विजयवल्लभजी सूरि और उस युग के प० श्री वल्लभ विजयजी प्रारम्भ से ही विचित्र प्रकृति के स्वामी रहे हैं। मूर्तिपूजक श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में न्यायाम्भो निधि आचार्य श्री विजयानन्द सूरिजी एक प्रतिष्ठित मुनि हुए हैं। हमारे चरितनायक से मालेर कोटला और टांडा आदि क्षेत्रों में आप का परोक्ष सघर्ष हुआ है, यह पाठक पहिले के पृष्ठों में पढ़ भी चुके हैं। श्री वल्लभ विजयजी, इन्हीं आचार्यजी के प्रिय एवं योग्य शिष्य हैं।

जिन दिनों की चर्चा हम उपस्थित करना चाहते हैं, उन दिनों श्री वल्लभ विजयजी बिलकुल तरुण थे और उनका स्वभाव भी ठीक तरुण जैसा ही था। सस्कृत प्राकृत का खासा अच्छा अध्ययन किया था और अपनी समाज में प्रतिष्ठा का प्रवाह वेग से बढ़ा जा रहा था। परन्तु यह नया पाण्डित्य उनके नियन्त्रण में नहीं रह रहा था। नया पाण्डित्य और नई प्रतिष्ठा, कभी-कभी पचते नहीं हैं और मनुष्य को बेचैन कर देते हैं।

श्री वल्लभ विजयजी अपने गुरुदेव के पन्थ का महत्त्व बढ़ाने में अबाधु ध गति से काम ले रहे थे। मताग्रह का आवेश, मनुष्य की विवेक बुद्धि को कुण्ठित कर देता है। वह उचित अनुचित का कुछ भी विवेक रखे बिना, अपना और अपने पथ आदि का महत्त्व बढ़ाना चाहता है और जनता पर छा जाना

जाता है। यह किसी एक व्यक्ति का दोष नहीं है प्रत्युत मानव प्रकृति की दुर्बलता का दोष है।

हाँ तो पं. श्री वल्लभ विजयजी विक्रम सम्वत् १९६१ वैशाख में नाभा नगर में विराजमान थे और उन्हीं दिनों सौभाग्य से परम प्रतापी जैनाचार्य पूज्यश्री सोहनलालजी महाराज चरितनायक के दादा गुरु भी नाभा नगर में ही धर्म-प्रचार कर रहे थे। पूज्यश्री सोहनलालजी महाराज का व्यक्तित्व महान था। जहाँ भी विराजते जनता में अपूर्व आनन्द एवं हर्ष की लहर दौड़ जाती था। व्याख्यान आदि में जनता की उपस्थिति विराट संख्या में होती थी खासा अच्छा धर्मोद्योत हो रहा था। कोई कलह नहीं कोई संघर्ष नहीं। सब प्रकार की शान्ति थी।

परन्तु श्री वल्लभ विजयजी की उद्दाम प्रकृति कब शान्त रहनेवाली थी। आप तत्कालीन नाभा नरेश श्रीमान् हीरासिंहजी के पास महलों में पहुँचे और स्थानकवासी मुनि राजों से शास्त्रार्थ करने के लिए विशेषतः पूज्यश्री सोहनलालजी महाराज से संघर्ष करने के लिए लिखित निवेदन पत्र उपस्थित किया। नाभा नरेश ने अपने विशेष अधिकारी भाई तारासिंहजी के द्वारा पूज्यश्री सोहनलालजी महाराज की सेवा में शास्त्रार्थ करने के लिए सूचना भेजी। पूज्यश्री ने उत्तर में कहा कि "वल्लभ विजयजी से तो क्या उनके गुरु श्री विजयानन्द सूरिजी से भी मैं कितनी ही बार शास्त्र चर्चा का संघर्ष कर चुका हूँ। इन शास्त्रार्थों का कोई निर्णय नहीं निकलता। व्यर्थ का कलह होता है और जनता में साम्प्रदायिक कटुता बढ़ती है। यदि वल्लभ विजयजी को शास्त्रार्थ का आग्रह ही है तो वह मेरे शिष्यानुशिष्य उदयचन्द्र मुनि से कर सकते हैं। श्री वल्लभ विजयजी अपनी सम्प्रदाय के माननीय आचार्य अथवा अधिकार प्राप्त विद्वान नहीं हैं जो मैं उन अल्पवय व्यक्ति से शास्त्रार्थ करता अच्छा लगूँ।

श्री वल्लभ विजयजी के पास अधिकारी सूचना लेकर पहुँचे तो चरितनायक का नाम सुनकर इन्कार करने लगे। चरितनायक के विलक्षण पाण्डित्य की कुछ-कुछ झाँकी अपने गुरुदेव के साथ समाना नगर के संघर्ष में देख चुके थे। चरितनायक के द्वारा नगर वाले प्रश्नों का उत्तर आज तक नहीं दिया गया था। वे प्रश्न श्री वल्लभ विजयजी को अब भी याद थे। परन्तु जब अधिकारी ने यह कहा कि "आप स्वयं ही महाराजा के पास शास्त्रार्थ की माँग करने पहुँचे हैं अब क्यों इन्कार करते हैं? पूज्यश्री सोहनलालजी ने ही

शास्त्रार्थ करने में कौन सी बात है ? वे आचार्य हैं और आप सामान्य साधु, अत एक आचार्य सामान्य साधु से शास्त्रार्थ करता अच्छा नहीं लगता। जब वे अपने शिष्य को शास्त्रार्थ करने के लिए अपनी ओर से नियुक्त करते हैं फिर क्या हानि है ?"

आखिर श्री वल्लभ विजयजी ने चरितनायक के साथ शास्त्रार्थ करना स्वीकार किया, परन्तु इस शर्त के साथ कि उदयचन्द्रजी के पराजय को क्या श्री सोहनलालजी अपनी पराजय स्वीकार करेंगे ? अधिकारियों ने जब पूज्यश्री से जाकर निवेदन किया तो पूज्यश्री ने बिना किसी सकोच के स्पष्टत उत्तर दिया कि "हां, मैं यह स्वीकार करता हू कि यदि उदयचन्द्र की पराजय हुई तो वह मेरी अपनी पराजय होगी। उदयचन्द्र जो कुछ भी करे, वह मुझे और मेरे संघ को सब प्रकार से मान्य है।"

जीवन चरित्र के पाठक कुछ देर ठहर जायें और विचार करें कि पूज्यश्री सोहनलालजी महाराज को चरितनायक पर कितना दृढ विश्वास था। चरितनायक के विलक्षण पाण्डित्य एव प्रतिभा पर पूरा भरोसा था कि वह शास्त्रार्थ के रणक्षेत्र में कभी भी मार न खानेवाला अजेय योद्धा है। कोई भी महान् आचार्य, इतना बड़ा वचन, किसी जाने हुए विश्वस्त व्यक्ति के सम्बन्ध में ही दे सकता है, अन्यत्र नहीं।

इधर नाभा में शास्त्रार्थ की भूमिका रची जा रही थी और उधर चरितनायक नाभा से बहुत दूर दुआबा प्रदेश के बलाचौर नगर में विराजमान थे। पूज्यश्री ने नाभा के जैन श्रावकों का शिष्टमण्डल बलाचौर भेजा और शास्त्रार्थ के लिए नाभा आने का निमन्त्रण दिया। चरितनायक के लिए शास्त्रार्थ का शब्द ही सबसे बड़ा निमन्त्रण था। साथ ही पूज्यश्री की आज्ञा थी, वह उत्साह में और अधिक उत्साह का कारण बनी।

वैशाख का महीना समाप्ति पर था। गरमी बड़े जोर से पड़ रही थी। पजाब में इन दिनों कितनी कड़ी धूप पड़ती है, यह भुक्त भोगी ही जान सकते हैं। इस पर एक और आतक यह कि मार्ग में आनेवाले क्षेत्र प्लेगकी महामारी से घिरे हुए थे प्राणों का मोह, लोग गाँव खाली करके भाग रहे थे। बलाचौर के श्रावक चरितनायक के प्रारम्भ से ही विशेष श्रद्धालु एवं भक्त रहे हैं। अत उन्हें जब चरितनायक के निश्चय का पता लगा तो प्रार्थना की कि "गुरुदेव, इतनी अधिक गरमी में इतना लबा विहार, और वह भी शीघ्रता में। आपके स्वास्थ्य की दृष्टि से ठीक नहीं रहेगा। आपका स्वास्थ्य पहिले ही गिरा हुआ

है। (चरितनायक उन दिनों कुछ अस्वस्थ थे) और दूसरी बात यह है कि मार्ग के गांवों में प्लेग का बहुत अधिक जोर है। खुद नाभा में भी प्लेग फैल रही है। लोग घर बार छोड़ कर भागे जा रहे हैं और आप उलटे उन गांवों में जा रहे हैं। कोई कारण हो जाय तो कितनी अधिक चिन्ता की बात होगी?

चरितनायक ने बड़ी दृढ़ता के साथ बात को बीच में ही भंग करते हुए कहा कि "यह समय स्थानक वासी जैन धर्म की गौरव रक्षा का है। मेरा स्वास्थ्य कैसा ही हो प्रकृति की अनुकूलता कितनी ही कम हो मार्ग में प्लेग तो क्या साक्षात् मृत्यु भी क्यों न नाच रही हो उदयचन्द्र अपने कर्तव्य से भ्रष्ट नहीं हो सकता। मैंने अपना जीवन जिस शासन की सेवा में अर्पण किया हुआ है। जब भी और जहाँ भी आवश्यकता हो निर्संकोच भाव से काम करने के लिए ही मेरा अस्तित्व है। आप देखते नहीं आचार्य श्री जी की आज्ञा है। उदयचन्द्र जहां अपने शिष्यों को अनुशासन में रखना जानता है वहां वह स्वयं भी अनुशासन में रहना जानता है। आज प्रार्थना सुनने का समय नहीं है काम करने का समय है।"

चरितनायक लगातार लंबा विहार करके नाभा पहुंचे। नाभा के स्थानकवासी जैन श्री संघ ने चरित नायक का बड़े भारी उत्साह के साथ स्वागत समारोह किया। सारे नगर में धूम मच गई कि शास्त्रार्थ करने के लिए पं श्री उदयचन्द्रजी महाराज पधार गए हैं। अजैन जनता में भी इस शास्त्रार्थ को लेकर खासी अच्छी चहल-पहल हो रही थी।

पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज ने चरित नायक के ठीक समय पर आ जाने के संबन्ध में प्रसन्नता प्रकट की। शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में उचित सूचना और परामर्श दिया। यद्यपि चरितनायक के साथ उनके अपने योग्य शिष्य पं श्री रत्नचन्द्रजी महाराज सहयोगी के रूप में थे। श्री रत्नचन्द्रजी म अपने गुरुदेव के समान ही प्रतिभाशाली एवं शास्त्राभ्यासी थे। चरितनायक की सेवा में रहकर शास्त्रार्थकला में विचक्षण बन चुके थे। अतएव चरितनायक ने पूज्य श्री की सेवा में निवेदन किया कि आपकी कृपा से सब कुछ ठीक है। रत्नचन्द्र सहयोगी है बस मुझे और कोई आवश्यकता नहीं। फिर भी पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज ने बहुसूत्री पं श्री कर्पूरचन्द्रजी महाराज को शास्त्रों के पाठ आदि दिखलाने के लिए सहयोगी के रूप में नियुक्त किया और आप मालेरकोटला की ओर विहार कर गए।

शास्त्रार्थ के लिए होने वाली चर्चा ने अपना कदम आगे बढ़ाया। श्री

वल्लभ विजयजी को जब यह मालूम हुआ कि उदय चन्द्रजी शास्त्रार्थ के लिए आ चुके हैं और पूज्य श्री विहार कर गए हैं तो फिर उलटी-पुलटी बातें करने लगे। उन्होंने पुन हठ पकड़ा कि मैं तो पूज्य श्री सोहनलालजी से ही शास्त्रार्थ करूँगा, उदयचन्द्रजी से नहीं। चरित नायक की ओर से शास्त्रार्थ की दृढ़ता को देखकर श्री वल्लभ विजय जी सकोच में पड़ रहे थे और किसी-न-किसी प्रकार शास्त्रार्थ करने से बचना चाहते थे। परन्तु चरितनायक ने स्पष्ट कह दिया कि "हमारे महान पूज्य श्री आप जैसे सामान्य साधुओं से शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते। मुझे सर्वाधिकार देकर इस कार्य के लिए नियुक्त किया है। अत पहिले मुझे पराजित कीजिए, फिर पूज्य श्री से शास्त्रार्थ करने की बात करना।" आखिर श्री वल्लभ विजय जी को तैयार होना ही पड़ा।

यह नाभा शास्त्रार्थ पजाब के जैन और अजैन समाज में सुप्रसिद्ध है। दोनों सम्प्रदायों की ओर से दो माने हुए विद्वानों का यह विचार सघर्ष, वस्तुत उस युग में जनता के लिए बड़े आकर्षण की चीज थी। बाहर के अनेकानेक क्षेत्रों के श्रावक भी दोनों सम्प्रदायों की ओर से एकत्र हुए थे, फलत कुछ दिनों तक एक खासी अच्छी चहल पहल बनी रही। शास्त्रार्थ, नाभा नरेश के ज्ञानगोष्ठी भवन में होता था, जिसमें स्वय महाराजा हीरासिंह और दूसरे भाई कहानसिंह, प० श्रीधर जी, बाबा परमानन्द जी आदि प्रतिष्ठित विद्वान उपस्थित रहते थे।

शास्त्रार्थ का मुख्य विषय, मुखवस्त्रिका बाँधने और न बाँधने के सम्बन्ध मे था। बीच-बीच में मूर्ति पूजा, पात्र उपकरण की मर्यादा, शुद्धि की चर्चा भी विस्तार के साथ होती रहती थी। चरित नायक की प्रशान्त भावना, गम्भीरता और विद्वत्तापूर्ण तर्क शैली का वह चमत्कार पूर्ण प्रभाव पड़ा कि विरोधी पक्ष के लोगों ने भी चरित नायक की मुक्त कठ से प्रशसा की। श्रीमान् नाभा नरेश हीरासिंहजी तो महाराज श्री के उत्कृष्ट वैराग्य, त्यागवृत्ति एव पाण्डित्य पर इतने अधिक मुग्ध थे कि जब देखो तब गुणानुवाद करते रहते थे।

शास्त्रार्थ की समाप्ति नाभा नरेश महाराजा हीरासिंह के उस घोषणा पत्र से हुई जिसमें हमारे चरित नायक के पक्ष में स्पष्टत अपना अभिप्राय प्रकट किया गया था। सरकारी घोषणा में कहा गया था कि "श्री उदयचन्द्रजी महाराज का पक्ष पुरानी परम्परा के अनुसार है। हमारी सम्मति में जो वेष और चिन्ह (मुख वस्त्रिकादि) जैनियों के लिए शिव पुराण में

लिखे हैं, वे सब नहीं हैं जो आजकल स्थानकवासी साधु रखते हैं। वास्तव में अपने प्राचीन चिन्हों का रखना ही उचित है।' उक्त घोषणा पत्र के प्रकाशित होते ही चरितनायक के जयकारों से आकाश गूंज उठा। पंजाब के सब क्षेत्रों में तार द्वारा विजय की सूचना दे दी गई थी। श्री वल्लभ विजय जी इस पराजय से अत्यन्त कुण्ठित हुए। उन्होंने चाहा कुछ और था और हुआ कुछ और ही। भाग्य का विधान प्रबल है। मूर्ति पूजक वर्ग के प्रमुख भाई श्री बीसारामजी महाराजा नाभा नरेश हीरासिंहजी के अत्यन्त प्रिय पात्र थे। श्री वल्लभ विजय जी ने इन्हीं के विश्वास पर नाभा नरेश की अध्यक्षता में शास्त्रार्थ करने की योजना बनाई थी और मुफ्त-मुफ्त विजय का सेहरा बांधना चाहा था। परन्तु सत्य की भी कोई शक्ति होती है। सत्य के समक्ष बड़ी-से बड़ी सिफारिश के लिए भी खड़े होने की शक्ति नहीं है। भारतीय संस्कृति का यह अमर जय घोष है कि 'सत्यमेव जयति नानृतम्।' और यह अमर घोष कभी मिथ्या प्रमाणित नहीं हुआ।

जीवन चरित्र के पाठक शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त करना चाहते होंगे। मैं अपने स्नेही बन्धुओं को सूचित कर देना चाहता हूँ कि यहाँ केवल शास्त्रार्थ की पृष्ठ भूमि आदि का ही वर्णन किया है। शास्त्रार्थ लंबा है और उसके सम्बन्ध में शास्त्रार्थ नाभा के नाम से एक स्वतंत्र पुस्तक जैन धर्म प्रचार सामग्री भण्डार-सदर बाजार-देहली से प्रकाशित हो चुकी है। विशेष जिज्ञासा रखने वाले सज्जन उक्त पुस्तक का अवलोकन कर सकते हैं।

श्रद्धेय चरित नायक की तर्क शक्ति का यह अद्भुत चमत्कार था कि इस प्रकार अचानक सूचना पाते ही शास्त्रार्थ के लिए चल पड़े और बिना किसी पूर्व तैयारी के अभूत पूर्व विजय प्राप्त की। यह शास्त्रार्थ कुछ साधारण शास्त्रार्थ नहीं था। वादी के रूप में श्री वल्लभ विजय जी के साथ संघर्ष था जो उस युग में एक बेजोड़ वावदूक समझे जाते थे। मध्यस्थ भी एक राजा जिसके सामने उन दिनों साधारण मनुष्य आतंक के कारण बोलना भी भूल जाता था। परन्तु हमारे चरित नायक निर्भय साहस की अलौकिक मूर्ति थे। किसी प्रकार का भी भीषण आतंक हो उन्हें किसी भी दशा में स्पर्श नहीं कर सकता था। आप नाभा नरेश के समक्ष विशाल सभा में सिंह के समान गर्जते रहे। जब आपने नाभा नरेश के समक्ष शास्त्रार्थ करना स्वीकार किया तो साथ के एक साधु ने कहा कि महाराज राज सभा का काम है। राजा के समक्ष शास्त्रार्थ करना ठीक नहीं है। जरा इधर उधर सोचा आप तो स्वयं

की गड़बड़ हो जाय।" महाराज श्री ने प्रसन्न मुद्रा से कहा—"डरते हो ? राजा है या और कोई है, हमें इससे क्या ? हमें तो सत्य सुनाना है। साक्षात् इन्द्र के सामने भी मुझे सत्य के समर्थन में कोई संकोच नहीं है। भय और आतंक, असत्य के लिए हैं। सत्य तो इन सब द्वन्द्वों से ऊपर रहता है। इधर-उधर बोले जाने का भी क्या अर्थ ? साधु को जब भी बोलना है, विवेक से बोलना है। और जहाँ विवेक है, वहाँ गड़बड़ के लिए कोई गुंजाइश नहीं।"

चरित नायक की विलक्षण प्रतिभा और अजेय निर्भयता का प्रतीक नाभा शास्त्रार्थ, पञ्जाब प्रांतीय स्थानकवासी जैन समाज के इतिहास में चिरंजीव रहेगा। हम जब कभी इतिहास के इस उज्ज्वल पृष्ठ को देखेंगे, चरित नायक के प्रति श्रद्धा से मस्तक झुकाएँगे और कुछ देर के लिए धर्म गौरव की पवित्र भावना में बह जायँगे।

जैन धर्म की गौरव-रक्षा

गुजरात काठियावाड़ के सुदूर कोने से चमकती हुई एक शक्ति ने अपना प्रभाव सुदूर पंजाब तक फैलाया था। एक नन्ही सी चिनगारी दावानल का रूप धारण कर गई। स्वामी दयानन्दजी के द्वारा स्थापित आज का आर्यसमाज अपनी सुधार भावना के कारण काफी लोकप्रिय हो गया था। पंजाब के आँगन में आर्यसमाज का पहिया और बड़ी तीव्र गति से चल रहा था।

जहाँ तक हिन्दु जनता में सुधार-भावना उत्पन्न करने और कुप्रथाओं के मिटाने का प्रश्न है वहाँ तक तो आर्यसमाज का कार्य भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण है। उसे साम्प्रदायिक कलम की नोक से कम नहीं किया जा सकता। परन्तु जहाँ आर्यसमाज भारत की जनता में सर्जनात्मक काम कर रहा था वहाँ विध्वंसात्मक काम भी कुछ कम नहीं कर रहा था। प्रत्युत सर्जन की अपेक्षा उसकी शक्ति संहार में अधिक लग रही थी। सोडावाटर की बोतल के समान क्रोध काबू में नहीं था। प्रत्येक धर्म और संप्रदाय की नुक्ताचीनी करना, हर किसी पर टीका-टिप्पणी कर देना आर्यसमाजी भक्तों का उन दिनों एक साधारण काम था। और ऐसा करते समय उचित अनुचित सत्य असत्य आदि का कुछ भी विवेक नहीं रक्खा जा रहा था। आर्यसमाज की ओर से की जाने वाली आए दिन की छेड़छाड़ से धर्मों के क्या सनातनी क्या जैनी और क्या सिक्ख सभी लोग तंग आए हुए थे। आपस की साम्प्रदायिक सद्भावना समाप्त हो रही थी और धर्म के नाम पर स्पर्धा की कटुता बढ़ती जा रही थी।

आज के पूर्वी पंजाब में मुकेरियाँ एक छोटा-सा कसबा है। आर्यसमाज की लहर उन दिनों वहाँ भी पहुँची और थोड़े दिन के लोगों में उसने जोरदार उथल-पुथल मचा दी। गाँव के नये रंगरूट अपने आपको काबू में न रख सके, फलतः अपने पड़ौसी बन्धुओं पर मर्मभेदक छींटाकशी करने लगे। जैन धर्म भी इनके आक्रमणों से बच न सका। जब देखो तब जैनों को नास्तिक कहना, ईश्वर के विद्रोही बताना अहिंसा का मजाक उड़ाना जैन कथा कहानियों को लेकर अंट-संट गप्प मारना। मुकेरियाँ के जैन भाई इस

प्रकार की अनुचित हरकतों से तंग आ गए। कुछ जैन संत आए गए भी, परन्तु वे इतने योग्य नहीं थे कि आर्यसमाजी बन्धुओं को सप्रमाण उत्तर देते और जैन धर्म के गौरव की रक्षा करते।

श्रद्धेय चरितनायक जब मुकेरिया के आसपास के क्षेत्रों में धर्म प्रचारार्थ विचरण कर रहे थे, तब मुकेरिया के जैन श्रावकों का एक शिष्टमंडल महाराज श्री की सेवा में पहुंचा और अपने क्षेत्र की उपयुक्त स्थिति उनके समक्ष निवेदन की। श्रावकों का कहना था कि "महाराज श्री, अब तो आप पर ही हमारा भरोसा है। आप पधारेंगे और विरोधी वर्ग को सप्रमाण उत्तर देंगे, तभी हम गौरवपूर्वक मुकेरियां में रह सकेंगे, अन्यथा हमारा जीवन दिन रात अपने धर्म की निन्दा सुनते-सुनते निष्प्राण-सा हो गया है। संभव है, नई पीढ़ी आर्यसमाज के प्रवाह में बह जाय और जैन-धर्म से पराङ्मुख ही हो जाय। आखिर हम कब तक मुँह छिपाए आत्मग्लानि का जीवन यापन करेंगे? हमारी हार्दिक प्रार्थना है कि आप पधारिए और हमारे टूटते हुए दिलों में आत्मगौरव का संचार कीजिए।"

चरित नायक ने यह सुना तो उनका हृदय गद्गद हो गया। श्रावकों के हृदय की मर्मवेदना ने उनके कोमल हृदय को आकुल कर दिया। जैन धर्म पर आक्षेप हों, और वे भी इस प्रकार! चरितनायक के लिए यह सब कुछ असह्य था। उनकी तेजस्वी आत्मा को समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक एवं वादिदेव आदि उन महान् शासन प्रभावक आचार्यों का प्रचण्ड तेज प्राप्त हुआ था, जिन्होंने अपने अपने समय में जैन धर्म के विरोधी दार्शनिकों को अकाट्य मुँहतोड़ उत्तर दिया था और जिन शासन के गौरव को सर्वथा अक्षुण्ण रक्खा था।

चरित नायक ने कहा—"यह काम तो हमारा अपना है। इसके लिए तुम्हारी प्रार्थना की क्या आवश्यकता? जब ऐसी स्थिति है तो तुमने मुझे पहिले ही सूचना क्यों न दी? सूचना के लिए एक मामूली-सा कार्ड ही पर्याप्त था, मैं शीघ्र ही आप के यहां पहुंच जाता। उदयचन्द्र का जीवन, जिन शासन की गौरव रक्षा के लिए सर्वतो भावेन समर्पित है। इस प्रकार के प्रसंगों पर उदयचन्द्र को प्रार्थना की आवश्यकता नहीं, केवल साधारण सी सूचना की आवश्यकता है।"

हां तो हमारे चरितनायक ने बड़े प्रेम और उल्लास के साथ श्रावकों की प्रार्थना स्वीकार की। इधर-उधर के क्षेत्रों की प्रार्थना को अस्वीकार करते हुए,

आप सीधे मुकेरियां पधारे। आपके आगमन से पहिले ही मुकेरियां में धूम
मच गई थी। सुप्रसिद्ध तार्किक श्री उदयचन्द्रजी म० का पधारना विरोधी
विद्वानों के लिए चुनौती थी। उन्होंने शास्त्रार्थ करने के लिए अपनी
तैयारियां पहिले से ही निश्चित कर रक्खी थीं। ज्यों ही चरित्रनायक ने
पदार्पण किया त्यों ही आर्यसमाज के मंत्री अपने तर्क प्रधान साथियों को
लेकर जैन स्थानक में आए और महाराज श्री से शास्त्रार्थ करने के लिए
समय मांगा। महाराज श्री ने पूर्ण प्रसन्नता के साथ १ बजे से ४ बजे तक
का समय दे दिया और ईश्वर जगत्कर्ता है या नहीं ? इस सम्बन्ध में
शास्त्रार्थ करना निश्चित हुआ।

वीर की परिभाषा है—रणक्षेत्र में जाकर पीछे की ओर नहीं देखना।
सच्चा वीर प्रतिद्वन्द्वी को पाकर प्रसन्नता अनुभव करता है विजय पथ पर
अग्रसर होता है वह हिचकिचाकर वापस लौटना कभी जानता ही नहीं।
हमारे चरित्रनायक इसी प्रकार के एक महान् साहसी वीर योद्धा थे। उनका
युद्धक्षेत्र ज्ञान-चर्चा का युद्ध क्षेत्र था। पूर्व जन्म के महान् चमत्कारपूर्ण
संस्कारों के कारण उन्हें वह *विलक्षण प्रतिभा मिली थी कि जो कभी निरुत्साह*
एवं निराशा के अंधकार से घिरती ही न थी।

आप विचार कर सकते हैं कि चरित्र नायक अभी विहार करके पधारे हैं
और आते ही उसी दिन शास्त्रार्थ का निमंत्रण स्वीकार कर लेते हैं। विश्राम
अथवा अभ्यास के लिए कुछ भी समय की अपेक्षा नहीं रखते। साथ के एक
सन्त ने कहा भी कि 'महाराज बहुत शीघ्रता की। आज का ही समय दे
दिया। तैयारी के लिए दो चार दिन का लंबा समय देते तो क्या हर्ज था ?"
महाराज श्री ने अपनी अपूर्व प्रसाद मुद्रा में कहा—'तुम बहुत भोले हो।
तैयारी किस बात की तैयारी ? सिपाही को तो हर सांस तैयार रहना है।
युद्ध क्षेत्र में जाने वाला वीर सैनिक सदा सर्वदा तैयार रहता है उठते
बैठते खाते-पीते सोते-जागते वह रण निमंत्रण की प्रतीक्षा में रहता है
तैयार होने की प्रतीक्षा में नहीं। तुम देख नहीं रहे थे ये लोग कितने उतावले
थे ? इस प्रकार के ज्ञानोन्माद को ठंडा करने के लिए अधिक लंबा समय
हितकर नहीं होता। इसके लिए तो जितनी शीघ्रता हो उतना ही अच्छा।

महाराज श्री ने साधुओं को शीघ्र ही आहार से निपटने के लिए कहा।
साधु आहार लाए और कर ही रहे थे कि शास्त्रार्थ के अभ्यासी आ खड़े
हुए। चरित्रनायक ने गंभीरता के स्वर में कहा कि आप लोग बड़ी शीघ्रता

में हैं ? जब समय नियत कर दिया गया है तो फिर इतनी उतावली करने की क्या आवश्यकता है ? आप अपनी शक्ति को सँभालकर सुरक्षित रखिए। मुझे तो ऐसा मालूम होता है आपकी शक्ति आपके नियंत्रण में नहीं है। कहीं वह भाग कर तो नहीं जा रही है ? मनुष्य के लिए उसकी अनियन्त्रित शक्ति एक धोखा है, अत नियत समय पर जरा सावधान होकर आना। अभी सत आहार कर रहे हैं, अत तुम जैसे लोगों के लिए इतना अधिक छिलछिलापन शोभास्पद नहीं है।"

आर्यसमाज के वीर योद्धा लज्जित-से होकर वापस लौट तो गए, परन्तु उन्हें चैन नहीं पड़ रहा था। वे सोच रहे थे कि अपने प्रतिद्वन्द्वी को जितना हो सके जल्दी ही दबोच लेना चाहिए। वे चरितनायक को तैयारी का समय नहीं देना चाहते थे। परन्तु उन्हें क्या पता था कि आज जिससे सघर्ष करना है वह हर समय तैयार रहता है, तैयार होता नहीं। उससे जब भी बात करोगे, तैयार ही पाओगे। उस की शक्ति, उसकी अपनी उज्वल प्रतिभा में है, पोथी पुस्तकों में नहीं।

हाँ तो अभी दो नहीं बजे थे कि आर्यसमाज के विद्वान् पुन आ उपस्थित हुए। अब की बार उनके साथ एक खासी अच्छी भीड़ थी। जैन स्थानक, जैन अजैन जनता से खचाखच भर गया था। दोनों ही ओर जनता के हृदय जोश से उबाल खा रहे थे। तनाव चरमसीमा पर पहुँच रहा था। सभावना थी कि कहीं सघर्ष न हो जाय ?

ठीक दो बजे चरितनायक आसनपर विराजमान हुए। शान्तमुद्रा, प्रसन्न गभीर मुख, अचचल प्रकृति सब कुछ एक महान विलक्षण आत्मतेज का प्रकाश था, जो उपस्थित जनता पर अपना आश्चर्यकारी प्रभाव डाल रहा था।

महाराजश्री ने शान्ति स्थापना के लिए जनता को सम्बोधित करते हुए कहा—"देखिये, आप लोग तत्त्व-चर्चा में भाग लेने के लिए यहाँ आए हैं। आपका काम शान्तिपूर्वक दोनों पक्षों के सिद्धान्त को श्रवण करना है। आप पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। हम शास्त्रार्थ करने वालों की अपेक्षा भी आपकी जिम्मेदारी बड़ी है। आप इधर-उधर के पक्ष विपक्ष की भावना में न बहें। श्रोता का महत्त्व उसकी अपनी अधिक से अधिक उच्च तटस्थवृत्ति में है। हारजीत का कोई प्रश्न नहीं है। प्रश्न है ज्ञानचर्चा के द्वारा सत्य के निकट पहुँचना। कोई हारे और कोई जीते, तुम्हें किसी प्रकार का हुल्लड़ नहीं मचाना चाहिए।"

महाराजश्री के उपयुक्त संक्षिप्त वक्तव्य का जनता पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। आर्यसमाज के पक्ष को लेकर आने वाले पजैन बन्धु भी चरित नायक के उक्त शान्तिव्यवस्थापक प्रवचन को सुनकर भक्ति से गद्-गद् हो गए। उन्हें मालूम हुआ कि महाराजश्री के प्रत्येक शब्द के पीछे उनकी उच्च कोटि की भावुकता झलक रही है।

हाँ तो नियत समय पर शास्त्रार्थ प्रारंभ हुआ। महाराज श्री ने आर्य समाज के मंत्री को प्रश्न करने के लिए कहा। मंत्री ने अपना पक्ष उपस्थित करते हुए कहा—

'देखिए, संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सब किसी न किसी कर्ता के द्वारा बनाई गई हैं। मेज कुर्सी, मकान घट पट आदि प्रत्येक वस्तु के पीछे उसके बनाने वाले कुम्भकर्ता का इतिहास रहा हुआ है। बिना कर्ता के कोई चीज क्यों कर अस्तित्व में आ सकती है? अतः इतना बड़ा विराट जगत भी किसी कर्ता के द्वारा बना हुआ होना चाहिए। और वह कर्ता ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। ईश्वर सर्वज्ञ है सर्वशक्तिमान है अतः इतना सुन्दर एवं विशाल जगत् वही बना सकता है और कोई हमसे जैसा कुछ व्यक्ति नहीं बना सकता। हाँ तो अब शास्त्र और तर्क प्रमाण के द्वारा ईश्वर का कर्तृत्व सिद्ध है तो फिर आप ईश्वर को जगत्कर्ता क्यों नहीं स्वीकार कर सकते?'

महाराज श्री ने प्रसन्न मुख मुद्रा से आर्य समाज के मंत्री का पूर्व पक्ष सुना और अपना उत्तर पक्ष उपस्थित करते हुए कहा—

आपका यह कहना कि संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब कर्ता के द्वारा बनाई गई हैं सिद्धान्त विरुद्ध है। संसार में तो आत्मा भी एक वस्तु है क्या वह कभी किसी के द्वारा बन कर तैयार हुई है अनादि नहीं है? ईश्वर और परमाणु भी वस्तु हैं क्या वे भी किसीने बनाए हैं? मैं आपके पक्ष की बात नहीं कहता। आप ही अपने सिद्धान्त के सम्बन्ध में कहिए?'

आर्यसमाज के मंत्री को पहिली बार ही मुख में उंगली डालना पड़ा। चरितनायक की तीक्ष्ण बुद्धि से कोई भी पर सिद्धान्त भला किस प्रकार बचकर सुरक्षित रह सकता था?

अन्तु आर्यसमाज के मंत्री को अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ी। मंत्री जी ने कहा—"मेरा अभिप्राय कार्य रूप वस्तु से है। आत्मा आदि पदार्थ अनादि हैं क्योंकि वे कार्य रूप नहीं हैं। परन्तु जगत कार्यरूप है इसलिए कर्ता के द्वारा बना हुआ है।

महाराज श्री ने अपनी गंभीर तर्क पुनः उपस्थित की। आपने कहा—जगत कार्यरूप है, इसमें क्या प्रमाण है? केवल कथनमात्र से तो अपने पक्ष की सिद्धि नहीं हो जाती। आप कहते हैं कार्यरूप है, मैं कहता हूँ कार्यरूप नहीं है। बताइए, अब आप क्या कहते हैं? आपको मालूम है कार्य का क्या लक्षण है? कार्य का लक्षण है—प्रागभाव प्रतियोगित्व कार्यत्व। अर्थात् जिसका पहिले अभाव हो और बाद में भाव हो वह कार्य होता है। जगत् अपनी उत्पत्ति से पहिले नहीं था, इस प्रकार पहिले जगत् का अभाव सिद्ध कीजिए, तभी वह कार्य कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं।"

आर्यसमाज के विद्वान् मन्त्री बहुत देर तक इधर-उधर भटकते रहे। परन्तु वे जगत में कार्यत्व को सिद्ध नहीं कर सके। मन्त्री जिधर भी चक्कर लगाते, चरितनायक की विशाल प्रतिभा उन्हें उधर से ही घेर लेती।

महाराज श्री ने कहा—"देखिए मन्त्री जी! कोई भी कर्ता जब किसी चीज को बनाता है तो उसके पीछे कोई न कोई उद्देश्य रहता है। जगत् को बनाते समय ईश्वर को क्या प्रयोजन था? जो ईश्वर कृतकृत्य है, भला उसका क्या प्रयोजन हो सकता है? प्रयोजन तो अपूर्ण को होता है, पूर्ण को नहीं। यदि आप कहें कि संसार के प्राणियों का उपकार करना प्रयोजन है, तो यह बात भी सिद्ध नहीं होती। जगत् बनने से बिचारे प्राणियों को तो जन्म-मरण का रोग-शोक का, दुःख ही अधिक उठाना पड़ा। आज से नहीं, लाखों वर्षों से असंख्य प्राणी शान्ति की तलाश में भटक रहे हैं, फिर भी अभी तक शान्ति नहीं मिली। यह उपकार है या अपकार? विश्व के निर्माण में ईश्वर बिना किसी प्रयोजन के व्यर्थ ही रागद्वेष की उलझन में क्यों पड़े?

आर्य समाज के मन्त्री महोदय, महाराजश्री के उपर्युक्त वक्तव्य का कुछ भी स्पष्ट उत्तर न दे सके। काफी लम्बी बातचीत के बाद, मन्त्रीजीने राह बदली और शुभाशुभ कर्मों के फल दाता की चर्चा आरम्भ की।

"यदि ईश्वरको जगत्कर्ता न मानें तो फिर जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मों का फल कौन देगा? जीव तो स्वयं भोग नहीं सकता। यदि मान भी लिया जाय कि सुख भोग सकता है तो दुःख तो वह कदापि भोग ही नहीं सकता। कौन ऐसा प्राणी है जो अपने आप दुःख भोगने के लिए तैयार हो। इसलिए शुभाशुभ कर्मफल का प्रदान करने वाला ईश्वर ही मानना पड़ेगा। वह परम पिता ही संसार के अनन्तानन्त प्राणियों के अच्छे बुरे कर्मों का ज्ञान रखता है और यथावसर सुख दुःख के रूप में उनका फल भुगताता है।"

'तो यों कहिए कि जगत बनाने के कारण नहीं बल्कि शुभाशुभ कर्मों का फल भुगताने की कल्पना करके आप ईश्वर को कर्ता समझ बैठे हैं। ज़रा ध्यान दीजिए आपकी समझ में आजायेगा कि कर्मों के फलको जीव स्वयं ही भोगता है। ईश्वर की बीच में कोई आवश्यकता नहीं। आप जानते हैं एक मनुष्य बहुत देर तक धूप में रहने के बाद पसीने की हालत में ही यदि सहसा नहाले तो उसे बुखार आजाता है। क्या वह बुखार उसे ईश्वर ने चढ़ाया ? एक मनुष्य असावधान भागा जा रहा है। ठोकर लगी गिर पड़ा और टाँग टूट गई। क्या उसकी टाँग ईश्वर ने तोड़ी ? गान्धीजी इन सब कामों के लिए क्या ईश्वर को ही कर्ता माना जाय ? ये सब झंझटें ईश्वर के ईश्वरत्व को सुरक्षित नहीं रख सकतीं। ईश्वर का ईश्वरत्व इसी में है कि वह इन सब कामों से अलग अलग रहे। क्यों किसी को बुखार चढ़ाए क्यों किसी की जन्म भर के लिए टाँग तोड़े ?'

"ईश्वर ने सब प्रकार से स्वास्थ्य के नियम बना रक्खे हैं। जो उनके विपरीत आचरण करता है वह स्वय ही उसका फल पा लेता है।

'हाँ ठीक है आपने मेरे पक्ष की ही बात कह दी। ऐसा हम सभी मानते हैं कि स्वास्थ्य और रोग का अपने-अपने कारणों को लेकर जो क्रम अनादिकाल से चला आ रहा है वह अपना फल स्वयम् देता रहता है। इसमें ईश्वर ने क्या किया ? और जब प्राणी को सुख दुःख भुगताने में उसके अपने अन्तरङ्ग एवं बाह्य निमित्त ही काम करते हैं तो निरर्थक ईश्वर को घसीटना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ?

आपकी बात तो ठीक है। परन्तु फिर भी यह ध्यान में नहीं बैठता कि कर्म अपना फल आप स्वयम् कैसे भुगता सकते हैं ?

'अच्छा आप बताइए कि जीव जो क्रिया करता है उस क्रिया का फल कर्म रूप में स्वयम् ही कर्ता के साथ लग जाता है या ईश्वर ही उसके साथ उस कर्म का सम्बन्ध कराता है ?'

"कर्ता जो भी क्रिया करता है उसका कर्म स्वयंही उस के साथ लग जाता है ईश्वर नहीं लगाता। ईश्वर तो केवल उसे फल ही देता है।

"जब कर्म कर्ता के साथ स्वयम् ही लग जाता है उसे ही फल देकर स्वयं दूर भी जाना है। ईश्वर का इसमें क्या दखल रहा ?"

चोर कभी अपने आप यह नहीं कहता कि मैंने चोरी की है और मुझे उसका फल मिलना चाहिए। क्या वह आप स्वयम् जेल में सजा पाने के लिए चला जाता है ? इसके लिए मजिस्ट्रेट आदि की आवश्यकता होती है जो उसे

पकड़वाता है और उसके चोरी रूप कर्म का फल सजा के रूप में दे देता है।"

"आप देखते हैं मकड़ी खुदही जाला पूरती है और खुद उसमें फँस जाती है। शराब पीने वाला शराब पीता है और समय आने पर नशे में बेहोश हो जाता है। यहाँ कौन दूसरा फल भुगताता है? यदि कुछ देर के लिए आपकी बात मान भी ली जाय तो जब मजिस्ट्रेट ने उस चोर को उसके चोरी रूप कर्म का फल सजा के रूप में दे ही दिया तो फिर ईश्वर क्या करेगा? यदि वह भी अपनी ओर से कुछ अलग फल देता है तो अन्याय है, क्यों कि चोर को दो-दो जगह भिन्न-भिन्न सजा भुगतनी पड़ी। यहाँ मजिस्ट्रेट ने दण्ड दिया, वहां ईश्वर ने दण्ड दिया?"

आर्य समाज के मन्त्रीजी यहा चुप होगए। इस प्रकार दुहरे दण्ड के दूषण का परिहार करने के लिए, उन्हे कोई तर्क सूझ ही नहीं रहा था। अस्तु, महाराज श्री ने अपनी बात आगे बढ़ाते हुए कहा —

"वस्तुत तो मजिस्ट्रेट का दृष्टान्त यहाँ लागू हो ही नहीं सकता। मजिस्ट्रेट अल्पज्ञ है, उसे नहीं पता कि कौन क्या कर्म करने वाला है? अत वह अपराधियों को अपराध करने से रोक नहीं पाता। यदि उसे पता चले कि अमुक स्थान पर डाका पड़ने वाला है और खून होने वाला है तो वह पहिले से ही दुर्घटना न होने देने की व्यवस्था करता है। परन्तु ईश्वर तो सर्वज्ञ है। वह तो जानता है कि अमुक मनुष्य का इरादा खून करने या डाका मारने का है। ईश्वर सर्वशक्तिमान है, अत वह उस दुर्घटना को रोक भी सकता है। यदि जान बूझ कर भी पहिले अपराधी को न रोके और बाद में उसे सजा दे तो वह अन्यायी ईश्वर है। आप ऐसे मजिस्ट्रेट को क्या कहेंगे, जो पहिले तो जान बूझ कर अपनी आंखों के सामने खूनी को खून करने देता है और फिर उसे सजा के रूप में फाँसी पर चढ़ा देता है।"

"ईश्वर ने शुभाशुभ कर्म करने में जीवों को स्वतन्त्रता प्रदान की हुई है। इसलिए वह जीवों को कर्म करते समय तो रोक नहीं सकता, परन्तु कर्म का फल अवश्य देता है।"

"यह स्वतन्त्रता तो खूब रही? आप विचार कीजिए, इस प्रकार की स्वतन्त्रता देना, न्याय है या अन्याय है? मान लीजिए, एक आदमी कुएँ पर स्नान कर रहा है। उसका अनमोल छोटा लड़का भी उसके साथ है। वह कुएँ में झाँक कर देखता है। बच्चा अभी अबोध है, खुद कुछ समझ नहीं रखता। क्या पिता उसे न रोके? पिता भी, दयालु पिता! यदि पिता उसे स्वतंत्रता दे देता है और वह लड़का झाँकता हुआ कुएँ में गिर पड़ता है तो

मौत के घाट उतर जाते हैं। यह कहाँ की दयालुता है ? क्या सर्वशक्तिमान् ईश्वर की शक्ति, इसी संहार लीला में ख़र्च होती है ?"

"यह तो प्राणियों का अपना-अपना कर्म है। जिसका जैसा अपराध होता है, उसे वैसा फल ईश्वर के द्वारा मिल जाता है।"

"यह माना कि प्राणियों का कोई अपराध हो, परन्तु अपराधी से आगे अपराध न करने को कहकर क्षमा भी तो किया जा सकता है। मैं पूछता हूं, आपके ईश्वर को कर्मानुसार सजा देने का ही अधिकार है, या वह कभी किसी गरीब को क्षमा भी कर सकता है ?"

"नहीं, वह क्षमा नहीं कर सकता।"

"तब तो अल्पज्ञ और अल्पशक्ति मजिस्ट्रेट ही अच्छा रहा, जो विषम परिस्थिति को देखते हुए कभी किसी गरीब को क्षमा भी कर सकता है। आपका ईश्वर तो एक प्रकार का अन्धा मजिस्ट्रेट है जो अधाधुन्ध सजा देता रहता है, कुछ भी दया नहीं करता। उसे विचारना चाहिए कि अमुक जीव से अनजानपने में या किसी विशेष परिस्थिति में यह अपराध हो गया है, अत उसे सूचना देकर क्षमा कर दिया जाय तो वह आगे कभी पाप नहीं करेगा।"

हमारे चरितनायक की गम्भीर वाणी में ज्ञान का प्रवाह बह रहा था। गङ्गा के विशाल प्रवाह को कोई हाथों से रोकना चाहे तो कैसे रोक सकता है ? आर्यसमाज के मन्त्री महोदय भी महाराजश्री के तर्क प्रवाह को रोकने में सर्वथा असमर्थ हो चुके थे। न उनके मुंह से 'हाँ' निकलती थी और न 'ना'। उनकी बुद्धि जड एव कुण्ठित हो गई थी। परन्तु महाराजश्री अपनी बात, जनता को अच्छी तरह समझा देना चाहते थे। अत अपने वक्तव्य को लम्बा करते हुए कहा—

'दूसरी बात यह है कि यह जगत्कर्तृत्व रूप गुण, ईश्वर का स्वाभाविक है या वैभाविक ? यदि स्वाभाविक मानो तो सदा बनाता ही रहेगा, कभी विराम ही नहीं लेगा। अनन्तानन्त काल बनाने में ही गुजरता रहेगा, फिर प्रलय का अवसर कहाँ आएगा ? स्वभाव तो निरन्तर चालू रहना चाहिए। वह बीच में भग किसी भी दशा में नहीं हो सकता। यदि वैभाविक मानो तो वह विभाव क्या है ? विभाव का अर्थ है बाह्य निमित्त कारण। बताइए, वह कौन-सा निमित्त कारण है जिसके वश में होकर ईश्वर को स्वभाव न होते हुए भी जगत् का निर्माण करना होता है। ईश्वर पर किस

बात की परतंत्रता है ? यदि जीवों को कर्म फल भुगताने का कारण माना जाय तो पहिले के बताये हुए दोष उपस्थित होते हैं जिनका आपकी ओर से अभी तक कोई परिहार नहीं किया गया।

और यदि जगत को बनाया भी था तो कुछ अच्छा-सा बनाया होता। यह क्या कि दुःखमय बना दिया ? जिधर देखते हैं उधर ही हाहाकार है। जन्म जरा मृत्यु रोग शोक आदि की वेदनाओं का कुछ अन्त है ईश्वरीय जगत में ? सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ और दयालु ईश्वर की रचना, इस दुःखपूर्ण जगत को किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता।

कर्मफल प्रदान करने की बात भी सर्वज्ञता से सिद्ध नहीं हो सकती। जो सर्वज्ञ है वह इस प्रकार फल नहीं दे सकता जिस प्रकार कि आप मानते हैं। जीवों को कर्म का फल देने में उनकी क्या भलाई है ? एक आदमी आँखों की भयङ्कर वेदना से पीड़ित है। उसे किसी प्रकार भी चैन नहीं। यदि वह किसी प्रकार सो जाय तो क्या उसे जगा देने वाले को आप बुद्धिमान कहेंगे ? क्योंकि जागते ही फिर उसे उसी भयङ्कर वेदना से छट-पटाना पड़ेगा। ईश्वर भी जगत के बनाने और कर्मफल प्रदान करने में इसी विषम स्थिति को प्राप्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त आप ईश्वर को निराकार मानते हैं। और निराकार तो आपकी मान्यता के अनुसार आकाशवत् निष्क्रिय होता है। और जब ईश्वर निराकार है निष्क्रिय है तो यह जगत रचना रूप क्रिया कैसे कर सकता है ? निष्क्रिय भी मानना और फिर जगत रचनात्मक क्रिया भी मानना यह तो अपने मुँह अपनी बात को काट देना है।

एक बात और भी है। प्रलय से पूर्व जीवों ने जो-जो कार्य किए थे आपके सिद्धान्तानुसार प्रलय काल में तो उनका फल दिया नहीं जाता। जो भी फल मिलता है वह सृष्टि काल में ही मिलता है। अच्छा तो बताइए, उन कर्मों के भोगे जाने की कोई निश्चित अवधि भी आपके यहाँ है या नहीं ? यदि अवधि नहीं है तो फिर आपके यहाँ कोई व्यवस्था ही नहीं है। कौन कर्म कब भोगा जायेगा यह कोई नियम ही नहीं रहेगा। और बिना नियम के कोई निश्चित व्यवस्था नहीं हो सकती। यदि कोई निश्चित अवधि का विधान है तो वह किस शास्त्र में है और कहाँ है ?"

महाराज श्री ने एक के बाद एक यह तर्क-परंपरा उपस्थित की कि मंत्री महोदय को कुछ उत्तर देते नहीं बन पड़ा। वे आए थे किसी और आशा में और यहाँ हुआ कुछ और ही। 'आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास

की लोकोक्ति के समान, आशा निराशा में परिणत हो गई। मंत्रीजी ने सोचा तो यह था कि कुछ यनो वनाई दलीलों और आर्यसमाजी चुटकलों से ही रौब गाँठ लेंगे। परन्तु उन्हें क्या पता था कि अब की बार वे हिमालय से टक्कर ले रहे हैं। मंत्री जी का हृदय क्षुब्ध हो गया, फलत सीधा उत्तर न देकर आवेश में बोले कि "महाराज! क्या सारी सच्चाई का ठेका आपने ही ले रक्खा है? क्या कुछ जैनियों को छोड़कर सारी दुनिया मूर्ख ही है, जो ईश्वर को जगतकर्ता मानती है?"

चरितनायक प्रसन्नभाव से सबकुछ सुनते रहे और बिना किसी आवेश के गभीरता से कहा—"आप अपने मुख से जो भी चाहें कह सकते हैं, परन्तु हम तो ऐसा नहीं कहते। जैन कब कहते हैं कि सच्चाई का ठेका हमारे पास ही है। न हम किसी को मूर्ख बताना चाहते हैं और न पागल। सत्य का निर्णय अधिक सख्या से कभी नहीं किया जा सकता। सत्य सत्य है, यदि वह एक आदमी के पास हो तब भी सत्य है। सर्वसाधारण जनता दर्शन-शास्त्र की गुत्थियों को कहाँ समझ पाती है? वह तो इधर-उधर की साधारण बातों में ही उलझी रहती है। साधारण लोगों ने ससार में कुछ ऐसी वस्तुएँ देखीं, जो उनकी समझ के परे की थीं। सूर्य, चन्द्र, समुद्र, पहाड़, पृथ्वी आदि के विषय में जब वे कुछ भी समझ नहीं सके तो ईश्वर को इन सब का कर्ता मान बैठे। यह साधारण मानव-बुद्धि की हार है, सत्य की हार नहीं। अधिकतर जनता अज्ञान में रहती है और मिथ्या विश्वासों के प्रवाह में बहती रहती है। क्या आप साधारण जनता की मान्यता के द्वारा ही किसी निर्णय पर पहुचना चाहते हैं। तब तो आर्यसमाजी कितने हैं और दूसरे लोग कितने हैं? अल्प सख्यक आर्यसमाज अपने को सत्य का पक्षपाती कैसे बना सकता है आपकी मान्यता के अनुसार?"

उपस्थित जनता में सनातनी भाई भी अच्छी सख्या में उपस्थित थे। जगतकर्ता के सम्बन्ध में आर्यसमाज का साथ दे रहे थे। महाराज श्री ने उनको संबोधित करते हुए कहा कि—

"आप लोग भी ईश्वरकर्ता की भ्रमपूर्ण मान्यता में उलझ रहे हैं। आप अवतारवाद के मानने वाले हैं और गीता के शब्दों में कहते हैं कि जब-जब धर्म का नाश होने लगता है और दुष्ट राक्षसों-द्वारा जगत में उत्पात मच जाता है तो ईश्वर अवतार लेता है, दुष्टों का सहार करता है और धर्म की रक्षा करता है—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
> धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।

हां तो आप विचार करते हैं कि सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ ईश्वर पहिले राक्षसों को जन्म ही क्यों देता है जो बाद में उनका संहार करने के लिए अवतार लेता फिरे ? पहिले जहर का वृक्ष लगाना और फिर उसे काटना यह कहां की बुद्धिमत्ता है ? क्या आपने कभी यह नहीं सोचा कि एक साधारण कारीगर भी जब मकान बनाता है तो आगे का ध्यान रखता है। गर्मियों के मौसम में जब कहीं बादलों का निशान भी नहीं होता वर्षा का ध्यान रखता है और छत में यथोचित परनाले आदि लगाता है। परन्तु ईश्वर संसार को बनाते समय इतना भी विचार नहीं करता कि मैं इन दुष्टों को क्यों बनाऊं ? ये मुझे और मेरे भक्तों को परेशान करेंगे। सत्य यह है कि आर्यसमाजी हों सनातनी हों कोई भी हों, ईश्वर को जगत्कर्ता मानते समय अपने स्वतंत्र विचारों का उपयोग नहीं करते। जो भी ईश्वर को जगत्कर्ता मानता है वह ईश्वर की महत्ता को घटाता ही है, बढ़ाता नहीं है। मैं आपसे स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहता हूँ कि यह संसार अनादि अनन्त है। इसका रंग-ढंग पर्यायों के रूप में बदलता रहता है परन्तु मूल रूप का कभी नाश नहीं होता। संसार के निर्माण का उत्तरदायित्व ईश्वर के कंधों पर डाल देना ईश्वर को रागी द्वेषी बनाना है। रागी द्वेषी किसी प्रकार भी ईश्वर नहीं होता। ईश्वर वीतराग है। न वह किसी पर राग करता है और न किसी पर द्वेष। जैन धर्म इसी प्रकार के वीतराग ईश्वर को अपना उपास्य देव मानता है।"

शास्त्रचर्चा समाप्त हो गई। महाराज श्री ने अपने पक्ष का यह सबल प्रमाण पुरस्सर समर्थन किया कि जनता आपके पाण्डित्य से प्रभावित हो उठी। महाराज श्री उदयचन्द्रजी की जय हो जय हो के नारों से सारा भवन गूँज उठा। जय बोलने वालों में जैन अजैन सभी समान भाग ले रहे थे। जनता के अत्यन्त आग्रह पर इस वर्ष अर्थात् संवत् १९९९ का चातुर्मास मुकेरियां में ही किया। सारा चातुर्मास धर्म-चर्चा और धर्म प्रभावना का केन्द्र बना रहा। मुकेरियां का यह चातुर्मास वह चातुर्मास है जो मुकेरियां की जनता के लिए भूलने की चीज नहीं है। जैन धर्म की गौरव रक्षा का यह अध्याय आज भी हमें कुछ प्रेरणा दे सकता है और सत्यासत्य के निर्णय पर एक अच्छा प्रकाश डाल सकता है।

: १७ :

महान सुधारक

श्रद्धेय चरितनायक, प्रारम्भ से ही स्वतन्त्र विचारों के प्रतिनिधि रहे हैं। वह युग जब आपने अपनी प्रचार-यात्रा प्रारम्भ की, कितना अन्धकार का युग था? प्रगतिशील विचार उन दिनों पाप समझे जाते थे। परन्तु हमारे चरितनायक ने सदा से प्रगतिशील विचारों का स्वागत एव समर्थन किया है। उन्होंने विपरीत लोकमत की कभी भी परवाह न की। अपने निश्चित विचारों पर अड़े रहे और अन्त तक अड़े रहे।

पंजाब प्रान्त का स्थानकवासी समाज अनेक कुरुचिपूर्ण रूढ़ियों का शिकार था। अनेक प्रकार का मिथ्या-विश्वास, समाज के अन्तरग में जड़ें जमाये हुए था। चरितनायक ने दृढ़ता के साथ सुधार-भावना का सिंहनाद किया। पुरानी रद्दी-सद्दी रीति परम्पराओं को उखाड़ फैंका और जनता में नवीन चेतना जागृत कर दी। जन्म, विवाह और मरण आदि के प्रसगों पर होनेवाली अनेक प्राचीन कुप्रथाएँ, चरितनायक के ओजस्वी प्रवचनों द्वारा ही विनाश को प्राप्त हो सकीं।

पजाब में उन दिनों स्कूल, कन्या पाठशाला, पुस्तकालय वाचनालय और समाचारपत्र आदि का स्थानकवासी जैन-समाज में कोई अस्तित्व नहीं था। शिक्षा की दृष्टि से बिल्कुल पिछड़ा हुआ समाज था। हमारे चरितनायक ने ही सर्वप्रथम इस दुर्बलता की ओर लक्ष्य दिया। आपका कहना था कि "कोई भी समाज कितना ही क्यों न धनी हो, यदि वह मूर्ख है तो ससार में प्रतिष्ठा का जीवन नहीं गुजार सकता। आनेवाले युग में वही जाति जीवित रह सकेगी, जो सब प्रकार से शिक्षित एव योग्य होगी। जैन-समाज का गौरव धन में नहीं है, प्रत्युत बुद्धि के विकाश में है।" अस्तु, आपकी प्रबल प्रेरणा पाकर अनेकानेक क्षेत्रों में स्कूल, पुस्तकालय आदि खोले गए। लड़कियों की शिक्षा क सम्बन्ध में तो आप बहुत ही अधिक जोर देते थे। समाज के पुराणपथी लोगों का विरोध सहन करते हुए भी आपने स्त्री-शिक्षा के लिए खुलकर प्रचार किया और अनेक क्षेत्रों में कन्या पाठशालाएँ स्थापित कराई।

शिक्षण-सस्थाओं से आपका प्रेम स्वभावत ही सजीव रहा है। शिक्षण-

संस्था अपने द्वारा स्थापित हो अथवा और किसी के द्वारा, आप समान भाव से उसे विकसित करने में सहयोग दिया करते थे। पंजाब प्रान्त का सुप्रसिद्ध जैन-शिक्षण केन्द्र श्री जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला भी आपका कृपापात्र रहा है। गुरुकुल को आपकी ओर से यथावसर सब प्रकार का उचित सहयोग मिलता रहा है। लाला टेकूराम जी जालन्धर निवासी आपकी प्रेरणा से ही गुरुकुल के सभापति बने थे और दान के रूप में ११) की विशाल धनराशि अर्पण की थी।

आप जन्म से ब्राह्मण जाति से सम्बन्ध रखते थे। परन्तु आप में जातीय अभिमान बिलकुल नहीं था। छोटी-से-छोटी जाति के लोगों से भी आपका धर्मप्रेम बड़े सरल भाव से रहा करता था। जो भी आपके पास आया, आपका होकर रह गया। आपका कोमल हृदय, क्या अमीर और क्या गरीब, क्या ऊँच और क्या नीच सभी पर समान भाव से धर्म-स्नेह की वर्षा करता था।

आप सामाजिक संगठन के कट्टर पक्षपाती थे। जहाँ भी जाते संगठन की दुन्दुभि बजा देते थे। पंजाब के अनेक क्षेत्रों में सामाजिक फूट पड़ी हुई थी। आप वहाँ जाते संगठन कराते और किसी-न-किसी सभा सोसाइटी के रूप में उस संगठन को स्थायी बना दिया करते थे। पंजाब के बहुत से क्षेत्रों में जैन-सभाएँ सर्वप्रथम आपके उपदेशों के द्वारा ही अस्तित्व में आईं।

आप पंजाब प्रांत के स्थानक वासी जैनों का एक विशाल संगठन करना चाहते थे। अतः इसके लिए आपने कुछ उत्साही सज्जनों से परामर्श करके पंजाब प्रांतीय एस एस जैन कॉन्फ्रेंस की योजना तैयार की। यह योजना आद्य पं आचार्य पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज की सेवा में रखी और उनका महान् आशीर्वाद प्राप्त होते ही विक्रम संवत् १९९२ में कॉन्फ्रेंस की स्थापना करादी गई। एस एस जैन कान्फ्रेंस के अंकुरित पल्लवित एवं पुष्पित होने का अधिकतर श्रेय चरितनायक को ही प्राप्त है। आप प्रायः प्रत्येक वार्षिक समारोह पर उपस्थित होते ओजस्वी प्रवचनों के द्वारा उत्साह जागृत करते और विषम स्थितियों में परामर्श आदि के रूप में उचित मार्ग-प्रदर्शन भी करते थे। प्रस्तुत सभा के द्वारा स्थानकवासी समाज में अभूतपूर्व जागृति पैदा हुई। लाहौर का विशाल जैन होस्टल इसी योजना का सुन्दर परिणाम था जिसके द्वारा लाहौर यूनिवर्सिटी में पढ़ने वाले जैन छात्रों को बहुत कुछ सुविधाएँ प्राप्त हुईं।

उन दिनों जब चरितनायक जैन-सभा आदि के रूप में स्थानक वासी जैन-समाज को संगठित कर रहे थे, तत्कालीन (उपाध्याय) श्री आत्माराम जी म० और (युवाचार्य) श्री काशीरामजी महाराज भी आपके सच्चे सहयोगी थे। जहाँ भी नया धर्म-कार्य होता, सभा-सम्मेलन होता, यह त्रिमूर्ति वहाँ उपस्थित होती और जैन धर्म के गौरव को चार चाँद लगा देती।

। १८ ।

गसी-पद

भारतीय संस्कृति में पद का महत्त्व मानवजाति के समक्ष एक बहुत सुन्दर एवं उज्ज्वल विचार उपस्थित करता है। भारतीय विचार-धारा में मनुष्य के वंश, जाति और धन आदि की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। ये सब चीजें क्षण भंगुर हैं। क्षण भंगुर वस्तुओं के लिए गौरव के रूप में हमारी संस्कृति में कहीं स्थान नहीं है। यहाँ स्थान है मनुष्य के ऊँचे गुणों एवं ऊँचे आदर्शों का। यदि कोई अपने आपको इतना ऊँचा ले जा सके!

भारत का तत्त्वज्ञान आज से नहीं करोड़ों वर्षों से यही शिक्षा देता आ रहा है कि 'मनुष्य तू क्यों व्यर्थ प्रतिष्ठा की मृग मरीचिका के पीछे दौड़ रहा है? तू जितना भी इसके पीछे दौड़ेगा उतना ही यह और आगे दौड़ जायेगी तेरे हाथ बिलकुल नहीं आयेगी। तू इससे मुँह मोड़ और वापस लौट। तू अपनी जितनी शक्ति इस व्यर्थ की रंगीन कल्पनाओं में खर्च कर रहा है यदि उतनी शक्ति अपने जीवन के बनाने और उठाने में खर्च करे तो तेरा कल्याण होजावे।'

वस्तुतः हमारी महत्ता अपना कर्तव्य पूरा करने में है। जो साधक अपने उत्तरदायित्व को अच्छी तरह निभा ले जाता है अपने में सद्गुणों की मधुर सुगन्ध पैदा कर लेता है उसके चरणों में अपने आप विश्व की प्रतिष्ठा हाथ जोड़कर खड़ी हो जाती है। वह घृणा से इसे ठुकराता है परन्तु क्या मजाल जो वह छोड़ कर चली जाये? सद्गुणी पुरुष के पीछे प्रतिष्ठा ऐसी छाया के समान दिन रात चक्कर लगा करती है।

पर्वत की दुर्गम चट्टी में एक फूल खिलता है। सुगन्ध बिखरती है और आस-पास का वायुमण्डल महक उठता है। कोई ढिंढोरा नहीं कोई विज्ञापन नहीं। परन्तु वह देखो एक के बाद एक भौंरों की टोलियाँ चली आ रही हैं। गुणों के कद्रदान बिना बुलाये ही आ पहुँचे।

हाँ तो मनुष्य! तू भी खिलने का प्रयत्न कर। जब तू खिलेगा और अपने सद्गुणों की सुगन्ध से समाज को महका देगा तो प्रतिष्ठा करने वाले सज्जनों की भीड़ अपने आप आकर घेर लेगी। तू काम कर, कभी इच्छा मत

कर। तेरा महत्त्व काम करने में है, इच्छा करने में नहीं। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

हमारे चरितनायक का जीवन उपर्युक्त आदर्श का जीता-जागता चित्र है। आप ने कभी भी प्रतिष्ठा का मोह नहीं रक्खा। चुपचाप काम किया और वह केवल कर्तव्य पालन के नाते किया। परन्तु समाज कृतघ्न नहीं है। वह गुणी के गुणों का आदर करती है और बड़े सम्मान के साथ करती है। चरितनायक के सद्गुणों की मधुर सुगन्ध ज्यों ही फैली, प्रतिष्ठा अपने आप पीछे फिरने लगी। आपकी कर्तव्यशक्ति ने जनता के भावुक हृदय पर एक-छत्र अधिकार प्राप्त कर लिया था।

विक्रम संवत् १६६६ फाल्गुन मास में, अमृतसर में, पजाब प्रान्तीय जैन मुनिराजों का एक विराट सम्मेलन हुआ। अमृतसर के लिए नहीं, प्रत्युत अखिल जैन समाज के लिए यह महान् सौभाग्य का समय था। जनता का हृदय हर्ष से तरंगित हो रहा था। श्रद्धेय पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज के चरणों में एक महान् विचार कार्यरूप में परिणत होने जा रहा था।

प्रतापी आचार्य ने चरितनायक से परामर्श किया—"उदयचन्द, अब मैं वृद्ध हो चला हूँ। जीवन का क्या पता, क्या हो ? अब मैं चाहता हूँ कि मेरा भार हलका हो जाये, और किसी योग्य उत्तराधिकारी की नियुक्ति करदी जाये। हाँ तो युवाचार्य पद मैं तुम्हें देना चाहता हूँ।"

चरितनायक ने आचार्य श्रीजी के चरणों में अभिवन्दन करते हुए कहा—"भगवन्! मैं तो आपका एक क्षुद्र शिष्य हूँ। मैं इतना महत्त्वपूर्ण अधिकार नहीं लेना चाहता। मेरा काम तो सघ की सेवा करना है और सब से छोटा बन कर रहना है। मेरे लिए आप की कृपा इतनी ऊंची सीमा पर पहुँची, बस मुझे इसी में प्रसन्नता है। युवाचार्य पद किसी और महानुभाव को दीजिए, मैं नहीं लेता।"

आचार्य श्री ने कहा—"युवाचार्य पद सघर्ष का कारण हो सकता है। मैं इससे टलना चाहता हूँ। बताओ, सबका एक मत कैसे किया जाये ?"

चरितनायक ने निवेदन किया—"यह काम सबकी सम्मति लेने से नहीं होगा। आप हमारे मान्य आचार्य हैं, आप जो भी करेंगे, हम सबको स्वीकार होगा। मेरे विचार में सब मुनियों के हस्ताक्षर ले लेने चाहिएँ और पदवी प्रदान का सब अधिकार आपको अपने हाथ में रखना चाहिए। आप

अपनी ओर से जो करेंगे उसमें किसी को विवाद नहीं होगा।'

चरितनायक के परामर्श से सब मुनिराजों के हस्ताक्षर ले लिए गए। सब ने प्रसन्नभाव से सारी सत्ता पूज्य श्री को अर्पण कर दी। पंजाब श्रमण संघ ने अनुशासन का एक महान् भव्य आदर्श उपस्थित कर दिखाया। सौभाग्य से यदि वह भावना आगे भी विकसित होती तो जैन-धर्म का गौरव कितना अधिक बढ़ता ?

हाँ तो फाल्गुन शुक्ला ३२ विक्रम संवत् १९६९ पदवी प्रदान का शुभ कार्य आनन्दपूर्वक संपन्न हो गया। अतः प श्री काशीरामजी महाराज को युवाचार्य पद पण्डित प्रवर श्री आत्माराम जी महाराज को उपाध्याय पद और श्री भारमचन्द्र जी महाराजआदि को बहुसूत्री आदि के पद अर्पणकिए गए। पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज के जय-जय के नारों से आकाश गूंजने लगा।

हमारे चरितनायक के लिए आचार्य श्री जी ने गद्दी पद की चादर अर्पण की। चरितनायक ने बार-बार इन्कार किया, परन्तु पूज्य श्री का आग्रह उपस्थित संघ की विनम्र प्रार्थना आखिर गद्दीपद स्वीकार करना ही पड़ा। आचार्य श्री ने महत्वपूर्ण घोषणा की कि "मैं उदयचन्द्र जी को गद्दी पद प्रदान करता हूँ। यह पद बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। युवाचार्य और उपाध्याय पर भी गद्दी का ही नेतृत्व रहेगा। जो भी संघ सम्बन्धी महत्वपूर्ण कार्य करना हो वह सब गद्दी के परामर्श और सम्मति से ही करना चाहिए। संघ की व्यवस्था के लिए मैंने जो कुछ यह कार्य किया है इसकी सफलता का दायित्व आप सबकी सद्भावनाओं पर है। अत सब एक सूत्र में बँधकर कार्य करो और भगवान वीर के शासन का गौरव बढ़ाओ। ये पद नाम के लिए नहीं काम करने के लिए हैं। सब लोग अपने अपने पद के प्रति सच्चे रहें।'

अतः प चरितनायक के लिए आचार्य श्री जी के वे अन्तिम शब्द कि 'ये पद नाम के लिए नहीं काम करने के लिए हैं। सब लोग अपने-अपने पद के प्रति सच्चे रहें'—हृदय के कण-कण में रम गए। उनके जीवन का पहिले भी यही आदर्श था परन्तु अब वह और भी अधिक स्पष्ट हो गया। बहुत से मनुष्यों के लिए पद बेहोशी के कारण होते हैं। पद-प्राप्ति से पहिले उनके जीवन में जितनी जागृति पाई जाती है पद-प्राप्ति के बाद वह बचती नहीं रह पाती। अधिकतर मनुष्य पद-प्राप्ति के अहंकार में अपने कर्तव्य को भूल जाते हैं। परन्तु हमारे चरितनायक गद्दी-पद पर पहुँचकर और अधिक

जागृति की भूमिका पर पहुँचे। आचार्य श्री के यह शब्द वे जीवन भर नहीं भूले कि 'यह पद बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है।' पद का महत्त्व नहीं, कर्तव्य पालन का महत्त्व है। तदनुकूल कर्तव्यपालन करने से ही पद का महत्त्व होता है, अन्यथा नहीं। चरितनायक ने इस महान रहस्य को समझा और अपने जीवन में आचरण करके दिखा दिया।

जैन-संघ पर संकट के भयकर बादल छाये। फूट पड़ी और भयंकर विद्रोह मचा। बड़े-बड़े गजराजों के पैर उखड़ गए। परन्तु हमारे चरितनायक हिमालय के समान अचल खड़े रहे। उन्होंने संकट की विकट घड़ियों में भी कर्तव्य-पालन से मुँह नहीं मोड़ा। जब कभी संघ के सामने उलझी हुई समस्याएँ उपस्थित होतीं, गणी जी ही उन्हें सुलझाते। आप बड़े ही व्यवहार-कुशल एवं नीतिज्ञ पदवीधर थे। विरोधी से विरोधी पक्ष पर भी आपका प्रभाव पड़ता था और वह झटपट आपका अनुयायी हो जाता था।

आपका नेतृत्व जनता के पीछे चलने वाला नहीं था, प्रत्युत जनता को अपने पीछे चलाने वाला था। कितना ही कोई क्यों न बड़ा आदमी हो, आप सत्य बात कहते हुए कभी संकोच नहीं करते थे। भय तो आपको छू तक नहीं गया था।

गणी का अर्थ है गण का स्वामी, नेता एवं नायक। वस्तुत: आप गण-गच्छ के स्वामी एवं नेता ही रहे। यह ठीक है कि आपने आचार्य पद नहीं स्वीकार किया और आचार्य नहीं बने। परन्तु आपका कार्य आचार्यों से भी बढ़कर था। आपका परामर्श आचार्यों के लिए भी मार्गप्रदर्शक रहा है। श्रद्धेय आचार्य श्री काशीरामजी महाराज कहा करते थे—"यह आचार्य पद की चादर एक प्रकार से मुझे गणी जी महाराज की ही दी हुई है। अस्तु, इनका सत्परामर्श आज भी आचार्य पद की गौरव रक्षा करता है।"

गणी वर्य, तुम धन्य हो, हजार-हजार बार धन्य हो! तुम पद लेना नहीं जानते थे, परन्तु उसे निभाना अवश्य जानते थे। काश! आज हम आपसे आदर्शग्रहण करते और नाम के लिए नहीं, काम के लिए पद लेते तो समाज का कितना अधिक कल्याण होता।

प्रिय शिष्य की प्राप्ति

संसार के क्षेत्र में जो सम्बन्ध पिता और पुत्र का है वही सम्बन्ध आध्यात्मिक क्षेत्र में गुरु और शिष्य का है। इसी भावना को ध्यान में रखकर एक जैनाचार्य ने कहा है—'पुत्तय सीसाय समं भविता।' अर्थात् पुत्र और शिष्य बराबर होते हैं। कितनी मधुर उक्ति है ? इसके माधुर्य का समास्वादन करने के लिए किसी योग्य हृदय की आवश्यकता है।

शिष्य का बहुत बड़ा भाग्योदय होता है तब कहीं योग्य गुरु के चरणों की भेंट होती है। और यह बात भी सोलह आने सत्य है कि किसी भाग्यशाली गुरु को ही योग्य शिष्य की प्राप्ति होती है। योग्य गुरु और योग्य शिष्य की अनुपम जोड़ी वस्तुतः सोने में सुगन्ध है। जिस समाज को यह स्वर्ण संयोग प्राप्त होता है वह धन्य धन्य हो जाता है।

श्रद्धेय गणी श्री उदयचन्द्र जी महाराज अपने युग के एक महान् भाग्यवान सद्गुरु थे। उनके द्वारा जितने भी कार्य हुए हैं वे सब उनकी महत्ता को चार चांद लगाने वाले हुए हैं। उनकी दृष्टि जहाँ भी पड़ी वहीं जंगल में मंगल हो गया। उनके शुभ संस्कारों ने एक से एक बढ़कर चमत्कार दिखाए। श्री रघुवरदयाल जी महाराज के रूप में योग्य एवं प्रिय शिष्य की प्राप्ति भी उन चमत्कारों में से एक चमत्कार है जो आज हमारे समक्ष प्रत्यक्षतः जगमगा रहा है। दो अलग-अलग राह पर चले जाने वाले राही जीवन के एक मोड़ पर इस शुभ घड़ी में परस्पर मिले कि जो फिर एक साथ ही एक मार्ग पर चले। गुरु आगे-आगे और चेला पीछे-पीछे ! कितनी सुन्दर जोड़ी थी वह।

श्रद्धेय गणी श्री महाराज का विक्रम संवत् १६०१ में सालौरा चातुर्मास था। सालौरा नगरी की जनता में धर्म जागृति के लिए वह अभूतपूर्व हर्ष और उल्लास था कि जिसका कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। क्या जैन और अजैन सभी लोग महाराजश्री के प्रति असीम श्रद्धा भक्ति रख रहे थे एवं जिनवाणी श्रवण का लाभ उठा रहे थे।

आदरणीय सर्वश्री रघुवरदयालजी महाराज, इसी चातुर्मास में जैनत्व के प्रति आकर्षित हुए। पहिले साधारण तो बाद में असाधारण धर्म प्रेम बढ़ता चला गया। चरितनायक के चरणों का स्पर्श पाकर, भला वह पूर्व-जन्मों का महान् सस्कारी आत्मा, कैसे अलग-थलग रह सकता था। चरित-नायक की अपूर्व प्रतिभा, सौम्य-स्वभाव, और चरितनिष्ठा से प्रभावित होकर श्री रघुवरदयालजी के मन में वह विलक्षण वैराग्य ज्योति जागृत हुई जो फिर कभी बुझ न सकी।

एक दिन अवसर पाकर श्री रघुवरदयालजो ने गुरु चरणों में निवेदन किया कि "भगवन ! मुझे भी अपनी पवित्र छाया में आश्रय दीजिए।"

"स्पष्ट कहो, तुम्हारा क्या अभिप्राय है ?" गणीजी महाराज ने युवक की मुख मुद्रा पर गम्भीर दृष्टि डालते हुए कहा।

"भगवन् ! मैं आपका शिष्य होना चाहता हूँ। मुझे भी अपने मार्ग का एक छोटा-सा यात्री बनाइये।"

"क्या साधू बनना चाहते हो ?"

"जी हाँ गुरुदेव !"

"मार्ग कठिन है, कुछ समझ भी लिया है ?"

"सब कुछ समझ कर ही निवेदन किया है।"

'साधू क्यों बनना चाहते हो ? क्या घर में कुछ दु.ख है ?"

"दु ख कुछ नहीं भगवन् ! आत्म-कल्याण के लिए ही इस पथ पर आना चाहता हूँ।"

"घरवाले इन्कार करेंगे तो ?'

"मैं नहीं हटूँगा।"

' अच्छा तो पक्के हो ? '

"पूर्णरूप से।"

"साधु-जीवन के कष्टों से घबराकर वापस तो नहीं लौटोगे ?"

"हर्गिज नहीं।"

"शुभस्य शीघ्रम्। आगे बढ़ो। '

चरितनायक ने श्री रघुवरदयालजी को खूब अच्छी तरह परखा। मन के अन्दर गहरी दृष्टि डाली। परन्तु नवीन वैरागी के वैराग्य में दुर्बलता खोजने पर भी न मिली। जब देखा तब यह पक्का, दृढ़ निश्चयी, ससार से उदासीन

प्रिय शिष्य की प्राप्ति

संसार के क्षेत्र में जो सम्बन्ध पिता और पुत्र का है वही सम्बन्ध आध्यात्मिक क्षेत्र में गुरु और शिष्य का है। इसी भावना को ध्यान में रखकर एक जैनाचार्य ने कहा है—पुत्तसम सीसाय समं भविता। अर्थात् पुत्र और शिष्य बराबर होते हैं। कितनी मधुर उक्ति है ! इसके माधुर्य का समास्वादन करने के लिए किसी योग्य हृदय की आवश्यकता है।

शिष्य का बहुत बड़ा भाग्योदय होता है तब कहीं योग्य गुरु के चरणों की भेंट होती है। और यह बात भी सोलह आने सत्य है कि किसी भाग्यशाली गुरु को ही योग्य शिष्य की प्राप्ति होती है। योग्य गुरु और योग्य शिष्य की अनुपम जोड़ी वस्तुतः सोने में सुगन्ध है। जिस समाज को यह स्वर्ण संयोग प्राप्त होता है वह धन्य धन्य हो जाता है।

मरु० प० गणी श्री रघुनाथजी महाराज अपने युग के एक महान् भाग्यवान सद्‌गुरु थे। उनके द्वारा जितने भी कार्य हुए हैं वे सब उनकी महत्ता को चार चाँद लगाने वाले हुए हैं। उनकी दृष्टि जहाँ भी पड़ी, वहीं जंगल में मंगल हो गया। उनके शुभ संस्कारों ने एक से एक बढ़कर चमत्कार दिखाये। श्री रघुवरदयालजी महाराज के रूप में योग्य एवं प्रिय शिष्य की प्राप्ति भी उन चमत्कारों में से एक चमत्कार है जो आज हमारे समक्ष प्रत्यक्षतः जगमगा रहा है। दो अनजान-अज्ञात राह पर चले जाने वाले राही जीवन के एक मोड़ पर उस शुभ घड़ी में परस्पर मिले कि जो फिर एक साथ ही एक मार्ग पर चले बड़ा आगे आगे और छोटा पीछे-पीछे ! कितनी सुन्दर यात्रा थी यह।

मरु० प० गणी श्री महाराज का विक्रम संवत् १९७२ में सादौरा चातुर्मास था। सादौरा नगरी की जनता में धर्म जागृति के लिए वह अपूर्व हर्ष और उल्लास था कि जिसका कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। क्या जैन और अजैन सभी लोग महाराजश्री के प्रति असीम श्रद्धा भक्ति रख रहे थे एवं जिनवाणी श्रवण का लाभ उठा रहे थे।

आदरणीय सर्वश्री रघुवरदयालजी महाराज, इसी चातुर्मास में जैनत्व के प्रति आकर्षित हुए। पहिले साधारण तो बाद में असाधारण धर्म प्रेम बढ़ता चला गया। चरितनायक के चरणों का स्पर्श पाकर, भला वह पूर्व-जन्मों का महान् सस्कारी आत्मा, कैसे अलग-थलग रह सकता था। चरित-नायक की अपूर्व प्रतिभा, सौम्य-स्वभाव, और चरितनिष्ठा से प्रभावित होकर श्री रघुवरदयालजी के मन में वह विलक्षण वैराग्य ज्योति जागृत हुई जो फिर कभी बुझ न सकी।

एक दिन अवसर पाकर श्री रघुवरदयालजी ने गुरु चरणों में निवेदन किया कि "भगवन ! मुझे भी अपनी पवित्र छाया में आश्रय दीजिए।"

"स्पष्ट कहो, तुम्हारा क्या अभिप्राय है ?" गणीजी महाराज ने युवक की मुख मुद्रा पर गम्भीर दृष्टि डालते हुए कहा।

"भगवन् ! मैं आपका शिष्य होना चाहता हूँ। मुझे भी अपने मार्ग का एक छोटा-सा यात्री बनाइये।"

"क्या साधू बनना चाहते हो ?"

"जी हाँ गुरुदेव !"

"मार्ग कठिन है, कुछ समझ भी लिया है ?"

"सब कुछ समझ कर ही निवेदन किया है।"

'साधू क्यों बनना चाहते हो ? क्या घर में कुछ दु ख है ?"

"दु ख कुछ नहीं भगवन् ! आत्म-कल्याण के लिए ही इस पथ पर आना चाहता हूँ।"

"घरवाले इन्कार करेंगे तो ?'

"मैं नहीं हटूँगा।"

' अच्छा तो पक्के हो ? '

"पूर्णरूप से।"

"साधु-जीवन के कष्टों से घबराकर वापस तो नहीं लौटोगे ?"

"हर्गिज नहीं।"

"शुभस्य शीघ्रम्। आगे बढ़ो।"

चरितनायक ने श्री रघुवरदयालजी को खूब अच्छी तरह परखा। मन के अन्दर गहरी दृष्टि डाली। परन्तु नवीन वैरागी के वैराग्य में दुर्बलता खोजने पर भी न मिली। जब देखा तब वह पक्का, दृढ निश्चयी, ससार से उदासीन

पूर्ण साधुत्व की भावनाओं से भरा हुआ पाया।

श्री रघुवरदयालजी के प्रस्तुत विचारों का पता जब आपके माता-पि
तथा अन्य सगे-सम्बन्धियों को चला तो आपको बहुत समझाया गया
जैन साधु वृत्ति के दुःख कष्टों आदि की व्याख्या, सारी कहानी सुना
गई। परन्तु सच्चा त्यागी मार्ग की कठिनाइयों से घबराकर पथ-भ्रष्ट ना
होता। गृहस्थ जीवन की सुख सुविधाओं का लालच दिखाया गया भवि
भविष्य में किए जाने वाले विवाह का प्रस्ताव भी रक्खा, परन्तु सच्चा त्या
इधर-उधर के सुख-स्वप्नों में उलझ कर अपने स्वीकृत पथ से पतित न
होता। इस निरपथी यात्री को न मार्ग के नुकीले कांटे रोक सकते हैं और
आस-पास के सुन्दर सुगन्धित पुष्प ही मोह सकते हैं।

यहाँ तो श्री रघुवरदयालजी पर वैराग्य का रंग चढ़ा और गहरा चढ़ चुका
था। जो साधक संसार की वास्तविकता को जानकर ही संयम-पथ पर अग्र
सर हुआ हो फिर भला संसार की वह कौन-सी शक्ति है जो उसे इस मो
से रोक सके। क्षुद्र नाली के बहते पानी को तो रोका जा सकता है परन्तु
धाव का प्रचण्ड धारा लिये हुए गंगा के विशाल प्रवाह को कोई रोके तो
कैसे रोके? श्री रघुवरदयालजी का संयम सम्बन्धी विचार क्षुद्र नाली का
जल नहीं था, गंगा प्रवाह का जल था। माता पिता आदि स्नेही जनों ने उसे
सारी शक्ति लगाकर रोकना चाहा पर वह रुक न सका। क्योंकि गुरुदेव का
जीवन-पथ उसके सामने था। भला वह क्योंकर आगे बढ़कर पीछे लौट
सकता था। अस्तु, बाधाओं से विरक्त होकर दीक्षा लेने की आज्ञा दे दी।
संघ में हर्ष की लहर दौड़ गई।

चातुर्मास समाप्त हो चुका था। गणी श्री उदयचन्द्रजी महाराज की
जय हो के गम्भीर जयनाद आकाश में गूँज रहे थे और चरित्रनायक धीर
गम्भीर गजगति से सादौरा से विहार कर रहे थे। श्री रघुवरदयालजी वैरागी
के रूप में महाराजजी के साथ-साथ चल रहे थे। सुन्दर गौर वर्ण भव्य
आकृति सुदृढ़ शारीरिक गठन और इस पर उठता हुआ नवयौवन। देखने
वाले आश्चर्य में थे कि यह नया यात्री किस यात्रा पर चल पड़ा है। मन में
वचन में और तन में सर्वत्र प्रसन्नता थी। मुखमण्डल पर वैराग्य-भावना
की उज्ज्वल आभा स्पष्ट झलक रही थी।

श्री रघुवरदयालजी दीक्षा के लिए प्रतीक्षा करते थे, परन्तु चरित्रनायक

अपनी धारणा के अनुसार अभी आपकी जांच कर रहे थे। साधुता का प्रश्न सहज नहीं है। पूरी जाच पड़ताल के बाद ही किसी योग्य साधक को इस पथ पर लेना चाहिए। योग्य गुरु, सख्या-वृद्धि की लालसा में पड़कर, अंट-संट दीक्षाएँ नहीं देता। वह अच्छी तरह जांच-परख कर ही कोई कदम बढ़ाता है और जब वह ऐसा करता है तो संसार चमत्कृत हो उठता है। आकाश में तारे असख्य होते हैं, परन्तु वे सब एक चाँद या सूरज के सामने कितना व्यक्तित्व रखते हैं? सख्या की नहीं, योग्यता की विशेषता है। हमारे चरित-नायक योग्यता की महत्ता में विश्वास रखते थे।

पूरे एक वर्ष से कुछ ऊपर तक श्री रघुवरदयालजी वैरागी के रूप में रहे। आप वैराग्य-अवस्था में भी साधु जैसा ही जीवन रख रहे थे। कच्चे पानी का त्याग, हरी सब्जी का त्याग, जूते नहीं पहनना, पैदल यात्रा करना—किंबहुना साधु-जीवन में आने वाली कठिन समस्याओं का वैराग्य अवस्था में ही अभ्यास कर लिया था। और जब गुरुदेव अपने शिष्य की योग्यता से प्रभावित हुए तो दीक्षा की स्वीकृति मिल गई। खरा सोना आखिर सर्राफ के मन में आकर्षण पैदा कर ही देता है। नवा शहर की बिरादरी में हर्ष का सागर हिलोरें ले रहा था। दीक्षा महोत्सव की धूम मची हुई थी। विक्रम सवत् १९७२, फाल्गुन शुक्ला पचमी, शुभ समय में श्री रघुवरदयालजी की दीक्षा-विधि बड़े आनन्द के साथ सम्पन्न हुई। इस पवित्र दिन की पवित्र स्मृति कभी भुलाई नहीं जा सकती। आज के दिन जहाँ योग्य शिष्य को योग्य गुरु मिला तो वहाँ योग्य गुरु को योग्य शिष्य भी मिला। दोनों एक-दूसरे को पाकर जीवन यात्रा में सफल हो सके।

धर्मकार्यों में बड़ी भारी क्षति हो रही थी। चरित नायक तो शान्ति और सुलह के अग्रदूत थे। भला वे इस वैमनस्य को कैसे सहन कर सकते थे ? जहाँ और साधू आते और चालू प्रथा के अनुसार व्याख्यान देकर चले जाते, वहाँ चरित नायक रचनात्मक काम करते थे।

चरित नायक ने इस प्रश्न को अपने हाथ में लिया और पूरी दृढ़ता से लिया। एक दूसरे की ओर से खूब ज़हर निकला। इस दशा में यदि कोई पक्षपाती और चचल प्रकृति का नेता होता तो वह भयकर विस्फोट होता कि लेने के देने पड़जाते। परन्तु चरित नायक ने पूर्ण निष्पक्षता और गभीरता से काम लिया कि सब उलझनें प्रेम पूर्वक सुलझ गईं। जितनी तीव्र फूट थी, उतनी ही तीव्र एकता स्थापित हो गई। अबाला जैन सघ ने गणी जी महाराज के चरणों में श्रद्धाजलि अर्पण की और चातुर्मास के लिए आग्रह किया। चरित नायक स्वय तो बलाचौर का चौमास स्वीकार कर चुके थे, अत आपने अपनी ओर से अबाला के लिये युवाचार्य श्री काशीरामजी महाराज के चातुर्मास की स्वीकृति दी। श्री संघ जय जय कार कर उठा।

अबाला से विहार करते हुए माछी वाड़ा आए। चातुर्मास करने के लिए बलाचौर जाने की तैयारी कर ही रहे थे कि वर्षा ने विकट रूप धारण कर लिया। आकाश काली घटाओं से घिरा रहता था, दिन-रात वर्षा ही वर्षा। जिधर देखो उधर जल-थल एकाकार हो गए थे। माछीवाड़ा और बलाचौर के बीच में बहने वाला महानद शतद्रु (सतलुज) अपनी मर्यादा भंग कर चुका था। पानी इतना बरसा कि सतलुज अपने में समा न सका, अत बड़े ज़ोर से उफन पड़ा था।

चरित नायक वर्षा थमने की प्रतीक्षा में थे। ज्यों ही वर्षा थमी, आपने विहार की तैयारी शुरू की। श्रावकों ने अपने यहाँ चातुर्मास का आग्रह किया। परन्तु चरित नायक ने कहा "मैं बलाचौर वालों को वचन दे चुका हूं। कुछ भी हो, मैं अपने वचन से नहीं हट सकता। हाँ बलाचौर वाले ही यदि स्वीकृति दे दें तो बात दूसरी है।"

बलाचौर सघ से निवेदन किया। परन्तु वे न माने। भला लबी-चौड़ी दौड़ धूप और प्रार्थनाओं के बाद मनाया हुआ चातुर्मास सहसा दूसरों को कैसे दिया जा सकता था ? चातुर्मास भी साधारण साधू का नहीं, गणी श्री

उदयचन्द्र जी महाराज का जिनके चातुर्मास के लिए बड़े-बड़े क्षेत्रों के संघ भी जितने अधिक लालायित रहा करते थे।

अब व चरित नायक अपनी शिष्य मंडली के साथ सतलुज के तट पर पहुँच गए। बेड़ा तैयार था, सामायी सम्भाला किया और चढ़ गये। चढ़ चौर के कुछ श्रद्धालु भाई भी साथ थे। आज सतलुज अपने आप में न था। जिस प्रकार कोई गरीब अकल्पित धनराशि पाकर उन्मत्त हो उठता है उसी प्रकार सतलुज भी अपार जल वैभव पाकर उछल रहा था। जल प्रवाह का वेग अत्यन्त भयंकर एवं तीव्र गति में था। उत्ताल तरंगें यात्रियों के साहस का उपहास कर रही थीं। सतलुज के वक्षस्थल पर आज विभीषिका का भीषण नग्न नृत्य अपनी पूरी ताल पर था।

बेड़ा चला डगमगाता हिलता-डुलता और ऊँचे-नीचे होता। ज्यों ही बीच धार में पहुँचा तो नियंत्रण से बाहर हो गया। मल्लाह पूरा जोर लगा रहे थे परन्तु लाचार! बेड़ा बीच धार में ऊँचा-नीचा होने लगा बहने लगा। मल्लाहों के हाथ पैर फूल गये थे उनसे कुछ बन नहीं पा रहा था। प्रधान मल्लाह ने निराश होकर दाँव फेंक दिया और कहा कि यह जिन्दगी का आखिरी समय है। अपने अपने इष्टदेव को याद करो और मृत्यु की घड़ियाँ गिनो। बेड़ा डूबने वाला है और बस हम सब मौत के मुँह में हैं।

यह दशा पत्थर को भी कँपा देने वाली थी। नौका में हा-हा कार मच गया। यात्री रोने लगे अपनी सुध-बुध भूल गए। मौत का डर ऐसा ही होता है। साधारण मनुष्य जब मृत्यु को काल्पनिक घटना में ही भयंकर दर्द समझ कर देता है तब यदि वह साक्षात् मृत्यु से घिरा हुआ हो तो कैसे संभल सकता है? जीवन प्यारा है और बहुत प्यारा है। मनुष्य सब छोड़ सकता है परन्तु जीवन का मोह छोड़ना अति कठिन होता है।

बड़ी भयङ्कर स्थिति है। मृत्यु का भयङ्कर मुख खुला हुआ है और उसका भीषण अट्टहास बड़े-बड़े वीरों के वज्र वक्षस्थलों को भी कँपा रहा है। परन्तु हमारे चरित नायक शान्त भाव से बेड़े में खड़े हुए हैं। मुख पर वही पहिले सी प्रसन्नता एवं वीरता खेल रही है। आश्वासन पूर्ण स्वर में यात्रियों को संबोधन करते हुए आपने कहा—

डरो मत धर्म में ध्यान करो। रोते क्यों हो? क्या रोने से बेड़ा पार हो जायेगा? जीना मरना किसी के बस की बात नहीं है। जो होना है वह

होगा। यदि आज हम सब की मृत्यु सतलुज की धार में ही बदी है तो कोई उसे टाल नहीं सकता। और यदि हमारे जीवन की घड़ियाँ बाकी हैं तो समय से पहिले सतलुज तो क्या, संसार भर में कोई मारने वाला नहीं है। धैर्य रक्खो, आत्मा अजर-अमर है, उसे कोई मार नहीं सकता। यदि देह मरता है तो इससे क्या? भगवान् के चरणों में अपने आपको अर्पण करो और उसका ध्यान करो। अब उसके सिवा और कहाँ गति है?"

चरित नायक के प्रवचन ने जादू का काम किया। सब लोग शांत हो गए, और अपने-अपने इष्टदेव के भजन में लग गये। चरित नायक भी पद्मासन लगा कर ध्यान करने लगे। मेरु शिखर के समान अडोल एवं अकंप भाव से ध्यान मुद्रा में जब चरित नायक ने अपना पाठ प्रारंभ किया तो स्थिति ने सहसा अपना रूप बदल डाला। एक ऐसा चमत्कार हुआ, जिसकी सहसा कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। बेड़ा अपने आप लहरों पर तैरता किनारे जा लगा। यात्रियों के खोए हुए मन वापस लौटे। जान-में-जान आई, सब हर्ष से नाच उठे। चरित नायक के जय-जयकारों से शतद्रु का तट दूर-दूर तक प्रति ध्वनित हो उठा। तट पर उतरते ही मल्लाह भी महाराज श्री के चरणों में पड़ा और हाथ जोड़कर कहने लगा—"धन्य गुरुदेव! आज आपकी दया से ही हम सब के प्राण बचे। मल्लाह का जीवन नदी को खेल समझता है, परन्तु आज यह खेल इतना मँहगा था कि प्राणों पर आ बनी थी।"

यात्री अलग हाथ जोड़े हुए चरित नायक का गुणगान कर रहे थे— 'दीनबन्धु! यह तुम्हारी कृपा का ही फल है कि तट पर जीवित खड़े हैं। आज आप न होते तो हम पापी जनों का तो अन्तकाल आ पहुंचा था। सन्त की महिमा कौन जान सकता है? गुरु नानक ठीक ही कहते हैं कि 'सन्त की महिमा वेद न जाने।' गुरुदेव, यह घटना जीवन भर याद रहेगी और आपकी महिमा की याद दिलाती रहेगी।'

चरित नायक ने सब को सान्त्वना दी और संकटकाल में धैर्य रखने के लिए कहा। आगे प्रवचन करते हुए कहा कि—'मैं तो एक साधारण साधु हूं। मैं क्या कर सकता था? तुम्हारा जीवन शेष था और उसी ने तुम्हें मृत्यु की इन भीषण घड़ियों में भी बचा लिया। और यदि कोई उपकार है तो वह सब भगवान का है और सच्चे धर्म का है। मनुष्य किसी भी अवस्था में हो, सुख में हो या दुःख में हो, उसे अपने प्रभु का स्मरण नहीं भूलना चाहिए।

क्षण भंगुर जीवन में एकमात्र वही तो हमारा सहारा है। देखना आज के दिन को कभी भूलना नहीं। प्रभु के स्मरण एवं धर्म के आचरण का महान् गौरव तुम अपनी आँखों से देख चुके हो। बस आज से जीवन प्रभु के चरणों में अर्पण कर दो और पापाचरण से अपने को अलग हटाओ।

चरित नायक का यह रावतु के तट पर दिया हुआ प्रवचन, वस्तुतः उनके अन्तर्हृदय की पवित्र भावनाओं का प्रतिबिम्ब है। मनुष्य एक तुच्छ प्राणी है। वह व्यर्थ ही अहंकार और माया के जाल में फँसा हुआ है। उसके जीवन का उद्धार क्या लौकिक और क्या आलौकिक सभी प्रकार से भगवान् की उपासना में रहा हुआ है। चरित नायक को देखिए—कितनी भीषणता थी? मृत्यु का खेल किस प्रकार भयंकर रूप धारण किए हुए था? फिर भी कितना दृढ़ निश्चय। पद्मासन लगाया और प्रभु का ध्यान करने लगे। मृत्यु की विभीषिका का मन पर कुछ भी असर न हुआ। ऐसे ही महापुरुषों के आदर्शों को लक्ष्य में रखकर किसी संत कवि ने कहा है—

यह दुनियाँ राम कहानी है
यह दुनिया बहता पानी है,
इक रंग बसो बहु रंग हसो
प्रभु नाम जपो दुःख में सुख में।

: २१ :

आचार्य श्री का विश्वास

साधक जीवन की महत्ता, अपने आपको पूज्य महापुरुषों का विश्वास-पात्र बनाने में है। वह साधक ही क्या, जो अपना विश्वास खो बैठे। साधना की सफलता का रहस्य, अपने जीवन को अधिक-से-अधिक व्यापकरूप में विश्वस्त बनाना है।

क्या तुमने कभी किसी महान पुरुष के मन में स्थान पाया है? यदि पाया है तो समझलो तुम्हारा जीवन ऊँचा उठ रहा है और तुम साधना की सफलता के सिंह द्वार पर पहुच रहे हो। यदि ऐसा अभी नहीं कर सके हो तो अपनी दुर्बलता को समझने के लिए प्रयत्न करो। जीवन के किसी अंतरग कोने में कोई दुर्बलता छुपी रहती है और वही मनुष्य को अपने आस-पास के जगत में विश्वस्त नहीं बनने देती है। प्रामाणिक जीवन, अवश्य विश्वासपात्र होता है।

चरितनायक के प्रामाणिक जीवन के सम्बन्ध में कोई प्रमाण उपस्थित करना और उसके द्वारा उनके विश्वस्त जीवन की झाँकी दिखाना, कुछ अर्थ नहीं रखता है। सूर्य को दिखाने के लिए दीपक जलाने की आवश्यकता है? कभी नहीं। प्रकाश के लिए प्रकाश की कभी आवश्यकता नहीं पड़ी। श्रद्धेय गणी जी महाराज का जीवन प्रारभ से ही प्रामाणिक, उच्च, निष्पक्ष एव विश्वसनीय रहा है। आप जहाँ भी रहे, वहीं अपने प्रति विश्वास का वातावरण पैदा किया और जनता के मन को मोह लिया। साधारण जनता ही नहीं, चरितनायक ने आचार्य जैसे महापुरुषों का विश्वास भी प्राप्त किया और पूर्ण रूप से प्राप्त किया।

विक्रम सवत् १६८९ का चातुर्मास, गणी जी महाराज का फगवाड़ा में था। चातुर्मास के पश्चात् जालधर, करतारपुर आदि क्षेत्रों में अहिंसा धर्म की दुन्दुभि बजाते रहे। धर्म पिपासु जनता आपके प्रवचनों मे सत्य की झाँकी

देखती थी। अतः चरितनायक वहाँ भी विराजते वहाँ ध्यान आदि का ठाठ लग जाता था।

अमृतसर महानगरी में श्रद्धेय जैनाचार्य पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज स्थिरवास के रूप में विराजमान थे। पूज्य श्री वृद्ध हो चले थे फिर भी तपश्चर्या की अमर ज्योति जलाये हुए थे। अमृतसर जैन श्री संघ पूर्ण भक्ति भावना से पूज्य श्री की सेवा का लाभ ले रहा था। एकाएक पूज्य श्री अस्वस्थ हुए और शारीरिक स्थिति नाजुक हालत पर पहुँचने लगी। युवाचार्य श्री काशीराम जी महाराज और महास्थविर श्रद्धेय गैंडेराय जी महाराज अमृतसर में विराजमान थे, अतः आत्मार्थी के साथ पूज्य श्री की परिचर्या में जुट गए। तथापि पूज्य श्री के हृदय में एक स्नेहशील व्यक्ति की आवश्यकता जागृत होने लगी। क्या पाठक बता सकते हैं वह व्यक्ति कौन होगा?

वह व्यक्ति और कोई नहीं हमारे चरित नायक थे। पूज्य श्री के परम विश्वासी भक्त होने का गौरवपूर्ण पद प्राप्त करने में हमारे चरितनायक ने पूज्य श्री की छत्रछाया में साधनात्मक जीवन व्यतीत किया था और कहीं पर भी पूज्य श्री के महान गौरव को ठेस नहीं लगाई थी। दीक्षा लेने के बाद सरलभाव से पूज्य श्री की सेवा में अपने आपको समर्पण कर देना और निरन्तर जैन-संघ की सेवा करते हुए उच्च जीवन बिताना, गणी श्री जी का ही काम था। योग्य शिष्य को पाकर आचार्य श्री हृदय से प्रसन्न थे और जब कभी कोई विषम परिस्थिति होती तो वे अपने इस योग्य शिष्य को अवश्य याद करते थे।

अब की बार भी पूज्य श्री ने कहा कि उदयचन्द्र कहाँ है? क्या उसे मेरे अस्वस्थ होने की सूचना देदी गई? तुम गलती कर रहे हो शीघ्र ही सूचना दो कि पूज्य श्री तुम्हें याद कर रहे हैं। मालूम होता है उसे पता नहीं लगा है। अन्यथा वह अपने आप बिना बुलाये यहाँ पहुँच जाता। पूज्य श्री का कहना बिल्कुल सही था। वस्तुतः गणी श्री महाराज को अभी तक कोई सूचना नहीं मिली थी। यह प्रसंग तो अस्वस्थता का था हमारे चरितनायक तो साधारण से साधारण प्रसंगों पर भी अक्सर अमृतसर पहुँचते थे और पूज्य श्री की सेवा का लाभ लेते थे। उनका विराट हृदय निमंत्रण और आमंत्रण के चक्कर में नहीं पड़ता था। वह तो कर्तव्य का बँधा।

हुआ था। फलत जहाँ भी, जब भी, जिस किसी भी रूप में कर्तव्य की पुकार होती, गणी जी सहर्ष कमर बाँधे तैयार रहते।

गणी जी महाराज को शीघ्र ही सूचना भेजी गई। सूचना मिलने की देर थी, विहार को देर न हुई। पूज्य श्री अस्वस्थ हों और फिर याद करते हों, भला फिर किसी प्रकार का विलम्ब हो सकता है? कभी नहीं। मार्ग के क्षेत्रों में कहीं भी अधिक न ठहर कर सीधे अमृतसर पहुचे। उधर पूज्य श्री और इधर गणी श्री जी, दोनों की ही प्रसन्नता का कुछ पार न था। एक दूसरे को देख कर, हृदय आनन्द विभोर हुए जा रहे थे।

पूज्य श्री ने कहा—"उदयचन्द्र! मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था। शरीर अस्वस्थ है, कुछ पता नहीं, किस समय क्या दशा हो? मानव-जीवन क्षणभंगुर है, इसका विश्वास ही क्या? मैंने साधना के क्षेत्र में लम्बा जीवन गुजारा है। मैं चाहता हूँ, जीवन क अन्तिम क्षण भी उसी साधना के विकास में गुजरें। न मुझे जीने का मोह है और न मरने का भय। जीवन-मरण की परिभाषा को अच्छी तरह समझ गया हू। मुझे दोनों ओर ही कोई आकर्षण नहीं है। मेरा आकर्षण जीवन की अन्तिम सलेखना-सथारा मे है। देखना, तुम मोह में पड़कर इस सम्बन्ध में कोई भूल न कर बैठो। तू अनुभवी है, इसलिए समय पर सथारा कराने का दायित्व तुझे सौंपता हू।"

चरितनायक ने वन्दना नमस्कार करते हुए निवेदन किया कि "भगवन्! आप यह क्या कहते हैं? अभी तो हमें आपकी छत्रछाया की अत्यधिक अपेक्षा है। आप इतने अस्वस्थ कहाँ हैं कि सथारा का विचार करें? आपकी अपने साधक जीवन के प्रति इतनी सचेतन जागरूकता हम लोगों के लिए महान आदर्श है। परन्तु अभी समय नहीं आया है। यदि समय आया तो आपकी आज्ञा शिरोधार्य होगी। सेवक भूल नहीं करेगा, आपकी आज्ञा का पालन करेगा।"

पाठक देख सकते हैं, पूज्य श्री की दृष्टि में चरितनायक का कितना ऊँचा व्यक्तित्व था! सथारा कराने का उत्तरदायित्व चरितनायक को सौंपते हुए, उनके प्रति पूज्य श्री ने कितना प्रामाणिक विश्वास प्रगट किया है? वह जीवन धन्य है और हजार बार धन्य है, जो अपने बड़ों का विश्वास प्राप्त करता है। कोई भी मानव-जीवन जब इस कोटि पर पहुच जाता है तो वह अपने जीवन की श्रेष्ठता एव सफलता को प्रमाणित कर देता है।

हाँ तो गणी जी महाराज ने पूज्य श्री की एक मास तक दिन-रात से
की। सौभाग्य से सेवा सफल हुई और पूज्य श्री स्वस्थ हो गए। संथारा
प्रसंग नहीं आया। उसे अभी आना भी नहीं चाहिए था। सत्पुरुष ज
तक रहते हैं तब तक समाज का कल्याण है। महा पुरुषों का अस्तित्व
समाज को प्रेरणा देने वाला होता है।

२२ .

पत्री और परम्परा

श्रद्धेय पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज क्रांति के अग्रदूत थे। पंजाब के साधु समाज में उन्होंने त्याग और वैराग्य की महान् क्रांति पैदा की। वे पुराने युग में जन्म लेकर भी नये विचारों के प्रतिनिधि थे। अत पुरानी परंपराओं के स्थान में नई परंपराओं को स्थापित करने के लिए उनके विचार सदा उद्दीप्त रहते थे।

पूज्य श्री का आगमाभ्यास गंभीर एवं तलस्पर्शी था। जैन ज्योतिष के तो आप प्रकाण्ड पण्डित थे। चन्द्र प्रज्ञप्ति और सूर्य प्रज्ञप्ति आदि सूत्रों के रहस्य, उनके लिए चिर परिचित से हो गये थे। अस्तु, आपने विचारा कि जैन ज्योतिष का इतना विशाल एवं गंभीर साहित्य होते हुए भी जैन समाज ब्राह्मण परंपरा के तिथि पत्रों पर चलती है और उन्हीं के द्वारा अपने संवत्सरी आदि पर्वों की तिथियाँ निर्धारित करती है। जब जैन ज्योतिष के द्वारा तिथि निर्णय हो सकता है, तब व्यर्थ ही हम क्यों पराश्रित बने रहें ?

पूज्य श्री के विचारों में उपर्युक्त मन्थन बहुत दिनों तक चलता रहा। अन्ततो गत्वा आपने दृढ़ निश्चय के साथ जैन पत्री तैयार की और उसे पंजाब जैन संघ में प्रचारित कर दी। परन्तु वह पुरानी प्रचलित परंपरा से मेल न खाने के कारण, पंजाब जैन संघ में संघर्ष का कारण बन गई। जैन श्री संघ का कुछ भाग पूज्य श्री के साथ था और वह पत्री के मार्ग पर चल पड़ा। परन्तु कुछ भाग पूज्य श्री का साथ न दे सका, वह अपनी पुरानी प्रचलित परंपरा के पक्ष पर अड़ गया।

मैं एक साधारण नया साधु हूँ। अत मेरा काम केवल घटनाओं का उल्लेख करना है। कौन घटना क्या थी और कैसे थी ? यह आलोचना करना मेरे क्षेत्र से बाहर की चीज़ है। अत पत्री सही थी या परंपरा, इस सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं कह सकता। न मुझे इतनी दूर तक का अभी तक ज्ञान है, और यदि कुछ थोड़ा बहुत है भी तो उस पर से किसी ओर सत्यासत्य की

घोषणा करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। हाँ मैं यह अवश्य जानता हूँ, और इसी कह भी सकता हूँ कि पक्षी परंपरा के प्रश्न को लेकर पंजाब का जैन संघ एक समय बहुत क्षुब्ध हो उठा था और आपस में काफी वाद्-विवाद रहा था।

चरितनायक परंपरा पक्ष की ओर थे। श्रद्धेय पूज्य श्री के प्रति हृदय में अपार आदर और श्रद्धा भावना रखते हुए भी चरितनायक ने अपने विश्वास का अनुसरण किया और आचार्य श्री का विरोधी पक्ष लिया। पाठक जानते ही हैं कि आचार्य पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज चरित नायक के दादा गुरु थे और श्रद्धेय प० श्री गैंडेरायजी महाराज गुरुदेव। चरितनायक को दादा गुरु और गुरु दोनों से ही अलग होना पड़ा। काफी विषम समस्या थी। साधारण मनुष्य के लिए यह धर्म संकट का समय होता है। वह क्या करे और क्या न करे कुछ समझ नहीं आता। परन्तु साहसी आत्मा अपने हृदय के विश्वास को देखती है और उस पर दृढ़ता से चल पड़ती है। परिवार का मोह या और कोई मोह उन्हें अपने विश्वास की विपरीत दिशा में नहीं ले जा सकता। चरितनायक अपने विश्वास में कितने दृढ़ थे इसका यह ज्वलंत प्रमाण है।

चरितनायक चातुर्मास में पड़ने वाले अधिक मास को मानना उचित नहीं समझते थे। यहाँ वे परंपरा वादियों से भी अलग हो जाते थे। न पक्षी और न पूर्वीय परंपरा, चरित नायक का विचार मार्ग तीसरा ही था। चरित नायक का यह केवल विचार ही नहीं था, उन्होंने सब प्रकार का विरोध सहन करते हुए भी उसे आचरण में उतारा। जब कभी चातुर्मास में महीना बढ़ता तो चरितनायक पाँच महीने का चातुर्मास न करके चार महीने का ही चातुर्मास करते और बाद में विहार कर देते। यह काम कई वर्षों तक चला, अंत में संघ की एकता के लिए ही अपना पक्ष छोड़ा। जब शास्त्रानुसार चातुर्मास में अधिक मास मान्य नहीं है इस सिद्धांत को प्रमाणित करने के लिए आपने एक बार जालंधर में परमविदुषी महासती श्री पार्वती जी से शास्त्रचर्चा भी की थी। उक्त चर्चा में आपने अपने पक्ष को शास्त्र सम्मत सिद्ध कर दिखाया था। शास्त्र चर्चा द्वारा प्रमाणित हुए अपने पक्ष को जैन संघ की एकता के लिए छोड़ना, चरितनायक का सद्गुण एवं एकता के प्रति असाधारण पक्षपात सूचित करता है।

पन्नी परंपरा के प्रश्न को लेकर पंजाब का साधु संघ दो भागों में विभक्त हो गया था। आपस में वन्दना व्यवहार और आहार पानी आदि के सम्बन्ध टूट गए थे। काफी कड़ुवाहट पैदा हो गई थी। चरितनायक ने और उपाध्याय श्री आत्मारामजी म० आदि मुनियों ने इस संघर्ष को समाप्त करने के लिए एक बार मुनि सम्मेलन किया। सम्मेलन में निर्णय हुआ कि "विशाल मुनि मण्डल पूज्य श्री की सेवा में पहुंचे और प्रार्थना करे कि पन्नी का प्रचलन स्थगित कर दिया जाये।"

उपर्युक्त निर्णय के अनुसार परंपरावादी मुनियों का एक विशाल संघ पूज्य श्री की सेवा में चला। जब यह संघ अमृतसर के आस-पास पहुँचा तो प्रश्न उपस्थित हुआ कि वन्दना-व्यवहार तो टूटा हुआ है, इस सम्बन्ध में क्या करना होगा? चरितनायक ने कहा कि "हम सब पूज्य श्री के ही सेवक हैं। वे हमारे आचार्य हैं और हम उनके साधू। यह ठीक है कि इस समय विरोध चल रहा है और उनसे सम्बन्ध टूटा हुआ सा है। परन्तु हमें आचार्य श्री का सम्मान करना ही चाहिए। आचार्य श्री जी के पास के सन्त हमें वन्दना करें या न करें, हम अवश्य वन्दना नमस्कार के द्वारा आचार्य श्री जी का सम्मान करेंगे। आप लोगों के लिए नहीं, मेरे लिए आचार्य श्री जी के अतिरिक्त एक और वन्दना भी आवश्यक है। वह मेरे गुरुदेव को वन्दना है। गुरुदेव श्री गैंडेरायजी महाराज, पूज्य श्री की सेवा में हैं, मैं उनको भी वन्दना करूँगा। गुरुदेव का विनय मुझसे नहीं छोड़ा जायेगा।"

यह है समयज्ञता, उदारता और महत्ता। विरोध है, संघर्ष चल रहा है, परन्तु कर्तव्य की उपेक्षा नहीं हो सकती। चरितनायक मिथ्या अहंकार के जाल में नहीं फँसते थे। उनका विरोध भी विवेक को लिए हुए होता था। वे मर्यादा पालन के कट्टर पक्षपाती थे। क्या मजाल, जो कभी मर्यादा पालन में जरा भी चूक हो जाये। चरितनायक अपने साधना-पथ के वे सच्चे साधक थे जो जीवन के हर क्षेत्र में जागरूक रहते थे, किसी भी भुलावे में रहना उन्होंने जाना नहीं।

हाँ तो साधु संघ पूज्य श्री की सेवा में पहुँचा और चरित नायक के आदेशानुसार ही वन्दना आदि की विधि सम्पन्न हुई। पन्नी और परंपरा के प्रश्न को लेकर जब बातें होने लगीं तो पूज्य श्री ने आगम पाठ निकाल कर सामने

रखने और चर्चा करने के लिये कहा। इस पर चरितनायक ने सविनय निवेदन किया कि "भगवन्! मैं तो श्री चरणों में प्रार्थना करने आया हूं शास्त्रार्थ करने नहीं। आप जानते हैं यदि मैं वादी के रूप में आता तो उसका रूपक कुछ और ही होता। हम तो आपके सेवक हैं। प्रार्थना करना हमारा काम है और उस पर ध्यान देना आपका काम। वर्तमान समय की स्थिति को देखते हुए पक्षी का प्रचलन स्थगित कर देने की कृपा करें तो संघ में शांति स्थापित हो जायेगी।

चरितनायक ने संघ की एकता के लिए काफी प्रयत्न किया परन्तु सफलता न मिल सकी। काल बलिष्ठ बलवती है अतः जब तक किसी कार्य की सफलता का शुभ समय नहीं आता तब तक मनुष्य का प्रयत्न किसी अंतिम निर्णय पर नहीं पहुंच सकता। मुनि संघ अंतिम निर्णय पर पहुंचे बिना ही वापस लौट गया। फलतः चारों ओर निराशा का वातावरण फिर घनीभूत हो गया।

चरित नायक ने आशा का पल्ला अभी नहीं छोड़ा था। वे कभी प्रत्यक्ष तो कभी परोक्ष इस दिशा में प्रयत्न करते ही रहते थे। जालंधर नगर में दस हजार से भी कुछ अधिक जन-संख्या में पञ्जाब जैन संघ एकत्र हुआ और एक बार फिर कोई मार्ग निकालना चाहा। अनेक चरितनायक और तत्कालीन उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज आदि सन्त पुनः एकता स्थापित करने के कार्य में जुटे, परन्तु वहाँ पर भी सफलता प्राप्त न हो सकी। दोनों ओर कुछ लोग ऐसे थे जो एकता के मार्ग में रोड़े बने हुए थे।

पक्षी और परंपरा ने पञ्जाब में उग्ररूप धारण किया हुआ था। प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में पार्टियाँ बन गई थीं और बड़े भद्दे ढंग से आपस में लड़ झगड़ रही थीं। चरितनायक इस पार्टीबाजी से सर्वथा अलग-थलग रहते रहे। आप जहाँ भी जाते सद्गुण और प्रेम का ही सन्देश देते थे। आपका कहना था कि "साधुओं की बातों में गृहस्थ न उलझें। पक्षी या परंपरा कुछ भी हो उन्हें मध्यस्थ भाव से रहना चाहिए। जो भी क्षेत्र इस संघर्ष में पड़ जायेगा वह अपने संघ की एकता को खो बैठेगा। बिरादरियों में यह कटुता चलेगी तो दूर दूर तक द्वन्द्व तथा पृथक्करण की आग अबाधी चली जायेगी। चरितनायक के प्रयत्नों से बहुत से क्षेत्रों में शांति रही।

साधु संघ की कटुता भी बहुत उग्ररूप धारण कर चुकी थी। कुछ असमयज्ञ लोग तो ज़रा भी अपने मन को व्यवस्थित नहीं कर पा रहे थे। जो मन में आता, वह कहते और लिखते। वाणी और लेखनी का संयम अधिकतर नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। भारतवर्ष लड़ता है, पर वह लड़ने के ढंग पर नहीं लड़ता। यह भी कोई लड़ना है, जो मस्तिष्क का सन्तुलन ही कुछ न रहे। दुर्भाग्य से पञ्जाब का जैन समाज भी उन दिनों इसी प्रकार की लड़ाई लड़ रहा था। कुछ लोग तो कभी-कभी उन्मत्त से हो जाते थे और कुछ-का कुछ कहने लगते थे।

हाँ तो इसी प्रसङ्ग में एक बार कुछ लोगों ने यह भी चाहा कि हम अपना आचार्य अलग बनालें और पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज से अपना सम्बन्ध सर्वथा तोड़ दें। ये लोग पञ्जाब जैन सम्प्रदाय को सदा के लिए दो स्वतन्त्र-दलों में विभक्त कर देना चाहते थे। चरितनायक को जब इस योजना का पता लगा तो आपने डटकर विरोध किया। आपका कहना था कि—"पत्री के प्रश्न को लेकर हमारा आचार्य श्री से मतभेद अवश्य है। परन्तु यह मतभेद ऐसा नहीं है कि हम अपना आचार्य ही अलग बनालें। आज यह साधारण बात है, परन्तु भविष्य में जब यह भयङ्कर-फूट का कारण बनेगी तो आने वाली परंपरा हमारी दुर्बुद्धि के प्रति घृणा व्यक्त करेगी। मन को छिछला मत बनाओ, गम्भीरता से विचार करो। पूज्य श्री का सम्मान, समस्त संघ का सम्मान है। पूज्य श्री जैसा महान् आत्मा, हम में कौनसा है, जो उनके प्रति द्वन्द्वी का स्थान ले? आप व्यर्थ ही इस झगड़े को तूल दे रहे हैं। यह सब संघर्ष अल्पकालिक है। कुछ ही समय बाद आप लोग देखेंगे, सब शांति हो जायेगी और वही पहिले सा स्नेह भरा वातावरण पुनः लौट आयेगा।"

श्रद्धेय चरित नायक ने दूसरा पूज्य बनाने का तीव्र विरोध किया। यह आपकी महत्व पूर्ण दृढता ही थी कि जो इस प्रकार कटुता पूर्ण संघर्ष के होते हुए भी दूसरा पूज्य नहीं बनाया जा सका। दुर्भाग्य से यदि तब दूसरे पूज्य की स्थापना करदी होती तो आज पञ्जाब के जैन समाज को उसका अपना गृह कलह कहीं का भी न छोड़ता।

श्रद्धेय पूज्य श्री सोहनलालजी महाराज अपने युग के एक महान् प्रधान संत थे। वे समाज में क्रांति लाना चाहते थे और जैन समाज को ब्राह्मण पचांगों के बंधन से मुक्त कराकर जैन ज्योतिष का स्वतन्त्र महत्त्व स्थापित करना चाहते

थे। उनका हृदय पवित्र भावना से भरा हुआ था। अन्य किसी प्रकार की दुरभिसन्धि उनके मन में नहीं थी। अतएव जब उन्होंने देखा कि जनता प्राचीनता के पक्ष को छोड़ना नहीं चाहती है और व्यर्थ ही कलह बढ़ते जाते हैं तो उन्होंने संघ की एकता के लिए पत्री को स्थगित कर दिया। इस सम्बन्ध में जब उनके चरणों में भारत के प्रमुख जैनों का एक शिष्ट मण्डल अमृतसर पहुंचा था तो पूज्य श्री ने कहा था— मैं जैन संघ की एकता के लिए पत्रिका को स्थगित करने के लिए तैयार हूँ। परन्तु यह एकता सूखी संगठी नहीं होनी चाहिए। समस्त भारत के स्थानकवासी जैन मुनिराजों का एक बृहत्सम्मेलन कराओ और स्थानकवासी जैन समाज के संगठन की सुदृढ़ नींव डालो। जब तक स्थानकवासी जैन संघ के सभी सम्प्रदायों की एक व्यवस्था और एक समाचारी न होगी, तब तक समाज का अन्धकार पूर्ण भविष्य प्रकाशमान नहीं बन सकेगा।[1]

पूज्य श्री की यह प्रेरणा ही एक प्रकार से अखिल भारतीय मुनि सम्मेलन अजमेर की जन्मदात्री है। शिष्ट मण्डल ने पूज्य श्री के प्रवचन को शिरोधार्य किया और अखिल भारतीय मुनि सम्मेलन की योजना जो काफी दिनों से ढीली-सी पड़ रही थी अब वह बद्धमूल हो गई। यह शिष्ट मण्डल विक्रम संवत् १९८८ के चातुर्मास में आया था। चरित नायक का चातुर्मास इस वर्ष जालंधर छावनी में था। शिष्ट मण्डल ने चरितनायक जी के दर्शनों का भी लाभ उठाया और अखिल भारतीय साधु सम्मेलन की योजना के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया। पूज्य श्री की भावना को उनके द्वारा और अधिक बल मिला, फलतः सम्मेलन योजना सफल हो गई।

: २३ :

पंचनदीय मुनि सम्मेलन

मैं कितनी ही वार यह कह चुका हूँ कि चरितनायक के हृदय में सामाजिक संगठन के प्रति वलवती प्रेरणा रहती थी। आप वर्तमान काल में सामाजिक और धार्मिक जीवन की महत्ता का मूल बीज आपस के सगठन में ही देखते थे। आपका सिद्धान्त था कि आज के युग में जो जाति सगठित होकर रहेगी अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा को महत्व न देकर सामूहिक प्रतिष्ठा को महत्व देगी, वही ससार में जीवित रह सकेगी, अन्यथा नहीं।

अतएव जब आपके सामने अखिल भारतीय मुनि-सम्मेलन की चर्चा आई, तब आपका हृदय हर्षातिरेक से गद्‌गद्‌ हो उठा। अपने मनका चिरकालीन स्वप्न पूरा होता हुआ देखकर भला किसको न आनन्द होगा? चरितनायक ने सामाजिक सेवा के क्षेत्र में जब से प्रवेश किया था, तभी से आप इस चीज की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे। समय आया और वह आवश्यकता पूर्ण होती दीखने लगी।

चरितनायक बहुत दूरदर्शी विचारक थे। अस्तु, आपने विचार किया कि "जबतक प्रान्तीय मुनि सम्मेलन नहीं हो जाते, तब तक अखिल भारतीय मुनि सम्मेलन सफल नहीं हो सकेगा। हर प्रान्त के असगठित एवम् अव्यवस्थित मुनि, यदि योंही वृहत्सम्मेलन में जाकर एकत्रित होगए तो, वहाँ किस निर्णय पर पहुँचेंगे। अखिल भारतीय सम्मेलन की मूल कड़ियाँ तो प्रांत ही हैं, अत सर्व प्रथम प्रांतीय कड़ियों को सुलझा लेना चाहिए। प्रांतीय सगठन के मजबूत होजाने पर अखिल भारतीय संगठन को मजबूत बनाने में सुविधा रहेगी।"

चरितनायक जो सोचते थे, उसे कार्य रूप में परिणत करने का भी प्रयत्न करते थे। यहाँ तो ज्योंही प्रान्तीय सगठन का विचार आया, त्योंही आपने पजाब प्रान्तीय मुनि सम्मेलन की योजना तैयार की और इस सम्बन्ध में परामर्श करने के लिए पूज्य श्री की सेवा में अमृतसर पहुँचे। पूज्य श्री और गणी श्रीजी का यह मिलन अत्यन्त ही मधुर था। गुरुदेव श्री रघुवर दयालजी महाराज कहा

करते हैं कि "वह स्नेह और प्रेम से भरा पूरा हृदय बस देखने ही योग्य था। इस प्रकार के आनन्द पूर्ण वातावरण जीवन में विरले ही आया करते हैं।

लगभग पूज्य श्री की सेवा में चरितनायक काफी दिनों तक रहे। अखिल भारतीय और प्रान्तीय दोनों ही मुनि सम्मेलनों के सम्बन्ध में बहुत गम्भीर विचार विमर्श होता रहा। पूज्य श्री ने चरितनायक को दोनों ही सम्मेलनों के सम्बन्ध में अपने अनुभवपूर्ण परामर्श दिए। जिस दिन अमृतसर से विहार करना था उससे पहिली रात्रि को पूज्य श्री ने चरितनायक को बड़े ही मार्मिक एवम् गम्भीर शब्दों में सन्देश दिया कि—"मैं अत्यन्त वृद्ध हो चला हूँ। मुझ में कहीं आने जाने की शक्ति नहीं है अन्यथा मैं अवश्य ही अखिल भारतीय मुनि सम्मेलन अजमेर में सम्मिलित होता। अब वहाँ तुम्हें मेरा प्रतिनिधित्व करना होगा। तुम मेरे गच्छ के एक सुयोग्य पदवीधर मुनि हो। पंजाब को तुम पर गर्व है। अखिल भारतीय मुनि सम्मेलन में पंजाब के गौरव की रक्षा करना, किसी प्रकार भी हीन न होने देना। पंजाब से तुम्हें बहुत दूर जाना है। संभव है काफी दिन लगें। इधर मैं तो अब किनारे बैठा हुआ हूँ। क्या पता है फिर मिलना हो या न हो? संभव है नहीं ही मिलना हो। बस आज मेरे अन्तिम दर्शन कर लो।'

पूज्य श्री उपर्युक्त प्रवचन करते हुए गद्गद् हो गए। इधर गणी जी की भी आँखों में भी आंसू छलछला आए। अपने युग के दो महान् साथी दादा और पोता एक दूसरे से विदा हो रहे थे। विदा के मुख में पूज्य श्री के ये शब्द कि संभव है नहीं ही मिलना हो। बस आज मेरे अन्तिम दर्शन कर लो। भविष्य की ओर मूक संकेत कर रहे थे। स्नेह कहता था इतनी दूर न जाएँ। परन्तु कर्त्तव्य कहता था जाना ही होगा। काफी संघर्ष के बाद कर्त्तव्य की ही विजय हुई। पूज्य श्री ने चरितनायक को अपना आशीर्वाद दिया और युवाचार्य श्री काशीरामजी महाराज से आप की आज्ञा में चलने को कहा।

पंजाब प्रान्त का सम्मेलन बहुत कुछ विचार विमर्श के बाद विक्रम संवत् १९८९ के प्रारम्भ में होशियारपुर में होना निश्चित हुआ। पंजाब जैन संघ में उत्साह की लहर दौड़ गई। सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए जो भी मुनिराज आए बड़े हर्ष और उत्साह के वातावरण में आए। सर्व श्री उपाध्याय आत्मारामजी महाराज युवाचार्य श्री काशीरामजी महाराज पं० श्री हेमचन्द्रजी महाराज पं० विमलचन्द्रजी महाराज पं० नरपतरायजी महाराज पं० श्रीराम

स्वरूपजी महाराज आदि मुनि अपनी-अपनी शिष्य मण्डली के साथ होशियार पुर में पधारे। होशियारपुर के जैनसंघ में भक्तिभावपूर्ण हर्ष का सागर ठाठें मारने लगा।

श्रद्धेय गणीजी महाराज होशियारपुर में पधारे तो जय ध्वनिसे आकाश गूँजने लगा। स्वागत समारोह का दृश्य देखने ही योग्य था। मुनिराजों और श्रावकों ने अपने हृदय सम्राट् को सम्मेलन नेता के रूप में पाकर परम प्रसन्नता अनुभव की। इस प्रकार का यह सम्मेलन, पजाब के इतिहास में पहिला ही था, अत किसी अनुभवी मार्ग प्रदर्शक की आवश्यकता थी और वह गणीजी महाराज के रूप में पूर्ण होगई। श्रद्धेय चरितनायक इन दिनों अस्वस्थ भी थे, एक बार आने की सभावना भी न रही थी परन्तु अपने विचार को स्वयम् ही मूर्तरूप देने न आएँ, यह गणीजी से कैसे हो सकता था?

सम्मेलन का कार्य प्रारम्भ हुआ। सर्व सम्मति से चरितनायक ही सम्मेलन के प्रधान अध्यक्ष चुने गए। भला जहाँ गणीजी महाराज उपस्थित हों, वहाँ दूसरा कौन अधिनायक बनता? उनके सफल नेतृत्व में सबका विश्वास था। वह प्रतिभाशाली मस्तिष्क उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने में सुप्रसिद्ध होचुका था, प्रत्येक व्यक्ति के प्रति उनकी निष्पक्षभावना चिरकाल से ख्याति प्राप्त किए हुए थी, भला उस पर कौन अविश्वस्त होता? सर्व प्रिय जीवन की परीक्षा, ऐसे ही अवसरों पर हुआ करती है।

श्रद्धय चरितनायक के सुयोग्य नेतृत्व में सब कार्य शान्तिपूर्वक संपन्न हुआ। पत्री और परपरा के कटुतापूर्ण लंबे सघर्ष के बाद दोनों पक्षों के मुनि पहिली बार ही यहाँ एकत्र हुए थे। साधारण जनता को सभावना थी कि मनमें पड़े हुए पुराने सघर्ष-रूप अग्निकण पुन प्रज्वलित न हो उठें। परन्तु गणी श्रीजी के चमत्कारपूर्ण शासन में कोई भी सघर्ष का कारण उपस्थित न हो सका। सभी निर्णय सर्वसम्मति से हुए और बड़े प्रेम पूर्ण वातावरण में हुए। अन्य निर्णयों के साथ-साथ एक महत्त्व पूर्ण निर्णय यह भी हुआ कि 'अजमेर सम्मेलन में यदि पत्री का प्रश्न उपस्थित हो तो पजाब के मुनि उसके सम्बन्ध में कुछ न कहें। आपस के सघर्ष को वहाँ न छेड़ा जाये। मुनि सम्मेलन का बहुमत जो भी निर्णय दे, वही हमें मान्य होगा।"

उपर्युक्त निर्णय कराने में चरितनायक ने ही महत्त्वपूर्ण भाग लिया। यह प्रस्ताव सर्व प्रथम आपने ही रक्खा और सर्व सम्मति से पास कराया। आप

भविष्य के सम्बन्ध में अत्यधिक जागरूक रहते थे। आपका विचार था कि हम अपने पुराने मतभेदों का प्रदर्शन क्यों प्रदर्शन करें ? आपने वृहद् सम्मेलन में जाने के लिए निर्वाचित हुए प्रतिनिधियों को भी सन्देश के रूप में कहा—

'आप लोग संघ की सेवा के एक बहुत बड़े कार्य के लिए जा रहे हैं। हजार हजार वर्ष से बिखरी हुई कड़ियों को जोड़ने का काम सहज नहीं है। बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी। यदि सब लोग अपने-अपने संप्रदाय के व्यक्तिगत मोह एवम् प्रतिष्ठा में ही फँसे रहे और सामूहिक रूप में संघ का हित न सोच सके तो सम्मेलन सफल नहीं हो सकेगा। आप पंजाब प्रान्त के प्रतिनिधि हैं। आप पर बहुत बड़ा उत्तर दायित्व है। अपने हृदय को विशाल रखना छोटा न बनाना। संप्रदाय के व्यक्तिगत महत्ता के फेर में न पड़ना, जो भी निर्णय समस्त साधु समाज के हित की दृष्टि से बहुमत के रूप में हो वह प्रसन्न भाव से मान्य करना। पूज्य श्री ने मुझे अजमेर सम्मेलन में जाने के लिए कहा है और अपना आशीर्वाद भी दे दिया है। परन्तु मैं बूढ़ा हो चला हूँ और दुर्भाग्य से अस्वस्थ भी रह रहा हूं। अतएव मेरा जाना कठिन है। पूज्य श्री की सेवा में मैं अपनी विवशता सूचित कर दूंगा। अतः आप लोग ही वहाँ पंजाब प्रान्त के गौरव के संरक्षक रहेंगे।'

वयोवृद्ध साधक के सन्देश को उपस्थित मुनियों ने हर्ष ध्वनि के साथ ग्रहण किया। परन्तु गणीजी महाराज नहीं जा रहे हैं यह बात निराशा का कारण बनी। सब मुनि गणीजी महाराज के सामने खड़े होगए और वृहत्सम्मेलन में पधारने के लिए आग्रह करने लगे। आपके बिना कोई भी मुनि आगे बढ़ने के लिए तैयार न था। बहुत देर तक प्रार्थना का क्रम चला। जब यह प्रार्थना हो रही थी तो गुरुदेव श्री रघुवरदयालजी महाराज एक ओर शान्त भाव से चुप चाप बैठे थे। वे प्रार्थना करने खड़े न हुए थे। जब यह देखा तो श्रद्धेय उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज और युवाचार्य श्री काशीरामजी महाराज ने आपको अत्याग्रह के साथ प्रार्थना के लिए खड़ा किया। आपने खड़े होकर कहा— 'मैं क्या प्रार्थना करूं ? गुरुदेव वृद्ध हैं और साथ ही अस्वस्थ भी। लंबा विहार है मारवाड़ का बड़ा ही कठिन। मैं महाराज श्री को कष्ट नहीं देना चाहता।

आग्रह करने वाले कब मानने वाले थे ? भला वे अपने पधारे हुए सफल नेता को छोड़ कर अकेले कैसे जा सकते थे ? उनकी दृष्टि में पंजाब का

गौरव, गणीजी महाराज के साथ पधारने में ही था। अतः आग्रह बढ़ता गया, और अधिकाधिक बढ़ता गया। अस्तु, चरितनायक ने अपने प्रिय शिष्य की ओर स्नेह पूर्ण दृष्टि से देखा और कहा—"क्यों रघुवर! क्या विचार है?"

"गुरुदेव! मैं क्या बताऊँ, मेरा क्या विचार है? जो आपका विचार, वही मेरा विचार। मैंने अपने विचारों को कभी स्वतंत्र रूप नहीं दिया। आप अपने स्वास्थ्य को देख लीजिए। यह सेवक तो जो आज्ञा होगी, उसे पालन करने के लिए तैयार है। सेवक का काम आज्ञा पालन करने का है, परामर्श देने का नहीं।" श्री रघुवर दयालजी महाराज ने उत्तर देते हुए कहा।

"रघुवर! स्वास्थ्य दुर्बल है। वृद्धावस्था भी है। मार्ग की कठिनाइयाँ भी कुछ कम नहीं हैं। परन्तु सघ का आग्रह है मैं अधिक इन्कार नहीं कर सकता। कुछ भी हो कोई चिन्ता नहीं। पूज्यश्री की आज्ञा और संघकी प्रार्थना के कारण, मैं सब कुछ कठिनाई झेलने के लिए तैयार हू। मेरी अन्तरात्मा कहती है, उदय चन्द्र, तुझे अजमेर जाना ही चाहिए। बता, तेरा मन तुझे क्या कहता है?" गणीजी महाराज ने हृदय की भावना को स्पष्ट करते हुए कहा।

"गुरुदेव! आपका निर्णय, सो मेरा निर्णय है। मेरा मन आपसे पृथक् कुछ नहीं कहता। अजमेर पधारिए और अवश्य पधारिए। यह सेवक आपके साथ है। एक शिष्य गुरुदेव की जो सेवा करता है, वह सब रघुवर करेगा और आपको किसी प्रकार का भी कष्ट न उठाने देगा। आगे जो भविष्य हो।" श्री रघुवरदयालजी ने भक्ति भाव से गद्‌गद् होते हुए गुरुदेव के चरणों में मस्तक झुका दिया।

श्रीगणीजी महाराज और श्री रघुवरदयालजी महाराज की स्वीकृति मिलने की देर थी, उपस्थित मुनि मण्डल आनन्द में विभोर होगया। गणीजी महाराज के जय जयकार से भवन गूँजने लगा। पजाब प्रान्त के समस्त प्रतिनिधियों में गणीजी महाराज का मुख्य नेता चुना गया और पजाब सम्प्रदाय की ओर से सम्मेलन सम्बन्धी समस्त सत्ता गणीजी के चरणों में अर्पण की गई।

२४

अजमेर के पथ पर

शरीर वृद्ध हो चुका है परन्तु मन अभी बूढ़ा नहीं हुआ है वह बिलकुल तरुण है। मन जब किसी कार्य को करने के लिए तैयार होता है तो वृद्ध शरीर में भी तरुणों जैसी स्फूर्ति पैदा कर देता है। देखिए यह एक ऐसा ही बूढ़ा जिसका शरीर अवश्य बूढ़ा है, परन्तु मन अभी बूढ़ा नहीं बना है कितनी लंबी यात्रा के लिए चला है? वृद्ध होते हुए भी आप सबसे आगे तेज कदमों से चल रहा है और तरुण शिष्यमंडली चरण चिन्हों पर पीछे-पीछे चली आ रही है।

क्या आप बता सकते हैं—यह कौन यात्री है? कहाँ से चला है और कहाँ जा रहा है? बुढ़ापे की दुर्बलता में भी क्या कारण है जो इतनी लंबी यात्रा पर चला है? गाँव-गाँव में आग्रह होता है ठहराने के लिए प्रार्थनाएँ होती हैं परन्तु क्या कारण है जो ठहरता नहीं है कहीं अधिक विश्राम नहीं ले पाता है चला ही जा रहा है? कौनसा ऐसा महान आदर्श है जिसने बूढ़े और अस्वस्थ शरीर में भी नवयुवकों जैसी स्फूर्ति पैदा करदी है।

यह यात्री और कोई नहीं श्रद्धेय गणी श्री उदयचन्द्र जी महाराज हैं। आप पंजाब से मारवाड़ आ रहे हैं। कहाँ पंजाब और कहाँ मारवाड़? कितनी लंबी और कठोर यात्रा है। परन्तु अजमेर में स्थानक वासी जैन समाज का अखिल भारतीय मुनि सम्मेलन होने वाला है उसी में भाग लेने के लिए जा रहे हैं। जैन संघ का सुदृढ़ संगठन हो जैन धर्म में नई चेतना का प्रवाह प्रवाहित हो जैन संस्कृति का पुनरुत्थान हो कुछ इन्हीं भावनाओं की प्रेरणा से वृद्धावस्था में भी प्रस्तुत कठोर यात्रा के लिए चल पड़े हैं।

गणी जी महाराज का शरीर अब पहिले सा बलवान नहीं रहा है परन्तु आत्मा तो महान बलवान है। उनकी शक्ति क्षीण होने की अपेक्षा और अधिक विकसित हुई है। जीवन के कठिन पथ इसी शक्ति के द्वारा पार किए जाते हैं। शरीर का बल हो या न हो, वह आत्मबल अवश्य होना चाहिए।

गणी जी महाराज प्रारंभ से ही महान् आत्मविश्वासी रहे हैं। उन्होंने असंभव और अकल्पनीय घटनाचक्र में भी दृढ़ आत्मविश्वास के द्वारा सफलता प्राप्त की है। उनकी यह शक्ति, बहुत बड़ी शक्ति है। इस शक्ति का चमत्कार उनके जीवन के कण-कण में समाया हुआ है। उनके विचारों में सुप्रसिद्ध अंग्रेज कवि बोवी का निम्नलिखित आदर्श सिद्धान्त ओतप्रोत हो रहा है—

"आत्म विश्वास की कमी ही हमारी बहुतसी असफलताओं का कारण होती है। शक्ति के विश्वास में ही शक्ति है। वे सब से कमजोर हैं, चाहे वे कितने ही शक्तिशाली क्यों न हों, जिन्हें अपने आप तथा अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं है।"

विक्रम सवत् १६८६ में रामपुरा चातुर्मास था। चातुर्मास समाप्त होते ही श्रद्धेय गणी जी महाराज ने अजमेर की ओर प्रस्थान किया। मालेर-कोटला, नाभा, कैथल आदि छोटे-बड़े क्षेत्रों में धर्म दुन्दुभि बजाते हुए भारत की राजधानी देहली में पधारे। देहली की जनता के लिए आपका आगमन रत्न-वर्षा के समान था। सर्वत्र हर्ष और आनन्द के मेघ छा गए। आप सर्व-प्रथम देहली के सदर बाजार में विराजमान हुए। यहाँ बसत पचमी के दिन धर्मशाला में आपका सार्वजनिक व्याख्यान हुआ। व्याख्यान की शैली हो बड़ी ही अद्भुत एव प्रभावोत्पादक थी। क्या जैन और क्या अजैन सभी प्रवचन सुनने के बाद जय-जयकार करने लगे। जनता ने आपको अधिक ठहराने के लिए अत्याग्रह किया, परन्तु आप कैसे ठहर सकते थे? आप को तो अजमेर मुनि सम्मेलन के लिए एक लबा विहार करना था।

देहली शहर में उन दिनों सुप्रसिद्ध मुनिराज प० श्री छोटेलाल जी म० स्थिरवासी के रूप में विराजमान थे। शरीर बहुत वृद्ध था, कुछ अस्वस्थ भी रहते थे। अत देहली के श्रद्धालु श्रावकों ने अत्याग्रह करके महाराज श्री को स्थिर वास के रूप में ठहराया हुआ था। चरितनायक के आगमन की सूचना आप श्री को भी मिली। आपने अपने मुनिराजों को श्रावकवृन्द के साथ गणी जी महाराज की सेवा में भेजा और शहर (महावीर भवन) में पधारने के लिए आग्रह किया। चरितनायक, शहर में विराजमान हुए। महाराज श्री और अन्य मुनियों के साथ चरितनायक का बड़ा ही प्रेम और सद्भावना से भरा हुआ सद्व्यवहार रहा। श्री छोटेलाल जी महाराज ने चरितनायक को अधिक से अधिक दिल्ली में विराजने के लिए आग्रह किया, परन्तु चरितनायक तो मुनि सम्मेलन के आदर्श पथ पर बढ़े जा रहे थे, भला वे कैसे ठहर सकते

थे ? साधुसी पूर्ण कर्तव्यनिष्ठ यात्री को किसी भी प्रकार का विघ्न हो चाहे वह प्रेम मय हो और चाहे वह क्लेशमय हो, स्वीकृत पथ से भ्रष्ट नहीं कर सकता।

पेहवी से चरितनायक बठवर की ओर अग्रसर हुए। मार्ग की कठिनाइयाँ क्या लिखूँ और क्या न लिखूँ ? कभी आहार मिलने को होता है तो पानी नहीं मिलता और कभी पानी मिलने को होता है तो आहार नहीं। और कभी-कभी दोनों ही नहीं। अशान जनता वह भी दरिद्रता के भार से पिसी हुई। दरिद्रता ने गाँव की जनता में से मानवता की सद्भावनाओं को एक प्रकार से उजाड़ ही दिया है। सूर्योदय होते ही चल पड़ते हैं। चलते-चलते दोपहर हो जाता है तब कहीं गाँव आता है। कोई व्यवस्था नहीं। न ठहरने की और न आहार पानी आदि की। मुनि गाँव में भिक्षा के लिए घूमते हैं परन्तु वहाँ मिलता क्या है ? उपहास तिरस्कार और दुर्वचन ! श्री रघुवर दयाल जी महाराज सब कुछ सहन करते हैं और गुरुदेव की सेवा में सस्नेह जुटे रहते हैं। उनके मन पर इन कठिनाइयों के प्रति कुछ भी ग्लानि नहीं है। उन्होंने अपने आप को गुरुदेव के चरण कमलों में निछावर किया हुआ है। कुछ भी कष्ट हो मैं झेल लूँगा परन्तु गुरुदेव को जरा भी कष्ट नहीं होने दूँगा— यह भावना है जो श्री रघुवर दयाल जी म० को इन संकटों में भी प्रसन्न रखे हुए है। श्री दुर्गादास जी म० और श्री गिरधारीलाल जी म० भी आपके पूर्ण सहयोगी हैं। आपके आदर्श सेवा पथ पर वे दोनों यात्री भी सानन्द यात्रा कर रहे हैं और गुरु सेवा का लाभ उठा रहे हैं।

रिवाड़ी से आगे बढ़ गए हैं संध्या समय जबकि सूर्यास्त होने में कुछ ही देर थी चरितनायक मुनीशों के एक छोटे से गाँव कनवास में पहुँचे। गाँव के आस-पास तो क्या गाँव की गलियों तक में काँटे बिछे पड़े हैं। पूरी सावधानी रखते हुए भी पैर काँटों से छिद गए हैं। एक को निकालने का प्रयत्न करते हैं तो दूसरा और तीसरा काँटा पैरों में अपना सुन्दर स्थान जमा लेता है। बड़ी विषम समस्या है। ठहरने के लिए स्थान की तलाश है, पर वह मिल नहीं रहा है। सूर्यास्त होने को है अब अधिक इधर-उधर गलियों में कहाँ चक्कर काटें ? जैनमुनि रात्रि में भ्रमण नहीं कर सकता। गाँव के चौधरी से बात होती है और गायों के बाड़े में जगह मिलती है बिलकुल रद्दी। परन्तु भिक्षु जीवन में अच्छी और रद्दी का कोई प्रश्न नहीं। उसे तो रात भर ठहरना है, अच्छी हुई तो क्या और बुरी हुई तो क्या ? पशुओं का सम्पर्क

प्रबन्ध कर दिया जाता है, और एक टूटे-फूटे छप्पर के नीचे मुनियों के आसन लग जाते हैं।

बाड़े का स्वामी धीरे-धीरे चरितनायक से प्रभावित होता जाता है, फलत प्रार्थना करता है कि "भोजन तैयार है, महाराज घर पर पधारिये। यदि वहाँ न जाना चाहें तो यहाँ ले आऊँ?" श्री रघुवरदयालजी महाराज स्नेहभरी गाँव की बोली में ही समझाते हैं—"भाई हम जैन साधु हैं, सूरज छिपने के बाद भोजन नहीं करते, और दिन रहते भी किसी गृहस्थ का लाया हुआ भोजन नहीं ग्रहण करते, न किसी प्रकार का निमन्त्रण ही स्वीकार करते हैं।"

गाव का भद्र किसान महाराजश्री की यह बात सुनकर चकित हो जाता है। आज तक जिन साधुओं से उसे वास्ता पड़ा था, उनसे विलक्षण ही त्याग वैराग्य देखने को मिला। वह और अधिक भावुकता की धारा में बहने लगता है—"महाराज! भोजन नहीं करते तो दूध ही पी लीजिये। अभी ताज़ा दूध ले आता हूँ।" चरितनायक स्वयं जैन साधु की जीवन चर्या का विस्तार से वर्णन करते हुए समझाते हैं—'भाई! तुम समझे नहीं। हम भोजन में दूध को भी शामिल करते हैं। दिन छिपने के बाद किसी प्रकार का भी भोजन नहीं ग्रहण करते, यहाँ तक कि पानी भी नहीं पीते।"

अब तो वह भद्र आत्मा चरणों में गिर जाता है। हाथ जोड़ कर प्रार्थना करता है कि "महाराज! कुछ तो कृपा कीजिये।" अब की बार, चरितनायक उसके भावना-प्रवाह को दूसरी ओर मोड़ते हैं—"अच्छा, भाई! जब तुम इतनी लगन से प्रार्थना कर रहे हो तो यह काम करो कि गाँव में सूचना दे दो। जो लोग जैन साधुओं का उपदेश सुनना चाहें, वे प्रतिक्रमण सन्ध्या-वन्दन के पश्चात् सुन सकते हैं।"

गांव में सूचना दे दी गई। बस, देर क्या थी, सारा गाँव उमड़ पड़ा। चरितनायक का उपदेश सुना तो लोग गद्‌गद् हो गये। ग्रामीण जनता के लिए इस प्रकार का यह प्रसङ्ग पहिला ही था। साधु चाहें तो ग्रामीण जनता की दूरी को इस प्रकार कुछ कम कर सकते हैं। चरितनायक ने मुनि सम्मेलन अजमेर के कारण, प्रात काल विहार तो अवश्य किया, परन्तु बड़ी कठिनता से। लोग जाने ही नहीं देते थे।

बावल, पारसौली आदि गाँवों में से होते हुए आगे बढ़े तो रखड़ा गाँव में पहुँचे। यह मेव मुसलमानों का गाँव है। पहिले कुछ थोड़े से हिन्दू थे भी, परन्तु अब नहीं रहे हैं। सांप्रदायिक कटुता के कारण भयङ्कर आतक

का वातावरण हो चला था बेचारे घर-बार छोड़कर भाग चले हुए।

चरितनायक के समक्ष ठहरने का प्रश्न आया। हिन्दू कोई नहीं सबके सब मुसलमान। कहाँ ठहरें ? परन्तु चरितनायक तो साम्प्रदायिक वातावरण से ऊपर थे। उनका हृदय सबके प्रति स्नेह की भावनाओं से भरा हुआ था। अतः निर्भय और निर्द्वन्द्व महाराज ने एक मुसलमान भाई से वार्तालाप किया और उसकी बैठक में ठहर गए। ऐसे ही महान् आत्माओं को लक्ष्य करके एक आचार्य कहते हैं—

"अयं निजः परो वेति
गणना लघु चेतसाम्।
उदार चरितानां तु
वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

अर्थात्—यह मेरा है और यह पराया है इस प्रकार के दुर्विचार संकुचित हृदय वाले लोगों के होते हैं। उदार हृदय वाले महापुरुष तो समस्त विश्व के प्राणियों को अपना निज परिवार समझते हैं।

चरित नायक के सुन्दर व्यक्तित्व का चमत्कार वहाँ भी चमकने लगा। गाँव के अनेक मुख्य मुख्य मुसलमान भाई महाराज श्री के पास एकत्र होगए और प्रार्थना करने लगे कि 'हम आप की क्या सेवा कर सकते हैं ? यदि आप हमारे यहाँ भोजन नहीं कर सकते तो दूध ही पी लीजिए। आप हिन्दू होने के नाते हमारे बर्तनों का स्पर्श नहीं कर सकते हैं तो कोई हर्ज नहा। आप अपने इन काष्ठ के पात्रों को गाय के नीचे रख दीजिए हम उन्हें हाथ से छुएँगे नहीं और ऊपर से ही दूध दुह देंगे।'

महाराज श्री रघुवरदयाल जी ने बड़े प्रम से इन लोगों को जैन साधु की जन चर्या के सिद्धान्त समझाए। और जब गाँव के मुसलमानों को पता चला कि—जैन साधु रात में कुछ भी नहीं खाते और तो क्या पानी तक भी नहीं पीते तो लोग भक्ति से गद्‌गद् हो उठे। त्यागी जीवन मनुष्य पर प्रभाव डालता ही है। परन्तु वह त्याग सच्चा होना चाहिए, जीवित होना चाहिए। मुर्दा त्याग अपने जीवन को भी दूषित करता है और दूसरों के जीवन को भी। जैन साधुओं का त्याग जीवित त्याग होता है।

प्रतिक्रमण के बाद वहाँ भी गाँववालों की विराट सभा जुट गई। श्रोता गण के सब मुसलमान थे अतः मांसाहार की चर्चा चली। चरितनायक ने मांस मनुष्य का प्राकृतिक भोजन नहीं है इस विषय पर एक मार्मिक एवं

हृदय स्पर्शी भाषण दिया। जनता पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि बहुत से मुसलमान भाइयों ने सभा में खड़े होकर ही मांस भोजन का त्याग कर दिया। चरितनायक को इस प्रान्त में भद्र ग्रामीण जनता के सपर्क में आने का अच्छा अवसर मिला। नगरों की भाँति, गाँव की जनता ने भी चरितनायक का हृदय से स्वागत किया।

मार्ग की अनेकानेक कठिनाइयाँ प्रसन्न भाव से झेलते हुए अलवर पधारे और वहाँ से जयपुर। जयपुर से किशनगढ़ क्षेत्र को पवित्र किया। जहाँ भी गए, जैन धर्म का उद्योत कर दिया। जनता परिचित हो या अपरिचित, महाराज श्री के दर्शन पाकर आनन्द मग्न हो जाती। किशनगढ़ में तत्कालीन पंजाब प्रान्तीय उपाध्याय श्री आत्माराम जी म०, यू पी प्रान्त के सुप्रसिद्ध विद्वान प० मुनि श्री पृथ्वी चन्द्र जी महाराज, [वर्तमान में आचार्य] श्रद्धेय कवि रत्न पं० श्री अमरचन्द्रजी म० [वर्तमान में उपाध्याय] व्याख्यान वाचस्पति सुप्रसिद्ध प० श्री मदन लाल जी म०, योगनिष्ठ प० श्री रामजी लाल जी म० आदि मुनिराजों का एक विशाल दल किशनगढ़ से अजमेर को प्रस्थानित हुआ। वह समय कितना सुन्दर था और कितना सुन्दर था उस समय का प्रेम व्यवहार! सब संत चरितनायक का आदर करते थे और आप के परामर्श से ही सब योजनाएँ निश्चित होती थीं। चरितनायक दीक्षा में सब से बड़े थे और इस बड़प्पन का सब के मन में उचित सम्मान था। काश, आज के साधुओं में वह सद्भावना फिर लौट आए!

हृदय स्पर्शी भाषण दिया। जनता पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि बहुत से मुसलमान भाइयों ने सभा में खड़े होकर ही मांस भोजन का त्याग कर दिया। चरितनायक को इस प्रान्त में भद्र ग्रामीण जनता के सम्पर्क में आने का अच्छा अवसर मिला। नगरों की भाँति, गाँव की जनता ने भी चरितनायक का हृदय से स्वागत किया।

मार्ग की अनेकानेक कठिनाइयाँ प्रसन्न भाव से झेलते हुए अलवर पधारे और वहाँ से जयपुर। जयपुर से किशन गढ़ क्षेत्र को पवित्र किया। जहाँ भी गए, जैन धर्म का उद्योत कर दिया। जनता परिचित हो या अपरिचित, महाराज श्री के दर्शन पाकर आनन्द मग्न हो जाती। किशनगढ़ में तत्कालीन पंजाब प्रान्तीय उपाध्याय श्री आत्माराम जी म०, यू पी प्रान्त के सुप्रसिद्ध विद्वान प० मुनि श्री पृथ्वी चन्द्र जी महाराज, [वर्तमान में आचार्य] श्रद्धेय कवि रत्न प० श्री अमरचन्द्रजी म० [वर्तमान में उपाध्याय] व्याख्यान वाचस्पति सुप्रसिद्ध प० श्री मदन लाल जी म०, योगनिष्ठ प० श्री रामजी लाल जी म० आदि मुनिराजों का एक विशाल दल किशनगढ़ से अजमेर को प्रस्थानित हुआ। वह समय कितना सुन्दर था और कितना सुन्दर था उस समय का प्रेम व्यवहार! सब सब चरितनायक का आदर करते थे और आप के परामर्श से ही सब योजनाएँ निश्चित होती थीं। चरितनायक दीक्षा में सब से बड़े थे और इस बड़प्पन का सब के मन में उचित सम्मान था। काश, आज के साधुओं में वह सद्भावना फिर लौट आए!

२१ ।

अखिल भारतीय मुनि सम्मेलन

अजमेर की जैन और अजैन जनता में आज हर्ष का सागर हिलोरें ले रहा है। दूर-दूर देश के मुनिराज मार्ग की अनेकानेक भयङ्कर कठिनाइयाँ सहन करते हुए अजमेर पधारे हैं। आज अजमेर तीर्थ भूमि का रूप ले रहा है। गुजरात कच्छ काठियावाड़ मारवाड़ मेवाड़ पञ्जाब युक्त प्रांत और मालवा आदि प्रांत, आज अजमेर के आँगन में एकमेक हो गए हैं आपस में दूध मिश्री की तरह घुल मिल गए हैं। स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय का विराट रूप अजमेर में ही देखने को मिला। इतिहासकारों की दृष्टि वल्लभी और मथुरा के महान् जैन सम्मेलनों पर पड़ रही थी। हजार पन्द्रह सौ वर्ष के बाद अजमेर वल्लभी और मथुरा के चरण चिन्हों पर चल पड़ा है।

आज चैत्र कृष्णा दशमी सम्वत् उन्नीस सौ नवासी का पवित्र दिन है। ममैयों के नोहरे में वट वृक्ष के नीचे मुनि मण्डल विराजमान है। प्रतिनिधियों के हृदय जिन शासनोन्नति की प्रबल भावना-तरंगों के कारण उछल रहे हैं। एक दो नहीं छब्बीस सम्प्रदायों के प्रतिनिधि आज जैन धर्म के गौरव का पुनरुद्धार करने बैठे हैं। मंगलाचरण के पश्चात् प्रश्न खड़ा होता है सम्मेलन का प्रधान कौन हो? बिना प्रधान के सभा का संचालन कौन करेगा? अनेक चरितनायक गणी श्री उदयचन्द्रजी महाराज पर सब की नजर पहुँचती है और वे सर्व सम्मति से सम्मेलन के शान्तिरक्षक चुन लिए जाते हैं।

अब तक गणी श्री महाराज अजमेर में नहीं आए थे बिलकुल चुपचाप थे। आप किसी पद का उत्तरदायित्व भी नहीं लेना चाहते थे। आपका संकल्प था, चुपचाप कार्य करना और सम्मेलन को प्रगतिशील बनाना। परन्तु खिला हुआ पुष्प कहीं पत्तों में छुपा रह सकता है? गणीजी महाराज के जीवन की सुगन्ध वर्षों से दूर-दूर के जैन समाजों में महक रही थी। शास्त्रार्थ भामा की ध्वनि दूर प्रांत के जैन संघों में सुनी जा चुकी थी। अतएव उपस्थित मुनि वृन्द ने आपको सम्मेलन का प्रमेसर बना ही लिया।

आपने इन्कार किया और डटकर इन्कार किया, परन्तु प्रेम के आग्रह में इन्कार को कौन पूछता है ?

अब चरितनायक अखिल भारतीय मुनि सम्मेलन के प्रधान शांतिसरक्षक हैं। भगवान् महावीर की जय जय ध्वनि के बीच सम्मेलन की गति आगे बढ़ी। चरितनायक ने समस्त मुनिराजों को सम्बोधित करते हुए प्रवचन किया—

"आप सब यहाँ जिन शासन सेवा के महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए आए हैं। आपका गौरव जिन शासन के गौरव में है और भगवान् महावीर की महत्ता में है। अत आप अपने व्यक्तिगत सम्प्रदायों के मोह को छोड़कर, अब जो भी सोचें-विचारें और करें, वह सब अखण्ड जैन सघ के हित को ध्यान में रखकर हो। यदि आप अपने सम्प्रदाय मोह को न छोड़ सके और व्यक्तिगत मान्यता के जाल में उलझे रहे तो फिर आपका इतना महान् कष्ट उठाकर आना निष्फल प्रमाणित होगा। अब आपको एक ही काम करना है और वह यह है कि भगवान् महावीर के शासन का गौरव बढ़ाएँ और एक अखण्ड जैन सघ की रचना करें..।"

चरितनायक के प्रवचन का मुनिमण्डल पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। सम्मेलन का कार्य आनन्द पूर्वक सम्पन्न हुआ। बीच बीच में एक से-एक भयङ्कर विघ्न बाधाएँ आईं, परन्तु आपके कुशल नेतृत्व में सब समस्याएँ सुलझती रहीं और सम्मेलन की गाड़ी आगे बढ़ती रही। विभिन्न विचारों के मुनियों से एकता का काम लेना कुछ सहज बात नहीं है। समतल मार्ग पर तो अधा भी चल सकता है। परन्तु जब ऊँची-नीची और पथरीली राह पर चलना हो, क़दम क़दम पर गिरने और ठोकर खाने का खतरा हो, तब स्वय अच्छी तरह चल सके और साथियों को चला सके, वही सफल नेता माना जाता है। श्रद्धेय चरितनायक सम्मेलन के ऐसे ही महान नेता थे। आपने किस प्रतिभा से भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के मुनियों में ऐक्य और सहयोग की भावना को कायम रक्खा। सम्मेलन की नौका को कैसे-कैसे तूफानी वातावरणों में से भी पार ले गये, ये सब बातें यहाँ नहीं लिखी जा सकतीं। यदि लिखें भी तो कहाँ तक लिखें, वह एक विस्तृत ग्रथ का रूप ले सकता है। सम्मेलन में भाग लेने वाले मुनिराजों को पता है कि गणीजी महाराज क्या थे और उनके निष्पक्ष व्यक्तित्व ने किस प्रकार आदर्श नेतृत्व किया था ? राजस्थान के सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य पूज्य श्री हस्तिमल्लजी महाराज ने, गणीश्रीजी

के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करते हुये इसी सम्बन्ध में लिखा है कि— "साधु सम्मेलन में आप सब साधुओं की तरफ से शांति रक्षक पद पर प्रतिष्ठित किये गए। विभिन्न विचारों के मुनियों में शांति एवं व्यवस्था कायम रखना कोई सहज काम न था। फिर भी जिस आशा और विश्वास से आपको यह भार सौंपा गया था उसी योग्यता से आपने उसका निर्वाह किया। आपकी तर्क शक्ति प्रतिभा पूर्ण थी— यह उन सम्मतियों में से एक सम्मति है जो आपके तत्कालीन सफल नेतृत्व के कारण विभिन्न मुनिराजों ने निश्चित की थी।

सम्मेलन के अवसर पर ही श्रद्धेय जैनाचार्य पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज के पास दीक्षा होने वाली थी। दीक्षा का सब प्रबन्ध दानवीर सेठ श्यामा प्रसादजी मोहनमल वालों की ओर से था। आना सागर के तट पर विशाल जनता की भीड़ दीक्षा महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए एकत्रित हुई। सम्मेलन में पधारे हुए बड़े-बड़े आचार्य और विद्वान् मुनिराज भी पहुंचे हुये थे। दीक्षा देने का समय आया तो सब मुनिराजों के आग्रह पर चरित-नायक ने ही दीक्षा का पाठ पढ़ाया। यह गौरव कुछ साधारण नहीं है। अपने प्रदेश में गौरव प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना सुदूर प्रदेश में और वह भी अखिल भारतीय प्रसंगों पर। चरितनायक का यह गौरव, अखिल भारतीय जैन संघ की ओर से अर्पण किया हुआ गौरव है।

साधारण मनुष्यों का जीवन कुछ घेरों में बन्द रहता है। उनकी प्रतिष्ठा का मूल्य इतिहास नहीं आँकता। इतिहास तो विराट जीवन की ओर नजर डालता है। विराट जीवन ही वस्तुतः विराट प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। और जो इस प्रकार विराट प्रतिष्ठा प्राप्त करता है वही इतिहास के पृष्ठों में अजर अमर रहता है। गणीजी महाराज ने अजमेर सम्मेलन में जो कार्य किया है, वह एक ऐतिहासिक कार्य है जिसे आने वाली सन्तान परम्परा कभी भूल न सकेगी।

हाँ अजमेर मुनि सम्मेलन की एक बात और रह गई है। वह यह कि श्रद्धेय जैनाचार्य पूज्य श्री सोहनलालजी म० सर्वसम्मति से सम्मेलन के प्रधान चुने गये। पूज्य श्री के चरणों में अखिल भारतीय जैन समाज की यह श्रद्धा-ञ्जलि पूज्य श्री के अपने महान् गौरव के साथ एक दृष्टि से श्रद्धेय गणीजी के महान् नेतृत्व के द्वारा भी अर्पाई जा सकी। अमृतसर में कहे गए आप्त गुरु

के वचन को पूरा कर दिखाना पौत्र शिष्य की कार्यावली में लिखा था और वह उसने बड़े सम्मान के साथ पूरा कर दिखाया। पंजाब जैन समाज का गौरव, गणीश्री जी के हाथों में सर्वथा सुरक्षित रहा। उनका महान् जीवन सदैव सफलता के ऊँचे शिखरों पर विचरण करने वाला रहा है।

२६

शास्त्रोद्धार समिति, जयपुर

सम्मेलन के पश्चात् संवत् १९९१ का चातुर्मास पुष्कर में हुआ। चातुर्मास में जोधपुर आदि के श्रावक आपसे वहाँ पधारने की प्रार्थना करने आए। परन्तु वृद्धावस्था होने के कारण आपने मारवाड़ का लम्बा विहार करना ठीक न समझा और पंजाब की तरफ ही विहार का निश्चय रक्खा।

पंजाब का हृदय पुनः पंजाब को लौटाने लगा। तत्कालीन युवाचार्य पं० श्री काशीराम जी महाराज भी आपके साथ ही वापस लौट रहे थे। अजमेर से चलकर किशनगढ़ मदनगंज में विराजमान हुए। कुछ दिन खूब ही धर्म का उद्योत रहा। यहाँ से चरित नायक ने कुचेरा की ओर विहार किया। परन्तु ज्यों ही युवाचार्य श्री काशीराम जी महाराज की अस्वस्थता के समाचार मालूम हुए, त्यों ही तुरन्त वापस लौट पड़े। युवाचार्य जी बड़ी विषम स्थिति में थे। रोग ने आत्यान्तिक रूप धारण किया हुआ था। पास के साधु सहसा चिन्तित हो उठे। परन्तु गणीजी महाराज ने सबको सान्त्वना दी और उचित परिचर्या का प्रबन्ध किया। परिचर्या का समस्त भार श्री रघुवरदयाल जी महाराज को सौंपा गया। आपने डेढ़ महीने तक मन लगा कर सेवा की और उसका सुन्दर फल भी समाज को मिला। युवाचार्य जी पूर्णतः स्वस्थ हो गए समस्त संघ हर्ष की भावनाओं से उल्लसित हो उठा।

युवाचार्य जी के आग्रह पर गणीजी महाराज उनके साथ ही जयपुर पधारे। जयपुर संघ आपके दर्शन पाकर आनन्द विभोर हो गया। इसी समय श्रद्धेय जैनाचार्य पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज उपाध्याय श्री आत्माराम जी महाराज शतावधानी पं श्री रत्नचन्द्र जी महाराज व्याख्यान वाचस्पति पं श्री मदनलाल जी महाराज आदि सन्त भी जयपुर में ही विराजमान हुए। शास्त्रोद्धार की चर्चा अजमेर सम्मेलन से चलती आ रही थी। अब वह पूर्ण रूप लेने लगी। जैन कान्फ्रेंस के नेताओं, जयपुर के श्रावकों और उपस्थित मुनिराजों के उचित विचार विमर्श के बाद जयपुर में शास्त्रोद्धार समिति की स्थापना की गई।

शास्त्रोद्धार समिति के अध्यक्ष का प्रश्न उपस्थित होने पर, यहाँ भी चरित नायक ही सर्व-सम्मति से अध्यक्ष निर्वाचित हुए। सम्मेलन के शान्ति-रक्षक के रूप में परखा हुआ नेतृत्व, भला यहाँ कैसे अलग रह सकता था? चरित-नायक जीवन के प्रारम्भ से ही महानता के कुछ ऐसे संस्कार लेकर आये थे कि जहाँ भी गए महान् ही रहे। गणीजी महाराज के विद्यमान होते हुए, इन दिनों न कोई दूसरा अध्यक्ष बनना चाहता था और न कोई बनाना ही चाहता था। सबका विश्वास गणीजी पर होता था और इसलिए गणीजी महाराज ही सबके लिए आकर्षण के केन्द्र बने हुए थे।

शास्त्रोद्धार समिति का कार्य बहुत अच्छे ढंग से होता रहा। विभिन्न विषयों को लेकर कुछ निबंध बहुत ही सुन्दर लिखे गए थे। काफी तत्त्व-चिन्तन हुआ। गणीजी महाराज शास्त्रों के संपादन और प्रकाशन में अद्यतन पद्धति के पक्षपाती थे। पुराने रूप आपको पसंद नहीं पड़ते थे। कुछ साथी पुराने रूप पर ही तने हुए थे। बाहर के विद्वान मुनिराजों का सहयोग माँगा गया। दूर होने के कारण या रस न लेने के कारण उचित सहयोग प्राप्त न हो सका। समिति का कार्य सुस्त पड़ने लगा।

गणीजी महाराज दीर्घद्रष्टा थे। आपने एक दिन सभा के समक्ष यह कहा कि "यह कार्य महान है। इसका सम्बन्ध सारे जैन समाज से है। जब तक सब सम्प्रदायों के विद्वान मुनिराजों का सहयोग न मिले, तब तक यह अखिल भारतीय रूप में सफल नहीं हो सकेगा। अतएव मेरे विचार में अभी यह कार्य स्थगित रक्खा जाये। इस बीच में जो समय मिले उसका उपयोग अधिक से-अधिक विद्वान मुनिराजों का सहयोग पाने के लिए किया जाये। एकांगी कार्य समाज का हित नहीं साध सकेगा।"

चरितनायक का यह परामर्श सबहित की दृष्टि से सर्वथा उचित था। जो भी कार्य हो वह सब की सहमति से हो, चरितनायक का यह आदर्श कार्यसूत्र था। अतः वे जो कुछ भी करना चाहते थे, सबहित की भावना से करना चाहते थे। विद्वान मुनिराजों ने चरितनायक के परामर्श को स्वीकार किया और अनिश्चित काल के लिए शास्त्रोद्धार समिति स्थगित कर दी गई। अन्य मुनि-राज विहार कर गए परन्तु जयपुर संघ के महान आग्रह पर चरितनायक ने सं० १९९१ का चातुर्मास जयपुर में किया।

यह चातुर्मास अपने ढंग का एक महान प्रभावशाली चातुर्मास था। चरित-नायक के ओजस्वी एवं पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यानों की धूम मच गई। क्या जैन

और क्या नवीन, सभी लोग आपके प्रवचनों से लाभ उठाते रहे। धर्म-ध्यान का खूब ठाठ लगा रहा। जयपुर के सुप्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य पं० श्री लक्ष्मी-राम जी तो आपके त्यागमय जीवन से अत्यन्त ही प्रभावित हुए।

चातुर्मास समाप्त हुआ। विहार की तैयारी होने लगी। जनता उदास और खिन्न थी। क्या महाराजश्री अब जायेंगे सब की जिह्वा पर यही प्रश्न ध्वनित हो रहा था। स्थिरवासी होने के लिए अनेक बार प्रार्थनाएँ हुईं। सेठ फूलचन्द जी की धर्मपत्नी ने तो यह घोषणा भी की कि यदि आप जयपुर में स्थिरवासी होना स्वीकार करें तो मैं इस स्मृति के उपलक्ष में एक लाख से कुछ अधिक धन के मूल्य का अपना एक भव्य भवन धर्मार्थ दान कर दूँगी। परन्तु गणीजी महाराज जैसे दृढ़ निश्चयी मुनि किसी की घोषणा पर नहीं अपितु अपनी अंतरात्मा की प्रेरणा और शासन पति वीर प्रभु की आज्ञा में चलते हैं।

हाँ तो चरितनायक ने चातुर्मास के बाद विहार कर ही दिया। जनता बड़ी व्याकुलता अनुभव कर रही थी। वह नहीं चाहती थी कि महाराजश्री हमारे यहाँ से पधार जावें। चरितनायक ने अपने आदर्श व्यक्तित्व से सबको खींच लिया था। अस्तु भाइयों का तो कहना ही क्या, जिन भद्र महिलाओं ने कभी जय-पुर की सड़क भी नहीं देखी थी वे भी १२ मील तक पहुँचाने गईं। यह है सच्ची साधुता और सच्ची प्रभुता का सच्चा आकर्षण। प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व का जादू हर जगह चमत्कार कर दिखाता है।

"तुम्हें क्या चाहिए ! तुम्हें जो कुछ चाहिए, उसे अपनी मधुर मुस्कराहट से प्राप्त करो न कि तलवार के जोर से !

—शेक्सपीयर

'यदि कोई व्यक्ति अपने पड़ोसी की अपेक्षा अच्छी किताब लिख सकता है अच्छा भाषण कर सकता है अथवा अधिक अच्छी चीज बना सकता है तो यदि वह जंगल में भी अपना मकान बनाएगा तो संसार उसके द्वार तक मार्ग बना लेगा।

—इमरसन

: २७ :

पुनः दिल्ली में

लेखक के लिए कभी-कभी सिंहावलोकन कर लेना आवश्यक होता है। सरपट दौड़ना लेखक का काम नहीं है। वह तो मन्थर गति से चलता है, जहाँ आवश्यक होता है ठहरता है और कभी-कभी पीछे की ओर भी झाँक लेता है। हाँ तो क्या मैं पीछे की ओर झाँक लूँ ?

आप पहिले पढ़ चुके हैं कि चरितनायक की जीवन यात्रा का प्रारभ दिल्लीमें हुआ था। वे बचपन के सुन्दर दिन, वह लाला पन्नालालजी का स्नेह सद्भावना से भरा पूरा घर, वह जैन उपाश्रय और सन्तों के दर्शन, एक के बाद एक जीवन की कड़ियाँ दिल्ली से सम्बन्ध रख रही हैं। जीवन का वास्तविक मोड़ दिल्ली में ही प्राप्त हुआ था। वैराग्य का बीज यहीं बोया गया और यहीं अंकुरित भी हुआ। श्री जम्बू स्वामी के जीवन चरित्र का राग, एक दिन यहीं तो मारवाड़ी मुनिराजों के द्वारा गाया गया था, जिसे सुनकर चरितनायक ने अपना कर्तव्य पथ निश्चित किया।

इतिहास अपने आपको फिर दुहराने लगा है। जहाँ बचपन बीता, वहीं बुढ़ापे के अन्तिम वर्ष भी बीतने लगे हैं। श्रद्धेय गणीजी महाराज दिल्ली पधार गए हैं और सदर बाजार में विराजमान हैं। आप पजाब लौटने की शीघ्रता में थे परन्तु दिल्ली की प्रेमी जनता ने आगे नहीं जाने दिया। अत्यधिक आग्रह होने पर सम्वत् १९९२ का चातुर्मास सदर बाजार दिल्ली में ही किया। आपकी दिव्य वाणी एवम् सौम्य व्यक्तित्व ने यहाँ की जनता पर अभूत पूर्व प्रभाव डाला। धर्म के प्रति उदासीन हुए भाइयों में भी नई स्फूर्ति एवम् नई चेतना जागृत हो उठी। जैन अजैन सभी लोग, आपके अलौकिक प्रवचनों से लाभ उठाकर, एक नवीन जीवन का अनुभव करने लगे।

दिल्ली जैसे शहरों का आधुनिक युवक वर्ग प्राय धर्म विमुख होता है। नये शिक्षित लोग धर्म को मजाक समझने लगते है। परन्तु श्री रघुवर दयालजी महाराज की प्रेरणा ने इस शून्य क्षेत्र में भी चमत्कार कर दिखाया। युवकवर्ग में वह विलक्षण धर्म भावना जागृत की कि सब लोग आश्चर्य चकित होगए।

पुराने मिथ्या विश्वास ध्वस्त होगए। दिल्ली सदर संघ ने एक नई चेतना प्राप्त की।

चातुर्मास बाद विहार करना था। परन्तु सदर श्री संघ का स्थिरवास होने सम्बन्धी आग्रह चरम सीमा पर पहुँच गया। प्रार्थना ने अंत में जाकर सत्याग्रह का रूप धारण कर लिया। इधर भक्त जनता का आग्रह था तो उधर चरित्र नायक पूर्णत: वृद्ध हो चले थे। अधिक चलने की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही थी एक प्रकार से तो वह क्षीण ही होगई थी। अस्वस्थ भी रहने लगे थे। फिर भी समाज की नैया का वह पुराना कर्णधार समय से युद्ध किए ही जा रहा था। उस धर्मवीर के लिए, समय के आगे घुटने टेक देने की कल्पना तक असह्य थी। वृद्धावस्था ने शरीर पर पूर्णरूप से अधिकार कर लिया था परन्तु उत्साह की ज्योति से जगमगाते हुए मन ने अभी जरा से हार नहीं मानी थी। उनका हृदय अब भी आस पास के प्रदेशों में भ्रमण कर जैन धर्म का प्रचार करना चाहता था। अतः अत्यन्त आग्रह होने पर भी स्थिरवास की याचना स्वीकृत न हुई। यही आदेश मिला कि अपना जब तक शक्ति है तब तक जितना ठहरा जायेगा ठहरेंगे। सदर संघ के लिए इतना सा वचन पाने में भी बहुत बड़ी सफलता थी।

विक्रम सम्वत् १९९२ से ९   ४ तक गणीजी महाराज के दर्शनों का सौभाग्य दिल्ली श्री संघको मिलता रहा। इतने लंबे काल में गणीजी महाराज ने कई बार चाहा कि विहार करें परन्तु जहां एक ओर शारीरिक दुर्बलता बाधक बनी रही तो वहां दूसरी ओर देहली श्री संघ का प्रेमाग्रह भी कुछ कम बाधक न था। क्या वृद्ध क्या बालक और क्या नवयुवक सबके दिलों पर चरित्रनायक के चरित्र बल का इतना महान् चमत्कार था कि हर कोई यही चाहता था, गणी जी महाराज हमारे यहीं विराजें कहीं भी न जावें। अधिक परिचय मनुष्य के व्यक्तित्व को नीरस बना देता है परन्तु गणीजी का व्यक्तित्व अधिकाधिक सरस होता चला गया।

चरित्रनायक शरीर से तो दिल्ली में विराजमान थे वृद्धावस्था ने उनको छोटे से घेरे में रोक लिया था, परन्तु उनका कार्य कभी भी क्षुद्र घेरे में आबद्ध नहीं रहा। वह दिल्ली और दिल्ली से बाहर दूर दूर तक फैला हुआ था। एक सफल चालक की भाँति समाज की चाबी सदा आपके हाथ में रहती थी। समाज की प्रत्येक गति विधि से आप पूर्ण रूपेण परिचित रहते थे। कब कहां, क्या हो

रहा है, यह आप की पैनी दिव्य दृष्टि से कभी छिपा नहीं रहता था । पजाब या अन्य किसी भी प्रान्त में, जब कभी समाज के समक्ष किसी प्रकार की उलझन उपस्थित होती, वह गणीजी महाराज के चरणों में उपस्थित होती और यहाँ आकर किसी-न-किसी तरह सुलझ ही जाती । कोई भी महत्त्वपूर्ण योजना आपकी सम्मति के बिना प्रमाणित नहीं मानी जाती थी । जैन समाज आपकी कुशल कार्य शक्ति का अन्त तक पूरा-पूरा लाभ उठाता रहा ।

आप दिल्ली सदर में हरे भरे वृक्ष के रूप में थे। श्रद्धेय कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज के शब्दों में—"मार्ग के किनारे का हराभरा छायादार वृक्ष अपना कितना महत्त्वपूर्ण अस्तित्व रखता है । ऊपर शाखा-प्रशाखाओं पर पक्षियों की चहल-पहल तो नीचे आने जाने वाले थके माँदे यात्रियों की चहल पहल । शीतल छाया देखकर हर किसी यात्री का मन होता है, कुछ देर विश्राम करने के लिए । और जब वह विश्राम करता है तो नई स्फूर्ति एवम् नई चेतना प्राप्त कर लेता है । बाहर तन का तो अन्दर मनका, हर कौना शान्त एव प्रशान्त होजाता है । कुछ महा पुरुष भी इसी प्रकार का शीतल एवम् मधुर जीवन रखते हैं । उनके पास हर कोई साधक आध्यात्मिक विश्रान्ति अनुभव करता है फलत रागद्वेष से जलते हुए मनको परम शीतलता प्राप्त होता है ।" उपाध्याय श्रीजी के इन शब्दों में यदि गणीजी महाराज का जीवन देखा जाये तो सौ में सौ अश पूर्ण रूप से घटित होता है । गणीजी महाराज, जब देहली में विराजमान थे तो जैनाचार्य पूज्य श्री खूबचन्द्रजी महाराज, जैनाचार्य पूज्य श्री पृथ्वीचन्द्रजी महाराज, शतावधानी श्री प० रत्नचन्द्रजी महाराज, जैन दिवाकर प० श्री चौथमलजी महाराज आदि कितने ही दूर दूर से मुनिराज पधारे और गणीजी म० से मिले । सभी ने गणीजी महाराज से मिलकर हार्दिक प्रसन्नता अनुभव की । उनका उदार जीवन सभी के प्रति स्नेह का केन्द्र था । व्याख्यान वाचस्पति प० श्री मदनलालजी महाराज, पजाब सप्रदाय के एक प्रकाशमान उज्ज्वल नक्षत्र हैं । आपका चातुर्मास भी गणीजी महाराज ने सदर में अपने पास कराया । चातुर्मास के दिन कितने स्नेह सद्भावनाओं में गुजरे, यह लिख कर बताने की बात नहीं, हृदय से अनुभव करने की बात है । श्री गणीजी महाराज और व्याख्यान वाचस्पतिजी महाराज का यह मधुर सम्मागम श्री सघ के लिए वस्तुत हर्ष और आनन्द का स्रोत था ।

श्रद्धेय जैनाचार्य पूज्य श्री काशीराम जी महाराज, जब मारवाड़, मालवा

और गुजरात आदि का लंबा प्रवास करके देहली पधारे तो उनके स्वागतार्थ महान् समारोह किया गया। गणी जी महाराज की उपस्थिति के कारण स्वागत के लिए दिल्ली जैन संघ ही जुटा गया। वह दृश्य कितना मनोमोहक एवं भव्य था जबकि आचार्य श्री ने गणी जी महाराज के चरणों में समभिवादन वन्दन किया और वयोवृद्ध गणी जी ने प्रेम तथा स्नेह से गद्-गद् होते हुए उन की पीठ थपथपाई! आचार्य श्री के जीवन का अन्तिम चातुर्मास गणी जी महाराज की सेवा में ही हर्ष और आनंद के वातावरण में संपन्न हुआ। पूज्य श्री के स्वागत के समय वर्तमान युवाचार्य पं० श्री शुक्ल चन्द्र जी म० वर्तमान उपाध्याय जैन भूषण पं० श्री प्रेम चन्द्र जी म० व्याख्यान वाचस्पति पं० श्री मदन लाल जी म० पं० श्री ज्ञान चन्द्र जी म० आदि मुनिराजों ने गणीजी म० की छत्र छाया में कुछ दिन रहकर अतीव प्रसन्न भावना प्रगट की।

श्रद्धेय गणी जी महाराज का अन्तिम महान कार्य पंजाब संप्रदाय के पदवी प्रदान का है। पंजाब केसरी पूज्य श्री काशीराम जी महाराज का जब अंबाला में स्वर्गवास हो गया तो पंजाब जैन संघ में शोक का निबिड़ अंधकार छा गया। नवीन आचार्य बनाने का प्रश्न उठा तो आपस के मत भेदों ने तूफानी रूप धारण कर लिया। बड़ी विषम समस्या थी। संघर्ष उग्र रूप धारण करता जा रहा था अतः संघ के छिन्न-भिन्न हो जाने की आशंका थी। इस विकट समय में श्री गणी जी महाराज ने बहुत दूरदर्शिता से काम लिया। आपने निष्पक्ष मत से प्रस्तुत समस्या को सुलझाया और सौभाग्य से वह सुलझ भी गई। उपाध्याय श्री आत्माराम जी म० को आचार्यपद पं० श्री शुक्ल चन्द्र जी म० को युवाचार्य पद और जैन भूषण श्री प्रेमचन्द्र जी म० को उपाध्याय पद अर्पण किया गया। इन पंक्तियों को लिखते समय व्याख्यान वाचस्पति पं० श्री मदन लाल जी महाराज का महान त्याग और वैराग्य लेखक के हृदय को आन्दोलित कर रहा है। पदवी प्रदान के संघर्ष में श्रद्धेय मदन लाल जी म० ने जो त्याग भाव दिखाया है वह जैन इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों में युग युग तक प्रकाशमान रहेगा। आपने श्री संघ का अत्याग्रह होने पर भी कोई पदवी ग्रहण न की और संघर्ष की उलझी हुई कड़ियों को सुलझाने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया।

श्रद्धेय कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज पर भी गणी जी महाराज का अतीव स्नेहानुग्रह था। जब कभी कवि श्री जी का पधारना हुआ

तो गणी जी म० ने काफी दिनों तक ठहराये बिना विहार करने ही नहीं दिया। आप कवि श्री जी का चातुर्मास अपने पास कराना चाहते थे और इस के लिए काफी प्रयत्न किया। आज विक्रम सवत् २००५ का भाद्रपद मास है, पर्युषणा पर्व प्रारभ हो चुका है। कवि श्री जी के मधुर एव गभीर प्रवचनों का दिल्ली की जनता को अपूर्व लाभ मिल रहा है। यह सब कृपा गणी जी महाराज की ही है जो स्वर्गवासी होने से पहिले अपने जीवन काल में ही श्रद्धेय जैनाचार्य पूज्य श्री पृथ्वी चन्द्र जी म० और कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी म० का चातुर्मास मना गए थे जिसका आनन्द दिल्ली सदर का जैन श्री सघ उठा रहा है।

हाँ तो गणी जी महाराज दिल्ली में रहते हुए भी व्यापक थे, विराट रूप थे। उनके कर्तव्य की सुगन्ध आस-पास दूर-दूर तक के प्रदेशों में कार्यक्षेत्रों में महकती रही है। बुढ़ापे की अवस्था में भी वे दूसरों की तरह सिकुड़े नहीं। उनका जीवन अधिकाधिक व्यापक होता रहा और वह व्यापकता जीवन के अन्तिम वर्षों में तो बहुत ही अधिक व्यापक बन गई थी। अतएव गणीजी म० दिल्ली में रहते हुए भी दिल्ली में सीमित न थे। उन के श्री चरणों में दूर-दूर के प्रदेशों से प्रतिष्ठा, स्वागत, सम्मान और यश खिंचा चला आ रहा था। जनता उनके सम्मान में सब कुछ करने को तैयार रहती थी।

"जो व्यक्ति हँसमुख है, प्रसन्न चित्त है और दूसरों के साथ शिष्टाचार से व्यवहार करना जानता है, वह ससार में कहीं भी जा सकता है। जिस झौंपड़े में वह ठहरेगा, वहीं आनन्द की लहरें उठने लगेंगी। जिस समाज में वह प्रवेश करेगा, उसी का रत्न हो जायेगा। जिस देश में वह अपने कदम रक्खेगा, वही अपने को भाग्यवान समझने लगेगा। इस दुख दर्द से भरे ससार में जो दूसरों को क्षणभर के लिए भी स्वर्गीय आनन्द का स्वाद चखा सकेगा, उसका आदर और स्वागत कौन न चाहेगा?"

—स्वेट मार्डन

२८

अस्त

जीवन की सुनहली धूप मृत्यु की काल रात्रि के आते ही सहसा विलुप्त हो जाती है। मृत्यु कितना भीषण और भयंकर शब्द है। शब्द की भीषणता अर्थ की भीषणता के आगे कुछ भी नहीं है। मनुष्य स्वयं के अहंकार में पागल हो रहा है। वह नहीं समझता कि मृत्यु के आगे मेरे इस धन और बल के अहंकार का फूटी कौड़ी भी मूल्य नहीं है।

मनुष्य कितना सुन्दर है, नवयुवक है। उठती हुई तरुणाई जब अंगड़ाई लेती है तो आस-पास के वातावरण में मादकता भर जाती है। प्रत्येक अंग कितना परिपुष्ट एवं मांसल है! शक्ति और साहस बलात् बाहर उछला पड़ता है। परन्तु यह देखो, मृत्यु की छाया! उसके पड़ते ही क्षण भर में क्या-से-क्या हो गया है? अपनी इच्छा के अनुसार स्वतन्त्र रूप से चलता-फिरता, देखता बोलता, हँसता मचलता हुआ मानव एकदम लम्बा लेट गया है। आँखें निष्पन्द, वाणी मौन, हाथ पाँव शिथिल, हृदय निःस्पन्द, अधिक क्या शरीर का अंग-अंग निश्चेष्ट हो गया है।

जो जन्म लेता है वह अवश्य मरता है, जो फूल खिलता है वह अवश्य मुरझाता है, जो सूर्य उदय होता है वह अवश्य अस्त होता है। जन्म लेकर मरे ना, यह असम्भव है, सर्वथा असम्भव है। मृत्यु का आगमन निश्चित है, संसार की कोई भी शक्ति उसे रोक नहीं सकती। 'यह घड़ी हर्गिज न टाली जायेगी।' स्वर्ग हो, नरक हो, मनुष्य लोक हो, पशु-पक्षी की दुनिया हो, सर्वत्र मृत्यु का भयंकर साम्राज्य है। कौन है जो इसके समक्ष क्षण भर के लिए भी सीना तान कर खड़ा हो सके? मृत्यु की पहुँच से बस एक स्थान ही बाहर है, वह है मोक्ष-लोक। वह अजर अमर धाम जिसने पाया, वह ईश्वरीय पद पर पहुँच गया, जन्म-मरण की सीमा को लाँघ गया।

परन्तु जीवन का मोह और मृत्यु का शोक किसे होता है? उसे होता है जो संसार की वासनाओं में उलझा रहता है, मोह-माया के बन्धन में बँधा रहता है। इस प्रकार के मनुष्य कीड़े-मकोड़ों की तरह जन्म लेते हैं और

मर भी जाते हैं, पर ससार को पता भी नहीं होता कि वे कौन थे, क्या थे, कब जन्मे और कब मरे ? जैसे आए थे वैसे चले गए, पापों की भारी भरकम गठड़ी पीठ पर लादे हुए। वे लोग अपने जीवन के लिए हर्ष और मृत्यु के लिए शोक करते रहे परन्तु दूसरों ने उनके लिए यथावसर हर्ष शोक करने की ओर ध्यान ही नहीं दिया। यह मानव जीवन निम्नकोटि का है।

एक मानव-जीवन वह है जो जीवन के मोह और मृत्यु के शोक से परे है। ससार के विराट महापुरुष अपने जीवन-मरण के सूत्र को कर्तव्य से बाँधे रखते हैं, मोह और शोक से नहीं। वे अपने जीवन काल में अपना ही नहीं, विश्व का कल्याण करते हैं और जब मृत्यु की गोद में पहुँचते हैं तो जन-जन के मन में अपने कभी न समाप्त होने वाले अभाव की खटक पैदा कर जाते हैं। ससार इनके जीवन से युग-युग तक सत्य का प्रकाश लेता है और अपना मार्ग प्रशस्त बनाता है। ये लोग मर कर भी अमर होते हैं। इनका स्थूल शरीर अवश्य मर जाता है परन्तु यश शरीर कभी नहीं मरता। यह मानव जीवन उच्चकोटि का है।

गणी श्री उदयचन्द्र जी महाराज ऐसे ही महापुरुष थे जो मर कर भी अमर हो गए। मृत्यु आई और हम से उन्हें छीन कर ले गई, परन्तु यश शरीर के रूप में वे आज भी हम में जीवित हैं और सन्मार्ग की यात्रा के लिए मूक सकेत कर रहे हैं। उन्होंने जीवन भर अहिंसा सत्य की उपासना की, लोक सेवा और धर्म-प्रचार का कार्य किया। वह महान् सूर्य जब तक समाज के गगनागण में रहा, सद्धर्म का प्रकाश देता रहा और भूले-भटकों को सत्पथ दिखाता रहा। जैन समाज इस ढलते हुए, अस्ताचल की ओर खिसकते हुए सूर्य के लिए यही मगल कामना करता रहा कि यह महान् सूर्य अभी कुछ दिन और प्रकाशमान रहे, अस्त न हो। परन्तु मन की इच्छा किसकी पूर्ण हुई है ? और वह इच्छा भी मृत्यु को रोकने की, बिल्कुल असम्भव !

जातस्य हि ध्रुव मृत्यु, ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
सयोगा विप्रयोगान्ता, मरणान्त हि जीवितम् ॥

महाराजश्री की अवस्था काफी वृद्ध हो चली थी। शरीर-बल क्षीण हो गया था, केवल मनोबल से ही जीवन-यात्रा तय किए जा रहे थे। आँखों की ज्योति भी धुँधली पड़ गई थी, मोतियाबिन्द उतर आया था। प्रेमी भाई बहुत दिनों से आपरेशन के लिए अनुरोध कर रहे थे। परन्तु महाराजश्री

बराबर इन्कार करते रहे और कहते रहे कि "अभी आपरेशन की क्या आवश्यकता है ? जब मुझे इतना दिखाई देता है कि मेरी किसी भी धार्मिक क्रिया करने में बाधा नहीं पड़ती और आसानी से ऊपर नीचे आ जा सकता हूँ तो फिर चिकित्सा का क्या प्रयोजन ?

भक्तों का अनुरोध बराबर तीव्र होता जा रहा था और महाराजश्री का नकारात्मक उत्तर भी अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा था। भक्त जनता को क्या पता था कि इस प्रकार में कुछ भलाई रही हुई है। कोई गूढ़ संकेत इस विरोध के गर्भ में छुपा हुआ है। परन्तु भाग्य का विधान विचित्र है आखिर भक्तों ने अधिक आग्रह किया तो आपने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

चैत्रकृष्णा द्वितीया के दिन आँखों के सुप्रसिद्ध डाक्टर मित्रा ने आपरेशन किया और वह सफलतापूर्वक सम्पन्न भी हो गया। परन्तु दोनों आँखों पर पट्टी बँध जाने और उत्तान लेटे रहने से आपने जीवन में पहली बार अपने दैनिक कृत्यों में पराधीनता का कटु अनुभव किया। यद्यपि श्रद्धेय श्री *रघुवरदयालजी महाराज तथा कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज* आदि संत बड़ी श्रद्धा, भक्ति एवं लगन से आवश्यक परिचर्या में लगे हुए थे। फिर भी आप लघुशंका आदि के लिए ऊपर की मंजिल पर जाने की इच्छा प्रगट करते रहे। भला जिस वनकेसरी ने जीवन-भर कभी भी किसी का सहारा न लिया हो अब वह शारीरिक आवश्यकताओं के लिए पराश्रित होना कैसे सह सकता था ?

दूसरा दिन खूब शान्तिपूर्वक गुजरा। परिचर्या के लिए सतत पास रहने वाले मुनिराजों से विविध विषयों पर बातचीत करते रहे। उस समय उनकी ज्ञान-चेतना बहुत निर्मल थी। अद्भुत स्मरण-शक्ति पुराने से पुराने युग की स्मृतियों को बुदबुद कर रही थी। जिस विषय पर बात करते काफी गहराई में उतर जाते थे। उनकी विलक्षण प्रतिभा अब भी चमक रही थी।

सन्ध्या के पाँच बज गए थे। महाराजश्री ने पानी और औषधि आदि से निवृत्त होकर अपने आप चार आहार का त्याग कर दिया और सागारी संथारा ग्रहण कर लिया। स्वास्थ्य कुछ खराब हो रहा था, घबराहट बढ़ रही थी। समय पर प्रतिक्रमण की धर्मक्रिया पूर्ण हुई और वन्दनादि के अवसर पर महाराजश्री ने सब छोटे बड़े मुनियों को सस्नेह आशीर्वाद दिया।

शव-यात्रा के दो दृश्य
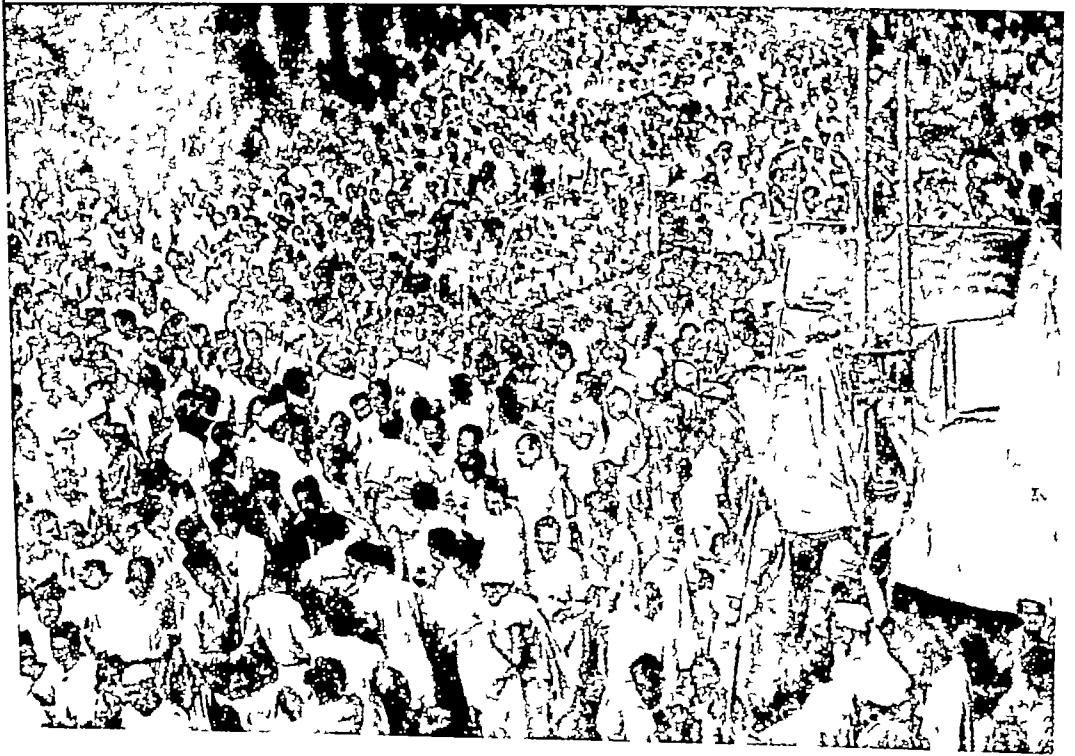
शव यात्रा के साथ विशाल जन समुदाय
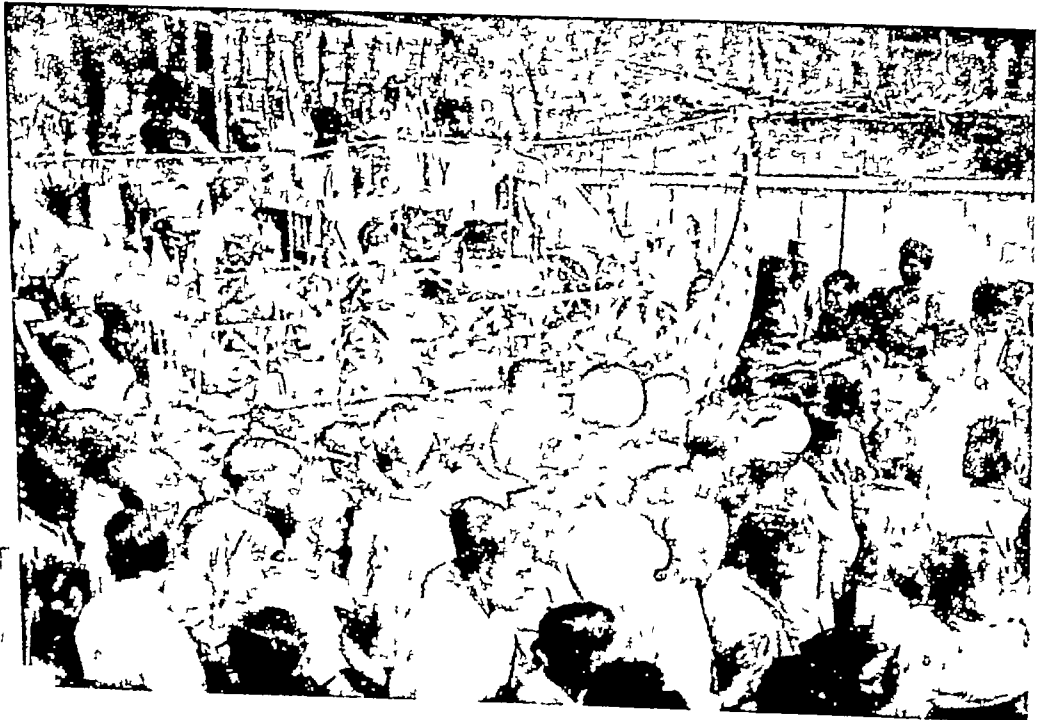
विमान का पास से लिया गया चित्र

रात्रि के साढ़े नौ बज गए थे। तपस्वीराज श्री लाभचन्द्रजी महाराज, मेरे गुरुवर श्री रघुवरदयालजी महाराज, कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज, श्री दुर्गादासजी म०, श्री निरंजनलालजी म० आदि अनेक संत महाराजश्री की सेवा में आस-पास बैठे हुए थे। चरितनायक ने अपनी जीवन-लीला की पूर्ति में अन्तिम सन्देश स्वरूप उपदेश दिया कि—"तुम सब आनन्द में रहना। शासन-पति की कृपा से आप सब योग्य हैं और योग्य ही रहना। देखना संयम-यात्रा में सावधान रहना, चरित्र पर किसी भी प्रकार का धब्बा न लगने पाये। मेरा क्या पता है, क्या कुछ हो जाये? जीवन के किनारे बैठा हूं। मैंने अपना कर्त्तव्य अदा किया, अब तुम अपना कर्त्तव्य निभाना . ।"

कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज से भी बड़े प्रेम से बात-चीत करते रहे। कविश्री जी का हाथ अपने हाथ में लिया और कहा—"न मालूम मेरा प्रेम तुम पर इतना क्यों है? किसी पूर्वजन्म के संस्कार ही तो हमें तुम्हें नहीं मिला रहे हैं? जैन-समाज का सौभाग्य है कि तुम-सा विद्वान् लेखक उसे मिला है। तुम जैन-धर्म के उज्ज्वल नक्षत्र हो, आप भी चमकना और जैन-समाज को भी चमकाना . ।" कविश्री जी ने गद्‌गद् होते हुए कहा—"महाराज, यह क्या कहते हो? आपकी छत्रछाया की अभी समाज को बड़ी आवश्यकता है। आप यह विदाई की-सी क्या बातें कह रहे हैं?"

महाराजश्री ने कुछ उत्तर न दिया और श्रीरघुवरदयालजी म० से बातें करने लगे। वाणी दुर्बल हो रही थी, फिर भी विचारों का प्रवाह उस पर से बह रहा था। "रघुवर! तुम मेरी जीवन-यात्रा के बहुत पुराने साथी हो। दीक्षा लेने से आजतक तुम मेरे पीछे छाया की तरह घूमते रहे हो। तुमने अपना अलग व्यक्तित्व न बनाकर, सब कुछ मुझे ही अर्पण करते रहे। तुम सा शिष्य पाकर कोई भी गुरु अपने को भाग्यशाली समझ सकता है। इतनी लम्बी यात्रा में कहीं कोई कटु घटना घटी हो, कुछ कठोर कहा-सुना गया हो, आज उन सबकी क्षमा याचना है . ।"

श्रद्धेय श्री रघुवर दयाल जी महाराज का हृदय आहत हो गया आँखों में आँसू छलकने लगे। हाथ जोड़ कर प्रार्थना की कि "गुरु देव! आप यह विदाई जैसा क्या सन्देश दे रहे हैं? क्या आप मुझे निराधार छोड़ कर जाना चाहते हैं? ऐसा, कैसे हो सकता है? भगवन्! क्षमा तो मुझे मांगनी है।

रात्रि के साढ़े नौ बज गए थे। तपस्वीराज श्री लाभचन्द्रजी महाराज, मेरे गुरुवर श्री रघुवरदयालजी महाराज, कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज, श्री दुर्गादासजी म०, श्री निरंजनलालजी म० आदि अनेक संत महाराजश्री की सेवा में आस-पास बैठे हुए थे। चरितनायक ने अपनी जीवन-लीला की पूर्ति में अन्तिम सन्देश स्वरूप उपदेश दिया कि—"तुम सब आनन्द में रहना। शासन-पति की कृपा से आप सब योग्य हैं और योग्य ही रहना। देखना संयम-यात्रा में सावधान रहना, चरित्र पर किसी भी प्रकार का धब्बा न लगने पाये। मेरा क्या पता है, क्या कुछ हो जाये? जीवन के किनारे बैठा हू। मैंने अपना कर्त्तव्य अदा किया, अब तुम अपना कर्त्तव्य निभाना।"

कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज से भी बड़े प्रेम से बात-चीत करते रहे। कविश्री जी का हाथ अपने हाथ में लिया और कहा—"न मालूम मेरा प्रेम तुम पर इतना क्यों है? किसी पूर्वजन्म के संस्कार ही तो हमें तुम्हें नहीं मिला रहे हैं? जैन-समाज का सौभाग्य है कि तुम-सा विद्वान् लेखक उसे मिला है। तुम जैन-धर्म के उज्ज्वल नक्षत्र हो, आप भी चमकना और जैन-समाज को भी चमकाना।" कविश्री जी ने गद्‌गद होते हुए कहा—"महाराज, यह क्या कहते हो? आपकी छत्रछाया की अभी समाज को बड़ी आवश्यकता है। आप यह विदाई की-सी क्या बातें कह रहे हैं?"

महाराजश्री ने कुछ उत्तर न दिया और श्रीरघुवरदयालजी म० से बातें करने लगे। वाणी दुर्बल हो रही थी, फिर भी विचारों का प्रवाह उस पर से बह रहा था। "रघुवर! तुम मेरी जीवन-यात्रा के बहुत पुराने साथी हो। दीक्षा लेने से आजतक तुम मेरे पीछे छाया की तरह घूमते रहे हो। तुमने अपना अलग व्यक्तित्व न बनाकर, सब कुछ मुझे ही अर्पण करते रहे। तुम सा शिष्य पाकर कोई भी गुरु अपने को भाग्यशाली समझ सकता है। इतनी लम्बी यात्रा में कहीं कोई कटु घटना घटी हो, कुछ कठोर कहा-सुना गया हो, आज उन सबकी क्षमा याचना है।"

श्रद्धेय श्री रघुवर दयाल जी महाराज का हृदय आहत हो गया आँखों में आँसू छलकने लगे। हाथ जोड़ कर प्रार्थना की कि "गुरु देव! आप यह विदाई जैसा क्या सन्देश दे रहे हैं? क्या आप मुझे निराधार छोड़ कर जाना चाहते हैं? ऐसा, कैसे हो सकता है? भगवन्! क्षमा तो मुझे मांगनी है।

मैं तेंतीस वर्ष से आपकी कृपछाया में रहा हूँ। यदि इतने लंबे समय में प्रमादवश कहीं भी आपकी आज्ञा की अवहेलना की हो विरुद्ध आचरण किया हो आपके और जन धर्म के गौरव के प्रतिकूल कुछ भी कार्य हुआ हो तो अपने इस पामर शिष्य को हृदय से क्षमा करने की कृपा करें ।

चरित्रनायक ने श्री मुनरदयाल जी म के मस्तक पर प्रेम से हाथ फेरा और उनकी बात को बीच में ही समाप्त करते हुए कहा—'रघुवर ! तू क्यों घबराता है ? जो होना है वह होकर रहता है । जीवन-मरण किसी के वश में नहीं है । जब तक जीवन के श्वास बाकी हैं तब तक मैं मर नहीं सकता । और जब वे पूरे हो जायेंगे तो एक क्षण जीवित नहीं रह सकता । तुम्हें मोह पर नहीं कर्त्तव्य पर दृष्टि रखनी चाहिए । तुम जानते हो किसी के बड़े सदा कहाँ रहते हैं ? तुम मेरे एक योग्य एवं प्रिय आज्ञाकारी शिष्य रहे हो । तुम्हारी सेवाओं से मैं बहुत प्रसन्न हूँ । मुझे आशा ही नहीं दृढ़ विश्वास है कि भविष्य में तुम मेरे मुनि परिवार और संघ का सफलतापूर्वक संचालन करोगे । अब मैं अपने सब अधिकार तुम्हें दिये देता हूँ । जैन समाज को तुमसे बड़ी-बड़ी आशायें हैं । इसका अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने का हृदय से प्रयत्न करना । मेरा गौरव तेरे हाथ में है ।

कभी मौन तो कभी वार्तालाप इसी प्रकार समय आगे बढ़ता रहा । कुछ देर बाद आपने कहा— यह प्रकाश-सा क्या हो रहा है ? महाराज श्री के आँखों पर अब भी पट्टी बँधी हुई थी । उपस्थित मुनि वृन्द विचार में पड़ा कि यह प्रकाश कैसा ? पूछा गया परन्तु उत्तर न मिला । संभव है महाराज श्री मुनियों को अभी से किसी चिन्ता में नहीं डालना चाहते थे ।

क्या लेखनी को अब अन्तिम पटाक्षेप का दृश्य अंकित करना ही होगा ? हृदय अवसन्न है हाथ काँप रहा है लेखनी लिखने से इन्कार कर रही है । परन्तु लेखक का कर्तव्य निभाना ही होगा । हाँ तो अब वही चौथ रविवार का दुर्दिन आया और नौ बजे के लगभग हम से वह नर-रत्न छीन लिया गया । सम्भवतः कल किया हुआ संथारा चालू हो था बीच में खोला न गया था । वह संयम यात्रा का महान साधक इस प्रकार सहसा हम सबको छोड़कर चला जायेगा यह किसी को भी पता नहीं थी । परन्तु काल का चक्र निश्चित समय पर हरकत में आता है और मनुष्य की सब आशा को छिन्न-भिन्न कर देता है । यह जीवन का वह अन्तिम पथ है जहाँ संसार की बड़ी से बड़ी तूफानी शक्तियाँ भी पराजय स्वीकार करती हैं ।

महाराज श्री के स्वर्गवास का यह दु:खद समाचार केवल दिल्ली में ही नहीं, भारत के कोने कोने में बिजली की तरह फैल गया। आल इंडिया रेडियो तथा ऐसोसियेटेड प्रेस आफ इंडिया के द्वारा भारत और भारत से बाहर भी कुछ ही क्षणों में इस समाचार ने विराट रूप धारण कर लिया। समस्त स्थानीय पत्रों ने महाराज श्री के स्वर्ग वास के समाचार को मोटे शीर्षकों में स्थान दिया। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक पत्र हिन्दुस्तान टाइम्स ने महाराज श्री का चित्र प्रकाशित किया और आपकी प्रशंसा में काफी अच्छा लिखा। स्टेट्समैन, इंडियन न्यूज क्रानिकल, नेशनल काल, तेज, अर्जुन आदि देहली के प्रमुख पत्रों ने इस समाचार को सर्वसाधारण जनता तक पहुचा कर उस महान स्वर्गीय आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण की।

महाराज श्री के स्वर्गवास का यह आकस्मिक दु खद समाचार, देहली और देहली से बाहर की जैन जनता के लिए वज्रपात के समान था। जिसने भी सुना, वह वज्राहत सा हो गया। दूर दूरतक के प्रदेशों से भक्त नर-नारियों का जनसमुद्र अपने महान् नेता के अन्तिम दर्शनों के लिए उमड़ पड़ा। भीड़ की कुछ सीमा न रही। दर्शनार्थियों की सुविधा के लिए महाराज श्री का शव उपाश्रय के विशाल हाल में सगमरमर के पाट पर रख दिया गया और सुगन्धित पदार्थों का छिड़काव कर दिया। सारा भवन सुगन्ध से महकने लगा। नरनारी दूर-दूर से चले आ रहे थे। दिल्ली की जैन अजैन जनता भी भक्तिभावना से उमड़ी चली आ रही थी। सबके दिल बैठे हुए और चेहरे मुर्झाये हुए थे। सबकी जिह्वा पर एकही बात थी और एक ही प्रश्न था—"जैन समाज की जो यह महान् क्षति हुई है, आने वाली शताब्दियाँ इसकी पूर्ति कर भी सकेंगी या नहीं? बुझा हुआ दीपक पुन कब जगमगाएगा?"

सोमवार का दिन है। समस्त जैन सस्थाएँ श्रमणोपासक मिडिल स्कूल, श्री महावीर जैन हाई स्कूल, जैन लायब्रेरी आदि बद हैं। जैन व्यापारी और बहुत से अजैन व्यापारी भी अपना कारोबार बद किए हुए हैं। सब ओर शोक की लहरें उमड़ रही हैं। ठीक ग्यारह बजे चरितनायक का शरीर विमान में विराजमान किया, चरितनायक की आत्मा तो कभी का प्रस्थान कर चुकी थी और अपने निश्चित स्थान पर पहुँच भी चुकी थी। अब यह शरीर भी अपनी अंतिम यात्रा के लिए चल पड़ा। इस समय का दृश्य बड़ा ही हृदयद्रावक था। जनसमूह की आँखों से आँसुओं की धाराएँ बह रहीं थी और वे तत्कालीन वाता-

रण को अतीव शोकाकुल एवम् गम्भीर बना रही थी । विमान के साथ चलने
ाले जन समूह से सदर बाजार खचाखच भरा हुआ था । चारों ओर केवल
ार ही सिर नजर आ रहे थे । श्रीमान बाबू साहब हीरालाल जैन का केसरिया
ंडा खूब ऊँचाई पर उड़ रहा था । और भी अनेक झंडे नभतल हवा में झूल
हे थे । श्री महावीर स्वामी की जय जैन धर्म की जय गणी श्री उदयचन्द्रजी म
ी जय इत्यादि विविध जय के नारों से आकाश गूँज रहा था । नीचे बाजार
ें और ऊपर छतों पर मनुष्य-ही-मनुष्य दिखाई देता था । दर्शन प्रेमी भक्त
नता आज इस अन्तिम झाँकी को भी अपनी आँखों में बसा लेना चाहती थी।

जीवन संग्राम का वह विजयी महारथी आज स्थूल शरीर के रूप में देहली के
ाजारों में अन्तिम विहार कर रहा था। हजारों नरनारियों का अपारजन समूह
पने महान नेता को महान् विदाई दे रहा था। देहली के प्रमुख बाजारों में से
ुजरता हुआ जलूस चार बजे के लगभग जमुना तट पर पहुँचा। यहाँ पहिले से
ी एक विशाल जन समूह, अन्तिम दर्शनों के लिए इकट्ठा हो रहा था। गगन-
ेदी जयकारों से यमुना तट गूँजने लगा और ऐसा लगा मानों यमुना की
हरें भी सिर उठा-उठाकर जयजयकार कर रही हों।

चन्दन की लकड़ियों की चिता बनाई गई। घृत, धूप सामग्री आदि
्रव्यों का भी पर्याप्त परिमाण में उपयोग किया गया। ठीक समय पर चिता
ें अग्नि लगी और वह धीरे धीरे प्रज्वलित होकर चरितनायक के शरीर को अपने
ें लीन करने लगी। उधर चिता पर की ज्वालाएँ आकाश की ओर उठ रही
ी तो इधर हजारों कंठों से निकली हुई जय ध्वनियाँ अपने चरितनायक के
रणों में स्वर्ग की ओर उड़ी जा रही थीं। रात्रि का अँधेरा चारों ओर से आक्र-
मण कर रहा था, परन्तु चिता की ज्वालाएँ निरंतर उसे छिन्न भिन्न करने में
लगी हुई थी। वह महापुरुष अपने स्थूल शरीर के अन्तिम क्षणों में भी अंध-
कार से युद्ध कर रहा था और अपने अंग प्रत्यंगों को जला-जलाकर आस-पास
े सम्पूर्ण वातावरण को भी प्रकाशमान बना रहा था।

धन्य गुरुदेव तुम धन्य हो! हजार लाख और कोटि बार धन्य हो!
ुम्हारा जीवन महान था तो तुम्हारी मृत्यु भी महान हुई। महीनों बड़े रहकर
ावरें बदल कर रोग में सड़कर तुमने मृत्यु प्राप्त नहीं की। तुमने अपनी जीवन
ीला बहुत सुन्दर एवम् सरल वातावरण में समाप्त की। जिस साधना के बल पर
ुम दिन चले थे उसी साधना के पथपर अन्तिम क्षण में भी चलते रहे।

आपका आदिकाल प्रकाशमान था तो आपका अन्तकाल भी प्रकाशमान ही रहा।

सौधर्म स्वर्गाधिपति देवेन्द्र देवराजा शक्र के शब्दों में मेरी यह अन्तिम श्रद्धाजलि, आप जहाँ भी हों वहीं स्वीकार करने की कृपा करें—

"इहंसि उत्तमो भंते, पच्छा होहिसि उत्तमो,
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं, सिद्धिं गच्छसि नीरओ।"

२६

सद्गुणों की झांकी

श्रद्धेय गणीजी उदयचन्द्र जी महाराज का जीवन एक अनमोल हीरे की तरह प्रकाशमान था। उनके जीवन का हर पहलू चमत्कार था। उनके जीवन के इतिहास को मैंने कागज पर लिखा है परन्तु क्या सचमुच ही वह लिखा गया है? मेरा हृदय उत्तर देता है हाँ लिखकर भी कुछ नहीं लिख पाया हूँ। उस अमर जीवन के विराट रूप को यह लेखनी अक्षरों के छोटे से घेरे में कैसे व्यक्त कर सकती है!

तथापि मनुष्य वही करता है जो कर सकता है। हाँ तो इसके अतिरिक्त मैं कर भी क्या सकता था? मैंने गणीजी के विराट जीवन को अक्षर रूप देकर उसे लघु बनाया है परन्तु यह लघु जीवन भी विष्णु के वामन रूप के समान कितना अधिक आदरणीय है! आइए इस वामन-रूप वाले विराट मुनि जीवन के चरणों में श्रद्धांजलि के कुछ पुष्प और अर्पण कर दें। चरितनायक के कुछ विशेष सद्गुणों की झांकी, प्यारे पाठकों को इस अन्तिम श्रद्धांजलि में प्राप्त होगी।

चरित्र बल

साधक जीवन का सबसे बड़ा बल उसका अपना चरित्र बल है। साधक चाहे गृहस्थ हो अथवा साधु वह जितना ही अधिक उज्ज्वल चरित्र वाला होगा उतना ही अधिक आध्यात्मिक उन्नति के ऊँचे शिखर पर चढ़ा हुआ होगा। भारतीय संस्कृति में मनुष्य की महत्ता का वास्तविक मूल्यांकन उसके आदर्श चरित्र-बल के ऊपर होता है।

श्रद्धेय गणीजी जी का चरित्र बल बहुत उच्चकोटि का था। प्रारम्भिक जीवन की पच्चीसाई में वे दिल्ली में रहे परन्तु वहाँ पर उनका जीवन अंधेरे में भटका हुआ नहीं था। यौवन के उन्माद में आकर मनुष्य अपने को भूल जाता है और वासना की ठोकरों का शिकार हो जाता है। परन्तु हमारे चरितनायक का वह तरुणकाल गृहस्थ दशा में भी बेदाग रहा। किसी भी दुर्व्यसन का उनको स्पर्श नहीं हुआ।

साधुजीवन में आकर तो उनका चरित्र सूर्य की तरह प्रकाशमान होने लगा। वासना के अन्धकार को उनके पास आने का कभी साहस ही नहीं हुआ। क्या कभी प्रकाश और अन्धकार एक स्थान में रह सकते हैं? गणीजी के जीवन में ठीक यही आदर्श रहा। मुनि जीवन के इतने लंबे काल में अनेक प्रकार के झंझावात और तूफान आए परन्तु वे हिमालय के समान सदा अचल और अटल रहे। उनके इतने सुदीर्घ जीवन चरित्र पर एक छोटा-सा भी धब्बा कहीं पड़ा हुआ दिखाई नहीं पड़ता। मन और इन्द्रियों के साथ संघर्ष होने पर विजय सदा उनका साथ देती थी।

सत्यनिष्ठा

साधक जीवन की अन्तरात्मा के बल का सच्चा पता, उसके सत्यनिष्ठ होने में है। जब मन, वाणी और कर्म एक रूप होते हैं तो सत्य का उज्ज्वल प्रकाश चहुँ ओर चमकने लगता है। जिस आत्मा को सत्य चिन्तन, सत्य वचन और सत्य आचरण का सौभाग्य मिलता है, वह इस क्षण भंगुर संसार में कितना अधिक भाग्यशाली होता है?

श्रद्धेय चरितनायक अपने युग के एक महान सत्यनिष्ठ महापुरुष थे। जो विचार उनके हृदय को सत्य प्रतीत होता, उसके लिये वे अड़ जाते थे। कठोर से कठोर अग्नि-परीक्षा भी उनको सत्य से पराङ्‌मुख नहीं कर सकती थी। गणीजी का वचन वज्र लेख समझा जाता था।

पत्री और परंपरा के संघर्ष में इनके लिए विकट समस्या थी। एक ओर अपनी गुरु परंपरा तो दूसरी ओर श्रीसंघ का विचार। उनका मन श्रीसंघ के विचार को पसन्द करता था, बस आप श्रीसंघ के साथ रहे और इसके लिए बहुत बड़े गुरु परंपरा के मोह का बलिदान कर दिया। श्रद्धेय महान् तेजस्वी पूज्यपाद जैनाचार्य श्री सोहनलालजी महाराज आपके बाबा गुरु लगते थे। आप पर उनका स्नेह सद्‌भाव इतना अधिक था कि कुछ लिखा नहीं जा सकता। और आपकी भी उनके प्रति भक्ति भावना अत्यन्त उच्चकोटि की थी। परन्तु पत्री के प्रश्न पर जब मतभेद हुआ तो आपने बहुत बड़े साहस के साथ मानने से इन्कार किया। इस प्रकार के साहस बहुत कम लोगों में पाए जाते हैं।

अजमेर में अखिल भारतीय मुनि-सम्मेलन हो रहा था। श्रद्धेय श्री रूपचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय के प० मुनि श्री कुन्दनलालजी महाराज भी

सम्मेलन में भाग लेने के लिए आ रहे थे। जयपुर तक पहुँच भी चुके थे। परन्तु किसी प्रश्न को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ और तत्कालीन सम्मेलन के आयोजनकर्त्ता गृहस्थ उनके सम्मेलन में भाग लेने के विरुद्ध हो गये। अतः गणीजी पं. मुनि श्री कुन्दनलालजी म. के प्रवेश के पक्ष में थे। वे इस अन्याय को कथमपि सहन करने के लिए तैयार नहीं थे कि पंजाब प्रांत की एक सम्प्रदाय अखिल भारतीय साधु सम्मेलन में भाग लेने से रह जावे। आपकी दृष्टि में यह पंजाब का अपमान था। अतः आपने इस अन्याय का डटकर विरोध किया और घोषणा की कि यदि मुनि श्री कुन्दनलालजी सम्मेलन में भाग नहीं ले सकते तो हम भी भाग नहीं लेंगे। इस प्रश्न पर सारा पंजाब एक है। अंततोगत्वा आपका वचन मान लिया गया और मुनि श्री गौरव के साथ सम्मेलन में भाग ले सके।

अजमेर सम्मेलन में लाउडस्पीकर का प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ था। कुछ मुनि बोले और कुछ न बोले। श्रद्धेय चरितनायक बोलने वालों में से थे। बाद में जब संघर्ष हुआ तो बहुत से मुनि अनिच्छा से मजबूर होकर दण्ड लेने लगे। कुछ लोगों ने दण्ड लेने के लिये उन्हें बाधित कर दिया था। परन्तु आप जन-प्रवाह में बहने वाले न थे। आप सत्य पर अड़े रहे और अंत तक अड़े रहे। आपने कहा— 'मैं इसमें कोई दोष नहीं देखता। विद्युत् अचित्त है और इस प्रकार के सूर्य रश्मि आदि के पुद्गल अचित्त शास्त्रानुसार हैं। जब तक मुझे आप लोग यह प्रमाणित न करें कि इसमें कोई हिंसा हुई है तो मैं दण्ड कैसे ले सकता हूँ। मैं और किसी दबाव को नहीं मान सकता केवल सत्य के दबाव को मान सकता हूँ। चरितनायक सत्य के प्रति दृढ़ निष्ठा रखते थे। अयोग्य जनमत के आगे झुकते देखकर सत्य की उपेक्षा करना उनकी प्रकृति में नहीं लिखा था। वे आमरण सत्य के आग्रही रहे।

दयालुता

मानव-जीवन का उज्ज्वल प्रकाश दया की अमर भावना में रहा हुआ है। साधक का हृदय कितना महान् है इसमें उस जीवन का कितना विकास प्रवाह है यह यदि मालूम करना हो तो करुणा से छलकते हुए हृदय के दर्शन करो। जिस हृदय में जितना ही अधिक करुणा-भाव होगा वह उतना ही अधिक महान एवं आदरणीय होगा।

दाह संस्कार

यमुना के किनारे शोक-मग्न जनता गांधी जी की चिता को प्रज्वलित होते देख रही है।

हमारे चरितनायक करुणा के सागर थे। किसी भी दु ख एवं कष्ट में पड़े हुए भाई को देखकर उनका हृदय दया से भर उठता था। धनी हो या निर्धन, साधारण हो या विशिष्ट, चरितनायक की ओर से सब को एक जैसी सान्त्वना प्राप्त होती थी। उनकी मधुर वाणी हर किसी के दु ख के लिए मरहम का काम देती थी। उनके श्रीचरणों में बैठकर शांतिलाभ प्राप्त करने वाले प्राणी, आज भी उनकी याद में सहसा रो उठते हैं।

धैर्य

सङ्कट में पड़कर भी धैर्य न छोड़ना, मानव जीवन का कितना महान् गुण है। मनुष्य के ऊँचे व्यक्तित्व का पता ऊँचे धैर्य से ही लगता है। आचार्य भर्तृहरि कहते हैं कि ससार में वे सब से अधम कोटि के व्यक्ति हैं जो भविष्य में आनेवाले सङ्कटों के डर से किसी शुभ-कार्य को शुरू ही नहीं करते। जो लोग शुरू तो कर देते हैं, परन्तु आपत्तियों के आने पर विचलित हो जाते हैं और प्रारब्ध कार्य को अधूरा ही छोड़ बैठते हैं, वे मध्यम श्रेणी के मानव कहलाते हैं। और जो बार बार विपत्तियों की मार खाकर भी अपना धैर्य नहीं छोड़ते, पूर्ण सफलता पर पहुँच कर ही विश्राम लेते हैं, वे उत्तम कोटि के महामानव कहलाते हैं। 'प्रारभ्य तूत्तमजना न परित्यजन्ति।'

श्रद्धेय गणीजी बड़े ही धैर्यशाली पुरुष थे। कठिन-से कठिन स्थिति में भी उनका धैर्य कभी भग नहीं होता था। शतद्रु की तूफानी लहरों पर उनके धैर्य की परीक्षा पाठक पिछले प्रकरणों में कहीं पढ़ सकते हैं। एक क्या, अनेक प्रसग ऐसे हैं, जो उनके धैर्य का उज्ज्वल चित्र उपस्थित करते हैं।

एक बार गणीजी महाराज गुजरानवाला में विराजमान थे। जिस भवन में ठहरे हुए थे, उसके नीचे की मजिल में भयङ्कर आग लग गई। कोलाहल मच गया, लोग इधर-उधर दौड़ने लगे। परन्तु चरितनायक ऊपर शात भाव से बैठे रहे। उनके अचल मन में अग्निकांड कोई भी भयमूलक हलचल नहीं पैदा कर सका। जब अग्निकाण्ड उग्ररूप धारण करने लगा और साथ के साधू भयाक्रांत होने लगे तो चरितनायक ने पद्मासन से बैठकर पाठ करना आरम्भ कर दिया। चमत्कार की बात है, पाठ प्रारम्भ होते ही अग्नि जहाँ-की तहाँ शात हो गई, आगे नहीं बढ़ सकी। आत्मा की विलक्षण शक्ति का यह चमत्कार, आज भी देखने वाले वाणी पर लाते हैं और उस महान् आत्मा के चरणों में आनदविभोर हो जाते हैं। नीचे आग लग रही हो, सब कुछ भस्म

होने जा रहा हो फिर भी इतना महान् धैर्य ! वस्तुतः धैर्य की पराकाष्ठा है।

विक्रम सम्वत् १९०९ की बात है। आप कपूरथला नगर में विराजमान थे। हर्निया की पीड़ा आपको बहुत दिनों से तंग कर रही थी। डाक्टर आया, आपरेशन की तैयारी होने लगी। डाक्टर ने कहा—"आपरेशन बड़ा होगा बहुत देर लगेगी। अतः बेहोश करने के बाद आपरेशन किया जायगा।" चरितनायक ने कहा—'बेहोशी की क्या आवश्यकता है? कितनी भी देर लगे मैं तैयार हूं। आप डरिये नहीं मैं सब सहन करूंगा।' आपरेशन हुआ। महाराज श्री शांत भाव से समाधिस्थ से बैठे रहे। डाक्टर आश्चर्यचकित हो गया। उसने कहा—"यह पहिला अवसर है जब मुझे आप जैसे महान धैर्य शाली संत के दर्शन हुए।'

आपको जयपुर चातुर्मास में पीठ के फोड़े की भयंकर वेदना थी। डाक्टर के यहाँ जाकर आपरेशन कराया और फिर चलकर बहुत दूर उपाश्रय में पधार गए। जयपुर की जनता आपके महान् धैर्य को देखकर धन्य धन्य करने लगी। वृद्धावस्था पीठ के फोड़े की भयंकर वेदना तत्काल आपरेशन फिर भी धैर्य का चमत्कार देखिये कि स्वयं चलकर उपाश्रय में पधार गये। महाराज श्री सचमुच धैर्य की मूर्ति थे। भयंकर-से-भयंकर परीषह आने पर भी उनका मन विचलित नहीं होता था। हिमालय की चट्टान क्या कभी बवंडर के झोंकों से विचलित हुई है?

स्वभाव की सरलता

स्वभाव की सरलता एवं कोमलता चरितनायक के कण कण में रमी हुई थी। कठोर वचन बोलना शायद वे जानते ही नहीं थे। कितना ही उत्तेजना का वातावरण हो विरोधी कितना ही मर्यादा से बाहर होकर बोले सुने, परन्तु हमारे चरितनायक के हृदय की शांति क्षमा और सहिष्णुता कभी भंग नहीं होती थी। आपके प्रतिद्वन्द्वियों ने भी आपके इस महान गुण की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है।

आपके मुख मण्डल पर सदा प्रसन्नता की झलक रहा करती थी। क्या परिचित और क्या अपरिचित, जो भी दर्शन करता, आपकी शांतमुद्रा को देखकर भक्ति से गद्गद् हो उठता था। आपकी यह सरलता हर किसी के मन को भा लेती थी। यही कारण है कि जहाँ भी आप गए वहीं प्रेम का झरना बहा दिया द्वेष और कलह की जलती हुई आग को बुझा दिया।

नाभा में आपने ६० वर्ष के पुराने धधकते हुए समाज-कलह के दावानल को शात किया। दिल्ली सदर बाज़ार में उपाश्रय के प्रश्न को लेकर आपस में भीषण सघर्ष चल रहा था। जब आप देहली पधारे तो आपने इस कलह की आग को भी प्रेम की वर्षा से बुझाया। श्रद्धेय पूज्य श्री काशीरामजी म० और आप ही इस श्रेय के अधिकारी हैं कि सदर जैन समाज में सप बना रहा और किसी प्रकार की दुर्घटना न हुई।

आप स्नेह की मूर्ति माने जाते थे। जिस किसी भी क्षेत्र का भाई प्रार्थना लेकर आता, आप उसे हताश करना नहीं चाहते थे। छोटे-से-छोटे गाँवों की प्रार्थना को भी आपने नहीं ठुकराया। यही कारण है कि आपके विहार क्षेत्रों में जहाँ लाहौर, अमृतसर, दिल्ली, रावलपिंडी आदि बड़े-बड़े क्षेत्रों का नाम है, वहाँ रामपुर, सुट्टा, छिपाड़ और छिंटावाले जैसे साधारण क्षेत्रों का भी कुछ कम महत्त्व नहीं है। श्री रघुवरदयालजी महाराज सुनाते हैं कि छिंटावाला क्षेत्र का एक भाई महाराज श्री से अपने क्षेत्र में पधारने की प्रार्थना करने आया। मालूम हुआ कि वहाँ अब जैनों के घर नहीं हैं, केवल एक यह भाई ही रह रहा है। कोई साधु नहीं जाता। महाराज श्री ने भी इन्कार किया। परन्तु वह भाई प्रार्थना करने लगा कि महाराज, मैं तो अवश्य आपको अपने गाँव में ले चलूँगा। आपसे महान सतों के दर्शन हमारे गाँव को भी मिलने चाहिएँ।

महाराज श्री उसके प्रेम को देखकर तैयार हो गए। फेर खाकर भी छिंटा-वाला पहुँचे। छिंटावाले में कभी जैनों की सख्या इतनी अधिक थी कि बड़े-बड़े तीन विशाल स्थानक थे। किन्तु महाराज श्री वहाँ पहुंचे, उस समय दो स्थानक तो अपना अस्तित्व समाप्त कर चुके थे। केवल एक स्थानक बच रहा था, वह भी अपनी जीर्ण शीर्ण दशा में कालयापन करता हुआ अपने निर्माताओं के गत वैभव की ओर मूक सकेत कर रहा था। महाराज श्री के श्रीमुख से यह देखकर सहसा निकल पड़ा—'कालस्य कुटिला गति'।

इस प्रकार के एक दो नहीं, अनेक उदाहरण हैं जो महाराज श्री के कोमल हृदय की झाँकी उपस्थित करते हैं। एक एक घर की प्रार्थना को महत्त्व देकर इतनी दूर आना जाना, वस्तुत सरस जीवन का सरस चित्र है।

तर्क शैली

आपकी अद्भुत प्रतिभा प्रारम्भ से ही चमत्कार दिखाने लगी थी।

आपका मस्तिष्क मननशील प्रकृति का था, वह हर किसी सिद्धांत की बहुत गहराई तक पहुँचता था। आप साधारण तार्किक नहीं थे जो विचार प्रवाह के ऊपर-ऊपर तैरा करते हैं। आपका चिन्तन तलस्पर्शी होता था और साथ ही व्यापक भी। यही कारण है कि आपने इतने अधिक शास्त्रार्थ किए परन्तु कहीं पर भी पराजित नहीं हुए।

(१) संवत् १९६९, सुकेरियाँ में—आर्य समाज के साथ ईश्वर कर्तृत्व पर शास्त्रार्थ हुआ।

(२) संवत् १९७६ नकोदर में 'जैन धर्म प्राचीन है या वैदिक धर्म' इस विषय पर पं० कालूराम जी आदि विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ हुआ।

(३) संवत् १९७७ शाहकोट में खुदा की मर्जी के बिना पत्ता नहीं हिलता इस पर मुसलमान मौलवियों से शास्त्रार्थ हुआ।

(४) नाभा शास्त्रार्थ तो आपका सुप्रसिद्ध है ही।

ऊपर की पंक्तियों में मुख्य-मुख्य शास्त्रार्थों का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से शास्त्रार्थ हुए हैं। आपके जीवन पर जब दृष्टिपात करते हैं तो आपका जीवन ही शास्त्रार्थमय मालूम होता है। उन दिनों आर्य समाज के कारण जनता में नई चेतना चमक रही थी शास्त्रार्थों की भरमार रहती थी। पंजाब प्रांत में जैन धर्म के गौरव की रक्षा करने में और विपक्षियों से शास्त्रार्थ करके विजय पाने में आपने जो महान् चमत्कार दिखाये हैं वे सब जैन इतिहास की अमूल्य निधि हैं। कृतज्ञ जैन संसार उन्हें कभी भूलेगा नहीं।

उपदेश शैली

पण्डित हो जाना एक बात है और वक्ता होना दूसरी बात है। एक आचार्य कहता है कि सहस्रेषु च पण्डितः वक्ता शत सहस्रेषु। अर्थात् हजार में एक पण्डित होता है और लाख में एक वक्ता बनता है। वक्ता और योग्य वक्ता होना वस्तुतः कुछ साधारण बात नहीं है।

हमारे चरितनायक अपने युग के एक महान विशिष्ट वक्ता थे। आपकी वाणी में अमृत का झरना बहता था। जिसने भी एक बार आपका प्रवचन सुना वह जीवन भर आपको भूलता नहीं था। आप अपने श्रोताओं को मंत्र मुग्ध कर देते थे। आप जहां भी जाते वहीं आपके उपदेशों के प्रभाव से जनता में जागृति पैदा हो जाती थी। आपने कितने ही पुराने क्षेत्रों में नया

जीवन उत्पन्न किया और कितने ही नये क्षेत्रों का निर्माण भी किया।

आप साढौरा का चातुर्मास समाप्त करके सुजातपुर पधारे थे। बिल्कुल नया क्षेत्र। परन्तु ज्यों ही आपका उपदेश हुआ, जनता विकसित पुष्प पर भ्रमरों की तरह आपके चारों ओर मँडराने लगी। आप कई दिन ठहरे और भगवान् महावीर की वाणी का सिंहनाद करते रहे। सनातनधर्म के कट्टर पक्षपाती सेठ कुन्दनलालजी, महाराज श्री के उपदेशों से इतने अधिक प्रभावित हुए कि जैन धर्म अंगीकार कर लिया। लालाजी पर लक्ष्मी की कृपा पहिले से ही थी और अब भी है। कई नगरों में आपके मिल चलते हैं, आप क्रोड़ाधीश सेठ माने जाते हैं। चरितनायक पर आपकी श्रद्धा इतनी अधिक है कि कुछ लिख नहीं सकते। आप कहा करते हैं कि 'मुझे गुरुदेव क्या मिले, साक्षात् भगवान् ही मिल गए।'

एक क्या, अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। जब मनुष्य के अन्तर्हृदय की सच्ची वाणी बाहर आती है तो वह जनता पर जादू का प्रभाव दिखाती है। हमारे चरितनायक की वाणी में सचमुच जादू का सा ही असर था। जयपुर में जब आप मुक्ति विषय पर व्याख्यान दे रहे थे तो मूर्ति पूजक श्वेताम्बर जैन समाज के लब्ध प्रतिष्ठ नेता श्री गुलाबचन्दजी ढढा ने कहा था कि—"इस प्रकार का तर्क सगत, विचार पूर्ण, गभीर उपदेश जीवन में प्रथम बार ही सुनने का सौभाग्य मिला है।"

उपसंहार

श्रद्धेय गणीजी महाराज उस सीमा पर पहुँचे हुये सन्त थे जहाँ आत्मा का प्रत्येक गुण विराट बनने की भूमिका पर होता है। उनका जीवन त्याग, तपस्या, शील, उदारता, और सरलता आदि गुणों की विहार भूमि बन गया था। उनमें गुण और कर्म की वे सभी सम्पत्तियाँ विद्यमान थीं जो एक महान् पुरुष के जीवन में प्रस्फुरित हुआ करती हैं। उनका विशाल जीवन अग्नि में तपाये हुए विशुद्ध स्वर्ण की तरह हर ओर से कांतिमान दिखाई पड़ता है।

अधिक क्या लिखूँ, उनका जीवन एक महान आचार्य के द्वारा निर्दिष्ट नीचे की प्रत्येक परीक्षा में खरा उतरता है। कठोर से-कठोर अग्नि परीक्षाओं में भी उनके जीवन पर कोई दाग नहीं लगा। वह महामानव सब प्रकार से एक परीक्षित पुरुष थे, उनके जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा जाये, वही थोड़ा है।

हाँ तो यह आचार्य का श्लोक देखिए —

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निघर्षण–च्छेदन–ताप–ताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा॥

'जैसे घिसने काटने तपाने और कूटने से सुवर्ण की परीक्षा होती है उसी प्रकार त्याग शील गुण और कार्य से पुरुष की परीक्षा होती है।

. ३०

वर्तमान शिष्य परिवार

महापुरुष की महत्ता केवल अपने तक ही सीमित नहीं होती । वह अपने आसपास के जन समुदाय में एवम् आने वाली परपरा में भी प्रतिबिम्बित होती है । हाँ तो श्रद्धेय गणी श्री उदयचन्द्रजी महाराज अपने युग के एक महान् पुरुष थे । उनका जीवन सर्वतोमुखी प्रकाश स्वरूप रहा है । उनका प्रत्येक कार्य जनता को आश्चर्य की भावना में डाल देने वाला है । जहाँ उनके अन्य बहुत से कार्य उनकी आदरणीय महत्ता को सूचित करते हैं, वहाँ उनका वर्तमान शिष्य परिवार भी उनकी चमत्कारपूर्ण महत्ता की ओर स्पष्ट सकेत करता है । उनके महान व्यक्तित्व की छाप बहुत से शिष्यों पर इस प्रकार पड़ी है कि भविष्य में अपने गुरुदेव की महत्ता को सुरक्षित रखने एवम् परिवर्द्धित करने में अधिकांश सफल होंगे ।

१ गणावच्छेदक श्री रघुवरदयालजी महाराज

श्रद्धेय गणी श्री उदयचन्द्रजी म० के शिष्य परिवार में आजकल सब से बड़े आदरणीय गुरुदेव श्री रघुवरदयालजी महाराज हैं । आप बड़े ही समयज्ञ, उदार हृदय एवम् अपने गुरुदेव के चरण चिह्नों पर चलने वाले हैं । आपकी उपस्थिति जैन सघ में नवजीवन पैदा कर देती है । युवकवर्ग में धर्म प्रभावना सचारित करने में तो आप सिद्धहस्त हैं । आपको गणीजी महाराज की छत्रछाया में रहने का सबसे अधिक सौभाग्य मिला है । आपने विक्रम सवत् १९७३ फाल्गुन सुदी पचमी के दिन गणी श्रीजी के चरणों में दीक्षा ग्रहण की और तब से निरन्तर गुरु सेवा का लाभ उठाते रहे । आप बड़े ही कोमल एवम् उदार प्रकृति के स्वामी हैं । श्रद्धेय गणीजी महाराज के प्रति आपका अनुराग उच्च-कोटि का था । एक शिष्य अपने पूज्य गुरुदेव की सेवा में अपने आपको कैसे लीन कर सकता है, इसके आप साक्षात् जीवित उदाहरण हैं । गणी श्रीजी की कृपा आपने पूर्ण रूप से प्राप्त की है । आजकल आप ही गणीजी महाराज के शिष्य परिवार का नेतृत्व कर रहे हैं । आपके मधुर अनुशासन एवम् आज्ञा में रह कर यह छोटासा शिष्य सघ अवश्य ही प्रगतिशील जीवन अपनाएगा । जैन

समाज को यह पूरी-पूरी आशा है। आप गुरुदेव श्री का परिचय पिछले अध्याय में विस्तार से दिया गया है।

२ श्री दुर्गादासजी महाराज

आप जाति के ब्राह्मण हैं कोटली जि० कांगड़ा के रहने वाले हैं। आपने विक्रम सम्वत् १९०१ आश्विन शुक्ला सप्तमी के दिन दीक्षा ग्रहण की और तबसे संयम साधना के पथपर बढ़े जा रहे हैं। आपने आगमों का अच्छा अभ्यास किया है। आपका उर्दू फारसी पर विशेष अधिकार है। आप शीघ्र लेखन में अत्यधिक पटु हैं। आपने रामेश्वरीकल्प आदि उर्दू में कुछ पुस्तकें भी लिखी हैं जो जनता ने पसंद की हैं। दिल्ली के आस पास के प्रदेशों में आपने जैन धर्म का अच्छा प्रचार किया है।

३ श्री निरंजनदासजी महाराज

आप दरौली जि० गुड़गांवा के रहने वाले गौड़ ब्राह्मण हैं। आपने गणी श्रीजी के चरणों में विक्रम सम्वत् १९८१ ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी के दिन मुनि दीक्षा ग्रहण की। आप वयोवृद्ध सन्त हैं। बड़े ही सरल स्वभावी एवम् मृदु प्रकृति के स्वामी हैं। आपको अभिमान तो बिलकुल नहीं है। गोचरी लानी हो व्याख्यान देना हो या और कोई ऐसा कार्य हो आप सदैव तैयार रहते हैं। वेद पन्थ और आर्य-समाज के सिद्धान्तों का खण्डनात्मक पद्धति से अच्छा अभ्यास किया है। वृद्धावस्था होते हुए भी आपने आस-पास के गाँवों में जैन धर्म का प्रचार करने में अच्छा उत्साह दिखाया है।

४ श्री खज्जूरामजी महाराज

आप सिवाना, जि० मेरठ के निवासी हैं। आपने विक्रम सम्वत् १९९१ मंगसिर सुदी दशमी के दिन दिल्ली में दीक्षा ग्रहण की। आप बड़े ही मिलन सार विनयशील शान्त स्वभावी एवम् प्रसन्न प्रकृति के सन्त हैं। आपकी व्याख्यान शैली बड़ी ही मधुर और सर्वसाधारण जनता के हृदय को स्पर्श करने वाली है। आस-पास के देहाती क्षेत्रों में आपके द्वारा जैन धर्म का बहुत ही सुन्दर प्रचार हुआ है। ग्रामीण जनता तो आप पर इतनी मुग्ध है कि उसकी भक्ति भावना को किन शब्दों में लिखूँ ? आपकी ज्ञान पिपासा अब भी जागृत है आप कुछ-न-कुछ अध्ययन करते ही रहते हैं। ज्ञानाभ्यास के साथ-साथ आप यथावसर तप साधना में भी रत रहते हैं।

५ शिवकुमार मुनि

मैं अपने सम्बन्ध में क्या लिखूँ ? मेरे लिए यह बड़ी कठिनाई है। फिर

भी रिक्त स्थान को भरने का उत्तरदायित्व मुझे पुस्तक का लेखक होने के नाते निभाना ही होगा। दिल्ली के पास ही बड़ा खेड़ा जि० रोहतक का निवासी रहा हूँ। विक्रम सम्वत् १९९७ आश्विन शुक्ला द्वितीया के दिन गुरुदेव के चरणों में दीक्षा ग्रहण की। मैंने अपने जीवन का आदर्श गुरु चरणों की सेवा में सरल भाव से संलग्न रहना बनाया है। संस्कृत और प्राकृत भाषा का कुछ अध्ययन किया है और आगे किया जा रहा है। दर्शनाचार्य प० श्री कृष्णचन्द्रजी से जैनागम और संस्कृत आदि का अध्ययन किया है। अब भी श्रद्धेय कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज से भगवती सूत्र और जैन दर्शन के अन्य ऊँचे ग्रन्थों का अभ्यास चालू है। श्रद्धेय गणी श्री उदयचन्द्रजी म० के चरण कमलों में बैठकर भी बहुत कुछ शिक्षा इस सेवक ने प्राप्त की है। श्रद्धेय गुरुदेव श्री रघुवरदयालजी म० की अपार कृपा है कि वे मुझे कुछ बनाना चाहते हैं और मैं उनकी छत्र छाया में कुछ बनने का प्रयत्न कर भी रहा हूँ। आशा है गुरु चरणों का आशीर्वाद अवश्य सफलता प्रदान करेगा।

६ श्री रामकुमारजी मुनि

आप श्री छज्जूरामजी महाराज के संसारी भतीजे लगते हैं। आपने विक्रम सम्वत् २००२ मंगसिर सुदी पंचमी के दिन दीक्षा ग्रहण की। आपका स्वभाव शान्त और प्रसन्न है। आप भी अध्ययन करते हैं और साथ ही संघ सेवा के कार्य में अधिक रस रखते हैं। आप जहाँ भी जाते हैं, छोटे बच्चों नौजवानों और अन्य लोगों में धर्म की काफी अच्छी भावना पैदा कर देते हैं।

७ श्री अभयचन्द्रजी मुनि

आप मेरे स्नेही साथी हैं। आप मूल निवासी निरपड़ा जि० मेरठ के हैं और पश्चात् दिल्ली में रहने लगे थे। आज भी आपका परिवार दिल्ली में है और लाला श्रीचन्द्रजी तथा लाला धर्मचन्द्रजी आदि आपके संसारी भाई धर्म ध्यान एवम् संघ सेवा के कार्यों में बहुत अधिक भाग लेते हैं। आप एक साधन संपन्न एवं भरे पूरे परिवार के सदस्य रहे हैं। आपने वैराग्य भाव से दीक्षा ग्रहण की और अब उस पर अविराम गति से अग्रसर हो रहे हैं। आप उदार विचारों के अध्ययन निष्ठ मुनि हैं। आप भी मेरे साथ ही उपाध्याय श्रीजी से भगवती सूत्र आदि ऊँचे शास्त्रों का अध्ययन कर रहे हैं। आप की अभिरुचि आध्यात्मिक ग्रंथों के अध्ययन की ओर विशेष है।

१

धर्म

आजकल ही नहीं परन्तु पुराने समय से इस सवाल ने कि 'धर्म क्या है' लोगों को परेशान किया हुआ है। कोई अपने पीर पैगम्बरों पर विश्वास लाने में धर्म बतलाता है तो कोई किसी कर्मकाण्ड विशेष को कर लेने मात्र को धर्म कहता है। हालत कुछ २ उन कच्चे और नौसिखिए दुकानदारों की-सी है जो एक-दूसरे के सामान को बुरा बताकर ग्राहक को अपनी ओर खींचने का यत्न करते हैं। धर्म रबर की तरह एक लचकदार चीज़ बना ली गई। लोग अपनी मनमानी धर्म की परिभाषा करने लगे। कोई नहाने में ही धर्म बताने लगा। कोई अपने को न्यौता देकर खिलाने में। धर्म चौके-चूल्हे में भी जा बसा। अगर खाना खाते समय किसी ने छू दिया तो बस धर्म भ्रष्ट हो गया। एक ओर तो धर्म इतना नाजुक बन गया कि हाथ लगते ही पिघलने लगा और दूसरी ओर उसी के नाम पर निरीह पशुओं की हत्या होने लगी। कुछ मनचलों को मांस खाने की सूझी। उन्होंने धर्म का रंग देकर उसी की मोहर लगा दी। कहाँ तक कहा जाय। लोगों ने धर्म को मज़ाक की चीज़ बना लिया।

अब आप ही सोचिये कि एक जिज्ञासु धर्म को जानकर उस पर चलना चाहता है, वह क्या करे? किसको धर्म समझे और किसको अधर्म? किसी हद तक तो जिज्ञासा या परीक्षा के लिये अवसर ही नहीं आता। जैसे बच्चा अपने पिता की सम्पत्ति, ऋण, मकान, दुकान का अधिकारी होता है उसी तरह धर्म का भी। धर्म एक बपौती की वस्तु बना दिया गया। उसको अपने आप परीक्षा करके धारण करने का मौका नहीं दिया जाता। बल्कि उसके ऊपर लादा जाता है। जैसे वह खाने-पीने का ढंग, पहनावा और दूसरी प्रथायें उनसे सीखता है, उसी प्रकार इस धर्म को भी ग्रहण कर लेता है। जैसे यह भी कोई रिवाज हो।

इस प्रकार धर्म की परिभाषा एक ऐसी पहेली बन गई जिसने पहिले तो महर्षि वेदव्यास तक को चक्कर में डाल दिया और उन्हें यही लिखना पड़ा —

"श्रुतयो विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्था॥

लेकिन इस जंजाल से बाहर निकलने की कोशिश करें तो भी महावीर प्रभु कथित बहुत ही सूक्ष्म और निश्चित शब्दों में धर्म की सर्वांगपूर्ण परिभाषा पा सकते "वत्थु सहावो धम्मो"। गागर में सागर ही नहीं सारा संसार भर दिया है। अग्नि का स्वभाव जलाना है बस यही उसका धर्म है। पानी का स्वभाव ठंडा है। यदि उसे गरम भी कर दिया जाय फिर भी आग को तो ठंडी ही कर देगा। यही उसका धर्म है। इसी कसौटी पर मानव धर्म कसा जा सकता है।

आत्मा का धर्म अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आदि हैं। इससे उलटा जो कुछ होता है विकार है—उपाधी है। जैसे पानी की गरमी। पानी का स्वभाव ठंडा होने पर भी जैसे विकार रूप में उसमें गरमी आ जाती है उसी प्रकार आत्मा का धर्म अहिंसा सत्य इत्यादि होने पर भी उसमें कभी-कभी अज्ञानता के कारण विकार के रूप में हिंसा असत्य आदि पैदा हो जाते हैं। परन्तु इतना समझ लेना चाहिए कि ये विकार सदा नहीं रह सकते। जबकि स्वभाव चिरस्थायी है। यही स्वभाव की पहिचान है। कोई कह सकता है कि यदि अहिंसा आत्मा का स्वभाव है तो कसाई आदि हिंसा में कैसे लगे रहते हैं। इसका उत्तर बहुत सीधा-सा है। जैसा कि अभी बताया जा चुका है। एक मनुष्य अपने जीवन-पर्यन्त अहिंसक रह सकता है। ऐसा हो सकता है कि उसके जीवन में एक क्षण भी ऐसा न आवे जिसमें उसके विचार हिंसा की ओर झुकें। लेकिन ऐसा होना असम्भव है कि कोई मनुष्य अपने जीवन के हर क्षण प्रत्येक पल हिंसा में ही लगा रहे। यहाँ तक कि कसाई २४ घण्टे भी ऐसा नहीं कर सकता। वह पागल हो जायगा। बस यही सचाई इस गुत्थी को भली भांति सुलझाती है कि मनुष्य का धर्म क्या है? जो उसका शुद्ध स्वभाव है वही उसका धर्म है। इसके विपरीत जो भी कुछ है वह अधर्म है।

अब रही मन्दिर मस्जिद ठाकुरद्वारे या किसी पीर पैगम्बर पर यकीन लाने मात्र से तर जाने या पार हो जाने की बात। सो सब दुकानदारी की बातें हैं। जब तक जीवात्मा स्वयं प्रयत्न नहीं करेगा कोरे विश्वास लाने से कुछ नहीं बन सकेगा। रोटी का विश्वास कर लेने मात्र से तो पेट नहीं भर जाता। भूखा को शान्त करने के लिये उसे गले से नीचे उतारना ही पड़ता है। और चारित्र की उपेक्षा करके केवल यकीन लाने को प्रधानता देना तो लोगों की दुकान

पर "ज्वैलरी हाऊस" का साइनबोर्ड लगाने के समान है। हीरे मोती की दुकान पर यदि साइन बोर्ड न भी हो तो कोई हानि नहीं। काम चल सकता है। हीरे मोती जैसी चीज़ छिपी तो नहीं रह सकती। परन्तु कोयलों की दुकान पर 'ज्वैलरी हाउस' का साइन बोर्ड लगाना तो सरासर धोखा देना है। इसी प्रकार, तिलक, छापे, भगवा वस्त्र, मुखपट्टी, कण्ठीमाला आदि सभी चारित्र के साथ ही अपना महत्त्व रखते हैं। बिना चारित्र के ये आडम्बर मात्र हैं। कोरी विडम्बना है। सिफर की कीमत उससे पहिले के अङ्क से है। अन्यथा उसका तो नाम ही सिफर है।

हाँ तो "वत्थु सहावो धम्मो" धर्म की परीक्षा करने की इस आसान कसौटी के मिल जाने पर इस विषय में भेड़ चाल की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। क्योंकि हमारे बाप-दादे अमुक सम्प्रदाय के मानने वाले थे अत हमारे लिये भी वही ठीक है। इसी का नाम तो भेड़ चाल है। "तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणा क्षार जल कापुरुषा पिबन्ति" हम एक पैसे की ककड़ी लेते हैं तो चखकर लेते हैं, कहीं कड़ुवी न हो। चार पैसे की हाँडी को अच्छी तरह ठोक बजाकर लिया जाता है। फिर धर्म को ही बिना परखे क्यों धारण करें? भगवान श्री महावीर स्वामी ने देव, गुरु और धर्म को परीक्षा करके स्वीकार करने का आदेश दिया है।

परन्तु आज तो पश्चिमी हवा के झोंके ने कुछ रग ही बदल दिया है। लोग धर्म को तो एक ढोंग समझने लगे हैं। आज आत्मा की नहीं, शरीर की पूजा होने लगी है। इसीलिये तो इसे भौतिकवाद का ज़माना कहते हैं। इस हरामी नौकर शरीर की रखवाली करने में ही जीवन का अधिक समय व्यतीत किया जाता है। मैं इस शरीर को हरामी नौकर कहा करता हूँ। जैसे हरामी नौकर काम करने से तो जी चुराता है परन्तु वेतन के लिए समय से पहले ही सिर पर सवार हो जाता है। इसी तरह यह शरीर भी शुभ कार्यों से तो कतराता है परन्तु खाने पीने या और सुख सुविधाओं के लिए बेचैन बनाए रखता है। अपनी दिनचर्या को ध्यान से देखेंगे तो पता चलेगा कि सारा समय इस शरीर की सेवा में ही बीतता है। लोग नैतिक और आत्मिक-बल के अभाव के कारण हवा के साथ उड़े जा रहे हैं। हवा की परवाह न करके आत्मा की पुकार पर चलने वाले तो नर-केसरी विरले ही होते हैं। धर्म उनकी रक्षा करता है क्योंकि वे धर्म की रक्षा करते हैं। किसी ने कहा भी है 'धर्मोरक्षति रक्षित'।

लोग अपनी अन्तरात्मा को दबाकर धोखा देकर धन के विषय में कुछ भी करें लेकिन अन्त में उन्हें यही मानना पड़ता है कि यही धर्म एक सार वस्तु है। इस विडम्बनामय संसार में यही एक प्रकाश की रेखा है। यही एक सहारा है। संसार में बड़े २ हुए। कुछ तो ऐसे हुए जो अपने सामने सारे जगत् को पदार्थ के आगे राई पैसा भी नहीं समझते थे। उन्होंने बड़ी बड़ी लूट मचाई अन्त में हाथ क्या लगा? कोरा पछतावा। जब काल ने गला दबाया तब चेत हुआ और सोचने लगे कि बुराई के अतिरिक्त कोई ऐसा काम नहीं किया जो हमें सहायता देता। हमारे साथ जाता। सम्राट सिकन्दर जिसने वर्तमान में जानी हुई आधी दुनिया जीत ली थी जब मरने लगा तो अपनी इच्छा प्रकट की कि मरने के बाद दफनाने को ले जाते समय मेरे दोनों हाथ कफन से बाहर रखे जावें जिससे मेरी प्रजा एक सबक सीख सके कि संसार का सबसे बड़ा विजेता आधी दुनियां का मालिक आज खाली हाथ जा रहा है। धर्म और अधर्म के अतिरिक्त कानी कौड़ी भी नहीं ले जा सकता। इस मौके पर किसी कवि ने लिखा है—

'मुहैया अगर्चे सब सामान मुल्की और माली थे।
सिकन्दर जब चला दुनियां से दोनों हाथ खाली थे॥'

स्त्री पुत्रादिक धन सम्पत्ति सभी जीते जी का मेला है। मौत के वारन्ट के सामने सभी ताकते रह जाते हैं। जीव को अकेले ही जाना होता है। किसी ने ठीक ही तो कहा है :—

'धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे नारी गृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे धर्मानुगो गच्छति जीव एक.॥

किसी नगर में एक सेठजी रहा करते थे। सेठ धनाढ्य होने के साथ-साथ धर्मात्मा भी थे। सभी बातें अच्छी थीं। घर में परस्पर सुमति और सहयोग था। एक दिन सेठ साहब फुरसत के समय में एक नीति की पुस्तक पढ़ रहे थे। पढ़ते-पढ़ते एक स्थान पर रुक गए और एक प्रसङ्ग को बार-बार ध्यान से देखने लगे। उस स्थान पर लिखा था "मनुष्य को मित्र तो सैकड़ों बना लेने चाहिए परन्तु दुश्मन एक भी नहीं। वे सोच में पड़ गए कि अपने व्यवसाय में उद्योग धन्धों में इतना फंसा रहता हूं कि मित्र बनाने की बात तो दूर रही सिर खुजाने की भी फुर्सत नहीं। अपने कुटुम्बियों सगे सम्बन्धियों के अतिरिक्त किसी को जानता भी नहीं। और यह स्वाभाविक है कि मित्र तो बनाने पर भी कठिनाई से बनते हैं और शत्रु बिना कारण ही

बन जाया करते हैं। यह सोचकर सेठजी व्याकुल हो गए और चटपट पुस्तक बन्द करके किसी को हार्दिक मित्र बनाने की धुन में घर से निकल पड़े। अभी कुछ ही दूर गए होंगे कि किसी उजले पोश से उनकी मुठभेड़ होगई। वह बोला —

"सेठजी, आज कहाँ चले जा रहे हो ?"

सेठजी—कहीं नहीं, भई। योंही एक मित्र बनाने की इच्छा से आज निकला हूँ।

उजले पोश — अगर यही बात है तो यह सेवा मुझे सौंपिये, आज से मैं आपका मित्र रहा।

सेठजी को और चाहिए ही क्या था। झट राजी हो गए। और इस प्रकार उनका एक मित्र बन गया। सेठजी इतना ही करके नहीं बैठ रहे। उन्होंने अपनी आधी सम्पत्ति, यहाँ तक कि आधा मकान भी उस मित्र को दे दिया। अब वह परछाईं के समान उनके साथ रहने लगा। सब काम साथ ही साथ होने लगे। याद रखिये इस प्रकार सेठजी को एक २४ घंटे का मित्र मिल गया।

इसी बीच में उनका एक और मित्र बन गया जो कभी तीज त्यौहार पर उनके यहाँ आया जाया करता था। बातचीत करके, खाने पीने के उपरान्त अपने घर चला जाता। बस इतना ही उसका सम्बन्ध था।

सेठजी स्वास्थ्य-रक्षा का पूरा पूरा ध्यान रखते थे और इसके लिए सुबह का घूमना उनका नहीं छूटने पाता था। भ्रमण करते समय उनसे कभी साल छः महीने में एक व्यक्ति से भेंट हो जाया करती थी। व्यक्तिगत रूप में एक दूसरे को नहीं जानते थे। सम्बन्ध सिर्फ अभिवादनमात्र तक ही सीमित था। यहाँ तक कि उन्होंने एक दूसरे का नाम भी नहीं पूछा था। लेकिन फिर भी इसे हम सेठजी का तीसरा मित्र कह दें तो कोई हानि नहीं। इन्हीं दिनों नगर में एक दुर्घटना हो गई। किसी व्यक्ति ने एक व्यापारी का खून कर दिया और मौका पाकर लाश को इन सेठजी के मकान में रखवा दिया। षड्यन्त्र कुछ ऐसी खूबी से रचा गया कि किसी को इसका पता ही नहीं चल पाया। जब जाँच हुई तो सेठजी ही अपराधी ठहराए गए। लेकिन लोग हैरान थे कि जो व्यक्ति इतना धर्मात्मा है, नगर की अधिकांश सस्थाएँ जिसके दान पर चल रही हैं, वह व्यक्ति किसी का खून कैसे कर सकता है ? खैर क्योंकि सबूत सेठजी के घर में था, इसलिये सन्देह में सेठजी को गिरफ्तार कर लिया गया। कानून एक ऐसी अन्धे की लकड़ी है कि जो छोटे बड़े अमीर गरीब को

नहीं देखती जो भी उसके दायरे में आ जाता है उसी के डस लेती है। गिरफ्तारी होने के बाद लोगों ने सेठजी को सुझाया कि आप अपनी जमानत दे दीजिये। सेठजी जमानत दिलवाने के लिये उस अपने २० वर्ष के दोस्त के पास गए। उन्हें पूरी आशा थी कि कहते ही वह उनकी जमानत दे देगा। लेकिन उसने कोरा जवाब दे दिया। बोला सेठजी वैसे आपके लिए जान हाजिर है पर जमानत हरगिज़ मैं नहीं दे सकता। मैं कचहरी से बहुत डरता हूँ। सेठजी अपना-सा मुँह लेकर चले आए।

पुलिस जब उन्हें गिरफ्तार करके कचहरी की ओर ले जा रही थी उन्हें ख्याल आया कि रास्ते में उनके उस मित्र का मकान पड़ता है जो कभी तीज त्यौहार पर आया जाया करता था। उन्होंने सोचा कि शायद यही मेरी जमानत दे दे। और पुलिस से आज्ञा लेकर उसके पास पहुँच गए। उसने बड़ा स्वागत किया। लेकिन जब सेठजी ने जमानत की बात कही तो उसके भी देवता कूँच कर गए और उसने टका सा जवाब दे दिया। सेठजी लाचार होकर फिर पुलिस के साथ चलने लगे। वे मन मार कर धीरे २ चले जा रहे थे। संसार की स्वार्थपरता को वे अच्छी तरह देख चुके थे। इसी बीच में उनकी नजर एक ऐसे व्यक्ति पर पड़ी जो अपनी कोठी के बरामदे में टहल कदमी कर रहा था। यह वही व्यक्ति था जो कभी २ सेठजी को घूमते समय मिल जाया करता था। जिसका वे नाम भी नहीं जानते थे सिर्फ अभिवादनमात्र का परिचय था। उसे देखकर सेठजी के मन में विचार आया कि चलो इससे भी जमानत देने के लिए कह देखूँ "आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान्"। सुनते हैं जब भीष्म पितामह और कर्ण जैसे महारथी महाभारत के युद्ध में काम आए तो भी कौरवों की आशा नहीं टूटी और पाण्डवों को जीतने की आशा से शल्य को अपना सेनापति बनाया। इसी आशा के सहारे सेठजी भी उस अर्ध परिचित व्यक्ति के ही पास जा पहुँचे। और कौरवों की आशा तो सुनते हैं सफल नहीं हुई थी परन्तु सेठजी तो सफल हो गए। उस व्यक्ति ने सेठजी की जमानत देनी मंजूर करली। सेठजी जमानत पर छूट गए और छूटने पर उन्होंने अपने खिलाफ लगाए गए अभियोग की पैरवी की जिससे वे साफ बरी कर दिये गए।

धर्म प्रेमी बन्धुओ! यह है एक दृष्टान्त। अब दार्ष्टान्त को देखिये। अध्यात्म की ओर आइये। सेठजी की तरह इस आत्मा के भी तीन मित्र हैं।

शरीर इसका चौबीस घंटे का मित्र है। इसी के बनाव शृंगार में इसके २४ घंटे बीतते हैं। इस शरीर के बाद सगे सम्बन्धियों की बारी आती है। वे इसके ऐसे ही मित्र हैं जैसे सेठजी का साल छः महीने वाला मित्र। आत्मा का तीसरे नम्बर वाला मित्र धर्म है जिसे कभी दुःख दर्द के समय याद करता है। यदि सालों कोई तकलीफ न हो तो सभवतः वह सालों धर्म का नाम भी न ले। उसे भूल ही जाय। अब विचारना यह है कि जब मौत का वारण्ट आता है तो ज़मानत के लिए कौन तैयार होता है। शरीर तो उस समय चारपाई पर से भी उठ नहीं सकता। ज़मानत की बात तो, दूर रही। रही सगे सम्बन्धियों की बात वे भी आँखें फेर लेते हैं। कहते हैं, भई बोझा हो तो हम बटा लेते, ये तो जिसकी आई है उसी को जाना होगा। हाँ धर्म ही एक ऐसा है जो कि यदि उससे गाढ़ी मित्रता करली जाय तो एक ही बार ज़मानत नहीं देता, बल्कि सदा के लिए मौत के पंजे से छुड़ा देता है।

धर्म और मजहब

धर्म और मजहब एक ही अर्थ को नहीं प्रगट करते। इनको पर्याय वाची शब्द कहना नितान्त भूल है। धर्म वस्तु का शुद्ध स्वभाव है और मजहब को हम सम्प्रदाय कह सकते हैं। आपने लोगों को कहते सुना होगा कि अमुक व्यक्ति ने अपना धर्म बदल लिया। लेकिन धर्म तो बदली जाने वाली वस्तु नहीं। क्या अग्नि का धर्म ठंडा हो सकता है? हाँ ऐसी जगह पर धर्म के स्थान में उन्हें मजहब शब्द का प्रयोग करना चाहिए। मजहब या सम्प्रदाय अवश्य बदला जा सकता है। बहुत से लोग कहने लगते हैं कि धर्म हमें आपस में लड़ाता है उसी के कारण ही बहुत से युद्ध हुए। यूरोप के क्रूसेड भी धर्म युद्ध के नाम से प्रसिद्ध हैं। परन्तु उनसे यह पूछना चाहिए कि ये कुत्ते और बिल्लियाँ आपस में क्यों लड़ते हैं। क्या भिन्न-भिन्न धर्माव-लम्बी होने के कारण? नहीं, हमें मानना पड़ेगा कि स्वार्थ की मात्रा अधिक होने के कारण ही वे ऐसा करते हैं। और मनुष्यों के विषय में भी यही बात लागू होती है। धर्म तो हमें एक दूसरे की रक्षा और सहानुभूति का पाठ पढ़ाता है। और इसीलिये न धर्म किसी पुस्तक में है और न अहिंसा, सत्य आदि की बाह्य क्रिया में। यह सुन कर आप लोगों को आश्चर्य तो अवश्य हुआ होगा लेकिन दरअसल इसमें आश्चर्य की कोई भी बात नहीं। भगवान् श्री महावीर प्रभु ने विवेक में धर्म बतलाया है, न कि किसी पुस्तक विशेष में। श्री गौतम प्रभु ने एक बार भगवान् से पूछा, भगवन् —

'कहं चरे कहं चिट्ठे कहं मासे कहं सए
कहं भुंजंतो भासन्तो पाव कम्मं न बन्धई ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम।

' जयं चरे जयं चिट्ठे जयं मासे जयं सए,
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्म न बन्धई।

भगवान् ने किसी स्थान विशेष पर जाने|या किसी पुस्तक के पढ़ लेने में पाप से छुटकारा नहीं बताया। यह सचाई इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि बहुत-सी बहिनें—मुनिराजों के पास जाकर रोटी न बनाने या घर में झाड़ू न लगाने का नियम ग्रहण करती हैं। ऐसा न करने में उनका उद्देश्य इन कामों में होने वाली हिंसा से बचना होता है। परन्तु वे भोली बहिनें यह नहीं समझतीं कि नौकर इन्हीं कामों को अयत्ना से करेगा और उससे उन्हें उलटा अधिक पाप लगेगा। इससे तो वे स्वयं इन कामों में यत्ना करें तो अधिक अच्छा है। इससे सिद्ध हुआ कि अहिंसा में नहीं अपितु यत्ना में धर्म है। उन्होंने त्याग तो अहिंसा के लिये ही किया था परन्तु हुआ उलटा अधर्म।

यही बात सत्य के विषय में भी लागू होती है। एक हरिण आपके सामने से भागा चला जाता है। उसके पीछे ही शिकारी आ जाता है और आपसे पूछता है। यदि आप यत्ना से काम न लेकर और सत्य का सहारा लेकर हरिण को बता देते हैं तो कितना बड़ा अनर्थ और पाप अपने सिर लेते हैं। उस समय यत्न से काम लेना ही आपका धर्म है। यत्ना से की जाने वाली क्रियायें ही धर्म की ओर ले जाती हैं।

इस रहस्य—इस गुत्थी—को फिर समझ लीजिए। ऐसा न हो कि *समझने में गलती रह जाय। मैं अभी शास्त्र का उद्धरण (हवाला)* देकर यह बता चुका हूँ कि इस विषय में भगवान् की क्या आज्ञा है। यत्ना अर्थात् सदुपयोग में धर्म और अयत्ना अर्थात् दुरुपयोग में पाप है। हिंसा और अहिंसा दोनों में यत्ना रखने इन दोनों का सदुपयोग करने में धर्म है और इनका दुरुपयोग करने में पाप है।

किस प्रकार चिचरें किस प्रकार बैठें कैसे बात करें कैसे सोयें किस प्रकार खायें जिससे पाप का बन्धन न हो ?

यत्न से विचरने यत्न से बैठने यत्न से बात करने और यत्नपूर्वक भोजन करने से पाप का बन्धन नहीं होता।

एक जज अपराधी को मृत्यु दण्ड अर्थात् फाँसी की सजा देता है। देखा जाय तो अपराधी ने जज का तो कुछ नहीं बिगाड़ा। जज उस अपराधी को और वह अपराधी जज को परस्पर जानते भी नहीं। जज को अपराधी पर क्रोध भी नहीं आ रहा है। लेकिन देश में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व जज पर है। जज जब देखता है कि अपराधी ने देश की शान्ति भग की है, देश में अव्यवस्था फैलाई है। धार्मिक एव शान्तिप्रिय नागरिकों का वध किया है तो वह अपराधी को मृत्यु-दण्ड देता है। वह आज्ञामात्र देता है। निश्चित समय पर जेल के अन्य कर्मचारी अपराधी को फाँसी पर लटका देते हैं। क्या उस जज या जेल के कर्मचारियों को पापी, अधर्मी समझा जाय? यदि वे अपने कर्तव्य का पालन न करें तो वह अपराधी न जाने और क्या-क्या अनर्थ करेगा। उसके साफ छोड़ देने पर औरों को भी वैसा करने की कितनी प्रेरणा मिलेगी, यह सब आप आसानी से सोच सकते हैं। आप जितने भाई यहाँ बैठे हैं, उनमें से भी कोई जज का स्थान ले सकता है। कल्पना कीजिये आप में से किसी का किसी अन्य व्यक्ति ने ऐसा अपराध किया जिसकी सजा उसे कानून के अनुसार फाँसी ही मिलेगी। जज भी उसे वही सजा देगा। और आप में से जिस भाई का उसने अपराध किया है मान लीजिये उसकी शिक्षा तथा विचार सम्बन्धी योग्यता भी जज के समान ही है। यदि वह भाई उस अपराधी को स्वय ही फाँसी पर लटका देता है। जज, जेल और जल्लादों के झमट में ही नहीं पड़ता। अब आप ही सोचिये कि उस भाई ने धर्म किया या पाप? आप उसे पापी ही कहेंगे। आखिर क्यों? वह इसलिये कि देश में शान्ति एव व्यवस्था बनाये रखने का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व प्रत्येक व्यक्ति होने पर भी अशान्ति एव अव्यवस्था फैलाने वालों का न्याय करने, उनको सजा देने या मुक्त करने का उत्तरदायित्व प्रत्येक व्यक्ति का नहीं है। दूसरी बात यह है कि उस अपराधी ने उस भाई का अपराध किया है इसलिये उसके मन में उसके प्रति द्वेष है। द्वेष के वशीभूत व्यक्ति से न्याय की आशा नहीं की जा सकती। ससार के किसी भी देश में अभियोग लगाने वाले को ही अभियुक्त को सज़ा देने का अधिकार नहीं दिया गया है। यदि ऐसा हो तो हर एक आदमी न्याय को अपने हाथ में ले लेगा। भारी गड़बड़ फैल जायगी। शासन एक दिन भी नहीं चल सकता। अत वह भाई जो कानून को अपने हाथ में लेकर अपराधी को

सजा देता है पाप का भागी है ।

मुसलमानों के पूज्य हजरत अली एक बार एक अपराधी को कत्ल करने के लिए तैयार हो गए। जब तलवार लेकर वे अपराधी के निकट पहुँचे तो उस अपराधी ने उन्हें देख कर गालियाँ दीं और उनके मुख पर थूक दिया जिससे अली को उस पर क्रोध आ गया। उन्होंने तलवार रख दी और कहा कि मैं इसे न्यायानुसार सजा नहीं दे सकता क्योंकि मुझे क्रोध आ गया।

आपके पास एक घोड़ा है। यदि आप उसका सदुपयोग करेंगे तो वह आपकी इच्छानुसार आपकी गाड़ी को खींचेगा। आप साधु दर्शन के लिये धर्म स्थान पर जाना चाहते हैं वहाँ भी ले जायेगा। किसी परोपकार के काम पर जाना है। आपको शीघ्र पहुँचायेगा। परन्तु यदि आप उसका दुरुपयोग करेंगे तो आपकी गाड़ी को चकनाचूर कर देगा। आपकी जान भी जोखिम में डाल देगा। जिस छुरी का प्रयोग डाक्टर करता है यदि वही किसी हत्यारे के हाथ में आ जाय तो आप ही विचारिये कि वह क्या अनर्थ करेगा।

एक वैद्य जी सत्य बोलना पसन्द करते हैं। वे सत्य को धर्म समझते हैं। कल्पना कीजिये वे ऐसे रोगी को देखने जाते हैं जिसका रोग भयानक है परन्तु हृदय कमजोर। यदि उसे उसके रोग की भयानकता के विषय में सत्य कह दिया जाय तो किसी भारी अनर्थ की आशंका है। यदि उसकी हिम्मत न बंधाई जाय तो उसके जीवन का भी खतरा है। वैद्य जी उसकी दशा देखकर चिन्तित तो होते हैं परन्तु ऊपर से हँस कर निश्चिन्तता का भाव दिखाते हैं। उससे इधर उधर की दो-चार बातें करते हैं और शीघ्र आरोग्य लाभ होने की आशा बंधाते हैं। वैद्य जी का ऐसा करना झूठ तो है परन्तु पाप नहीं। इसका मुख्य कारण है भावना। ऐसा सब कुछ उन्होंने परोपकार की भावना से प्रेरित होकर किया।

धर्म का मार्ग

पहिले ही बताया जा चुका है कि धर्म मस्जिद मन्दिर गुरुद्वारे या उपा-श्रयों में ढूंढने की चीज़ नहीं है। न तीर्थों में भटकने या जंगलों की खाक छानने से ही मिल सकता है। वह तो अपनी ही आत्मा में खोजने से उसी में मिलेगा। उसी में यह निधि छिपी पड़ी है। यदि हम बहिर्मुख से अन्तर्मुख होजायें तो यह खज़ाना धर्म का असली रूप आत्मधर्मता हमें अवश्य

मिलेगा। केवल वासनाओं और इच्छाओं को वशीभूत करने की देर है। धर्म ही ईश्वरत्व का साधन है। आत्मधर्म अर्थात् अपने निज स्वरूप को प्राप्त करते ही आत्मा स्वयम् ईश्वर, जिन भगवान् बन जाता है। उसके लिये उसे अन्य कुछ लाना या प्राप्त नहीं करना पड़ता है। ईश्वरत्व तो आत्मा में विद्यमान है। परन्तु उसके ऊपर से कर्मों का पर्दा हटाने मात्र की देर है। वास्तव में यह कर्मों का जाला या पर्दा है क्या? आप लोग निश्चय रखिये। जैन शास्त्रों में ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म बताये गए हैं। उन्हीं का नाश ईश्वरत्व की प्राप्ति है, सबसे बड़ा धर्म है निज स्वरूप को प्राप्त करना। और इसी के लिये हम धर्म का पालन कर रहे हैं। इन आठों कर्मों में भी मोह मुख्य है। यही अधर्म आपके ससार भ्रमण की जड़ बताई गई है। तुलसीदासजी ने भी इसी का समर्थन किया है "मोह सकल व्याधिन कर मूला"। यही सबसे बड़ा बन्धन है, कारागार है।

धर्म प्रेमी बन्धुओ! इसी बन्धन से ससार जकड़ा हुआ है। वह स्त्री, पुत्र, धन और ऐश्वर्य पर मोह-ममता रख कर ससार पार होना चाहता है, धर्म करना और धार्मिक बनना चाहता है। यह कैसे हो सकता है। यह तो दो स्वामियों की नौकरी करने के समान है। किसी हद तक दो स्वामियों की नौकरी तो हो सकती है, परन्तु मोह के रहते हुए सच्चे धर्म की, मोक्ष की प्राप्ति कदापि सभव नहीं। यह तो एक साथ दो घोड़ों की सवारी की भाँति नितान्त असमव है। आप शरीर, धन, दारा आदि में ममता रखते हुए जिन भगवान या ईश्वर नहीं बन सकते। वैसे तो ससार के सभी स्त्री पुरुष ईश्वर बनना चाहते हैं। वे कामना तो भगवान् महावीर और ईसा बनने की करते हैं परन्तु धर्म से पीछे भागते हैं। यह कैसे हो सकता है? इस युग की जैसे एक बुराई यह है कि अधिकांश लोग चटपट अमीर बन जाना चाहते हैं उसी प्रकार सबसे बड़ी बुराई यह है कि बिना धर्म मार्ग पर चले ही वे जिन भगवान्, ईश्वर भी बनना चाहते हैं।

एक पहलवान् अपने आपको अद्वितीय समझता था। उसको कुछ वहम सा था कि वह शक्ति में शेर से कम नहीं। सयोग से उसकी राशि भी सिंह थी। वह सिंह राशि में उत्पन्न हुआ था। इन्हीं सब बातों ने उसका मस्तिष्क फिरा सा दिया और वह दोदा-दौंदा गोदने वाले के पास पहुँचा और बोला—भाई! मैं शक्ति में शेर के समान हूँ, पैदा भी सिंह राशि में हुआ हूँ। अत तुम मेरे हाथ पर सिंह की मूर्ति गोद दो। गोदने वाले को तो इससे बढ़कर ही क्या थी

कि वह शक्ति में वस्तुतः सिंह के समान है या नहीं। उसका तो बनना ही था। उसने हाथ पर सिंह की आकृति बनानी आरम्भ करदी। यन्त्र के चलाते ही पहलवान् को तकलीफ होने लगी। वह बोला, क्या कर रहे हो ? गोदने वाले ने उत्तर दिया शेर की अभी पूंछ बनानी शुरू की है। पहलवान् ने कहा भले आदमी आज कल तो फैशन का जमाना है लोग अपने कुत्ते की तो पूंछ कट वाते हैं। तुम भी बिना पूंछ का शेर बनाओ। गोदने वाले ने पहलवान् की बात मानली और अबके शेर का अन्य अंग बनाने के लिये यंत्र चलाना आरम्भ किया। यंत्र चलाते ही पहलवान् साहब फिर सिहर उठे और बोले क्या कर रहे हो। वह बोला अबके शेर के कान बना रहा हूँ। पहलवान् बोला तुम तो पता नहीं किस जमाने में रहते हो ? इतना भी नहीं समझते कि आज कल के लोग अपने पालतू कुत्तों के कान भी नहीं रखते कटवा देते हैं। तुम भी शेर के कान मत बनाओ। बेचारे गोदने वाले ने फिर पहलवान की बात मानली। और अब के शेर की कमर बनाने लगा। पहलवान तो सहन कर ही नहीं सकता था फिर चिल्ला उठा भले मानुस अब के क्या कर रहे हो ? गोदने वाला बोला कर क्या रहा हूँ शेर की कमर बना रहा हूं। पहलवान ने कहा तुम तो निरे बुद्धू मालूम पड़ते हो ? इतना भी नहीं जानते कि शेर की कमर तो बिलकुल पतली होती है। वह तो बराए नाम—केवल नाम मात्र की होती है। उसके बनाने की क्या आवश्यकता है ? गोदने वाले ने हाथ जोड़े और बोला महाशयजी आप कहीं और जगह शेर की मूर्ति बनवा लीजिये मेरे बस की बात नहीं है। पहल वान साहब अपना सा मुंह लेकर चलते बने।

संसार में अधिक संख्या ऐसे लोगों की है जो धर्म के कठिन मार्ग पर चलने से कतराते हैं और मोक्ष का कोई सस्ता नुसखा खोजते फिरते हैं। यही कारण है कि धर्म के नाम पर संसार में अनेक सम्प्रदाय बन गए हैं। देखिये वह पह लवान अपने आपको शेर सिद्ध करने के लिये हाथ पर उसकी आकृति बनवाना चाहता था। परन्तु उसके लिये वह बिलकुल नहीं सह सकता था। इसी प्रकार अभी संसारी मुक्त बनना चाहते हैं परमपद की प्राप्ति और ईश्वरत्व अपना अन्तिम ध्येय बताते हैं। सम्यक्त्व एकबार में प्राप्त करने की धुन में नाना प्रकार की दौड़ धूप करते हैं। परन्तु जब उनकी वासनाओं एवम् तृष्णाओं में कुछ काट छांट का प्रश्न सामने आता है तो कतराते हैं।

धार्मिक बनना चाहते हैं परन्तु उसके में। त्याग न करना पड़े। इन्द्रिय

दमन का भी कोई प्रश्न सम्मुख न आवे । किसी प्रकार के कष्ट भी न झेलने पड़ें । ऐसे लोग धार्मिक ही नहीं धर्मावतार बनने का स्वांग भरते हैं । लेकिन ऐसा करने के लिये वे किसी सस्ते नुस्खे की तलाश करते है। त्याग और वैराग तो उनके वश की बात नहीं। वे इस बात को सोचते ही नहीं कि वास्तविक धार्मिक बनने के लिये, धर्म पथ पर चलने के लिये अपनी प्यारी से प्यारी इच्छाओं का बलिदान करना पड़ता है। सांसारिक मोह ममता का त्याग और विषय वासनाओं को विषवत् तिलांजलि देनी पड़ती है । सच्चा धर्म एवम् सुख निवृत्ति मार्ग में ही है। आप कहेंगे कि भगवान ने तो निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों ही मार्गों का उपदेश दिया है। परन्तु ऐसा कहते हुए आप यह भूल जाते हैं कि प्रवृत्ति मार्ग का अर्थ यह नहीं कि गृहस्थ(श्रावक)सांसारिक बन्धनों की ओर बढ़ता चला जाय। आप यदि गहरे उतर कर तह तक पहुँचने का प्रयत्न करें तो भली भांति जान जायगे कि निवृति और प्रवृत्ति-साधु और गृहस्थ-मार्ग परस्पर विरोधी नहीं हैं। परन्तु एक ही मंजिल पर पहुँचने की दो राहें हैं। अंतर केवल इतना ही है कि एक बिलकुल सीधी है और दूसरी कुछ घूमकर आती है। दोनों का उद्देश्य एक ही है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि भगवान ने गृहस्थ को १२ व्रतों का जो उपदेश दिया है उनमें भी निवृति की ओर झुकाव है न कि सांसारिक वासनाओं की ओर। भावना उनमें भी त्याग की ही है न कि भोग की। स्थान-स्थान पर उनमें अपनी इच्छाओं वासनाओं को सीमित एवम् मर्यादित करने का उपदेश है। खुलकर खेलने को कहीं भी नहीं कहा गया।

अस्तु! धर्म मोक्ष का मार्ग-त्याग में है न कि भोग में । संसार में यदि कहीं सुख का आभास किसी को मिलता है तो त्यागी को। भोगी तो सुख पा ही नहीं सकता। वह तो जो कुछ मिला हुआ है उसी पर सन्तुष्ट न होकर और अधिक पाने की लालसा से ही रात दिन परेशान रहता है। और अधिक पाकर भी और अधिक पाने की लालसा मिटती थोड़े ही है। वह तो मृग तृष्णा की भांति दौड़ाती ही रहती है, पीछा नहीं छोड़ती। अत धर्म प्राप्ति के लिये इनका त्याग करना ही होगा। सभी प्रकार की ममत्व भावना त्यागनी होगी, चाहे वह स्त्री पर हो या पुत्र पर। स्त्री पुत्रादि तो दूर की वस्तु रहे, धर्म के लिये तो अपने निजी शरीर पर से भी ममता उठा लेनी होगी। जभी तो आत्मा स्वयम् परमात्मा बन सकेगी। आपको यह कभी भी नहीं भूलना चाहिए कि ये सांसारिक विषय वासनायें, तरह तरह के ममत्व एक ऐसे लालच है, कुछ ऐसे गोरख धन्धे

हैं जो हमें हमारी मंजिल तक नहीं पहुंचने देते । हमें मार्ग में ही भटकाए रहते हैं।

सुनते हैं एटलान्टा नाम की एक स्त्री थी। उसने अपने इष्ट देव से यह वरदान पाया था कि वह दौड़ने में संसार में सब से तेज होगी। संसार में उसे कोई नहीं जीत सकेगा। एक समय एक बलवान् पुरुष के साथ एटलान्टा की दौड़ निश्चित हुई। वह पुरुष भलीभांति जानता था कि दौड़ में वह एटलान्टा को कभी नहीं जीत सकता। अतः उसने अपने इष्ट देव की स्तुति की और एटलान्टा को जीतने का उपाय पूछा। उसके इष्टदेव ने बताया कि एटलान्टा को जीतने का केवल एक ही उपाय है कि दौड़ के मार्ग में स्थान २ पर सोने की ईंटें बखेर दी जायें। उस पुरुष ने वैसा ही किया।

दोनों की दौड़ आरम्भ हुई। एटलान्टा बात की बात में आगे निकल गई। परन्तु सोने की ईंट देख कर रुक गई और ईंट उठाने लगी। उसने सोचा कि पुरुष तो अभी पीछे है। परन्तु जितने में उसने ठहर कर ईंट उठाई उतने में वह पुरुष दौड़ कर आगे निकल गया। एटलान्टा ने ईंट उठाई और फिर दौड़ कर उससे आगे चली गई। लेकिन उसने आगे फिर सोने की ईंट देखी और झुक कर उठाने लगी। पुरुष फिर आगे निकल गया। एटलान्टा ईंट उठा कर भागी और थोड़ी देर में आगे निकल गई। उसे वहां भी ईंट मिली और देखकर झुक गई। दौड़ के सारे रास्ते यही हाल रहा। कुछ देर बाद एटलान्टा की झोली ईंटों से भारी हो गई और उसे दौड़ना भी दूभर हो गया। पुरुष की अन्त में विजय हुई और शर्त के अनुसार एटलान्टा का उस पुरुष के साथ विवाह हुआ। फलतः सोना भी उसी का हुआ।

धर्म मार्ग पर दौड़ने में भी सर्वसाधारणकी दशा एटलान्टा की सी है। धर्म मार्ग पर चलते समय तरह २ की तृष्णा, लालसा और विषय वासनाएं आगे आ खड़ी होती हैं। उन्हीं के फेर में पड़कर संसारी स्त्री पुरुष भटक जाते हैं। मार्ग में ही ठहर जाते हैं। और संसार समुद्र में गोते खाने लगते हैं। विषय वासनाओं के बोझ से इतने दब जाते हैं कि फिर धर्म मार्ग पर चलना ही कठिन हो जाता है।

इसलिये धर्म प्रेमी बन्धुओ ! इन सांसारिक आकर्षणों से सावधान रहो। इनके चक्कर और जाल से बचो। सांसारिक सुख भोग और धर्म मार्ग दोनों

एक साथ नहीं चल सकते। दोनों की एक साथ प्राप्ति दो घोड़ों पर एक साथ सवारी लेने के समान असंभव है। इन्द्रिय जन्य सुखों की लालसा जिस समय करोगे उसी समय धर्म मार्ग से विचलित हो जाओगे। लोग मोक्ष का मार्ग पूछते हैं। परन्तु वे भूल जाते हैं कि मोक्ष की कुंजी तो उन्हीं के हाथ में है। मोह की बेड़ियों को काट दो। ईर्ष्या, घृणा, राग और द्वेष से नाता तोड़ लो तो बस मोक्ष के द्वार पर अपने को खड़ा पाओगे। पार जाने की इच्छा तो सभी करते हैं परन्तु मार्ग की कठिनाइयों को देखकर घबरा जाते हैं।

"चलो चलो सब कोई कहे पहुँचे बिरला कोइ।
एक कनक और कामिनी दुर्लभ घाटी दोइ॥"

कंचन और कामिनी की घाटी तथा राग, द्वेष को पार करने पर ही मुक्ति का सच्चा सुख, आत्मा का परम वैभव प्राप्त होता है। उसके लिये अन्य वस्तु ही नहीं अपने शरीर पर से भी ममत्व भावना हटानी पड़ती है। इसके लिये श्री खन्धक मुनि और श्री गजसुकुमाल जी हमारे आदर्श हैं। जिन्होंने अपने शरीर की किंचिन्मात्र भी परवाह न की।

परिग्रह हटादो। परिग्रह से अभिप्राय मूर्छा से है। गृहस्थावस्था में रहते हुए भी सांसारिक पदार्थों पर मोह न रक्खो। "मोह सकल व्याधिन कर मूला।" इस विषय में कमल से शिक्षा लो। वह कीचड़ पानी में पैदा होकर भी सदा उससे अलग रहता है। पानी के चढ़ियों चढ़ जाने पर भी कहते हैं वह भी उतना ही ऊपर हो जाता है परन्तु पानी में डूबता नहीं। आनन्द और पूणिया भी तो गृहस्थ थे। आप भी वैसे बन सकते हैं। इस विषय में जनक विदेह का जीवन भी अनुकरणीय है। उनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे गृहस्थ होते हुए भी उसके मोह और लालच से बहुत ऊंचे थे। वे एक बहुत बड़े राजा होते हुए भी ऐश्वर्य की ममत्व भावना की पहुंच से परे थे। सुनते हैं एक बार उनके इस गुण का प्रकरण किसी वन में कुछ तपस्वियों के बीच चल पड़ा। एक तपस्वी बोल उठा, यह कैसे सम्भव है कि एक गृहस्थी संसार के जाल से अलग रह सके? हम जगल में रहते हैं फिर भी संसार के आकर्षण का सदा भय लगा रहता है। जब उसके साथियों ने जनक के माया मोह से रहित होने का ही पक्ष लिया तब उसने जनक की परीक्षा लेने की ठानी और मिथिला के लिये चल पड़ा।

तपस्वी थे। कोई रोक टोक तो थी नहीं सीधे चले गए और रनवास में जा पहुंचे। वहाँ क्या देखते हैं कि जनक शैय्या पर लेटे हुए हैं। रानियाँ पैर दबा रही हैं। तपस्वी जी पहिले तो घबराये कि क्या करें? परन्तु साहस करके खड़े रहे। उधर राजा ने भी ताड़ लिया कि महाराज भरे हुए आए हैं। इसलिये आवभगत करने की बजाय ऐसा भाव दिखाया मानो उन्होंने देखा ही न हो। जब खड़े २ तपस्वी को बहुत देर हो गई तो राजा ने आश्चर्य का भाव दिखा कर कहा। पधारिये महाराज कैसे कष्ट किया? तपस्वीजी कुछ भी तो नहीं छिपा सके। अपना हृदय ज्यों का त्यों खुला किया और कहा राजन्, मुझे आश्चर्य है कि मैं वन में निवास करता हूँ। तपस्या भी कैसी बन पड़ती है करता हूँ, आहार पानी में भी पूरा २ ध्यान रखता हूँ फिर भी इन्द्रियों से डर लगा ही रहता है। और आप तो इस चकाचौंध में रहकर योगिराज और विदेह कहलाते हैं। बस इसी पहेली के बुझाने इसी गुत्थी को सुलझाने यहाँ तक चला आया हूँ। यह रहस्य मेरी समझ में तो नहीं आया। आप ही समझाइये!

राजा जनक ने विचार किया तपस्वी जी इस समय जोश में हैं। कोरे उपदेश से नहीं समझेंगे। इसलिये कहा तपस्वी जी! इस समय तो आप थककर आए हैं। कुछ विश्राम कीजिये। आहार पानी से आप निश्चिन्त होलें फिर समझाने का यत्न करूंगा। इसी बीच में राजा ने बाज़ारों में स्थान २ पर गाने बजाने और खेल तमाशों का प्रबन्ध करा दिया। तपस्वी को कहाँ चैन था, आहार पानी से जल्दी ही निबट कर शीघ्र ही फिर राजा के पास आ पहुंचे।

राजा ने एक कटोरा दूध से लबालब भर कर तपस्वी के दोनो हाथों पर रख दिया और कहा देखिये तपस्वी जी आपको समस्त नगर का चक्कर लगाकर वापिस आना है। मेरे दो आदमी नंगी तलवार लेकर आपके पीछे २ चलेंगे आपके शरीर रक्षक के रूप में नहीं अपितु इसलिये कि जहाँ भी एक बूंद दूध की गिरेगी वहीं आपका सिर धड़ से अलग कर देंगे। इसलिये सावधान रहिये कि एक भी बूंद नीचे न गिरने पाये।

तपस्वी जी कटोरे को दोनों हाथों पर रखकर धीरे २ सुन्दर बाज़ारों में होकर चलने लगे। अब आप अच्छी तरह अनुमान कर सकते हैं कि उनके कदम

किस तरह पड़ रहे होंगे। बड़ी कठिनाई से एक २ पैर रखते हुए वे सध्या समय तक वापिस पहुँचे और कटोरे को वापिस राजा के हाथ में सौंपते हुए उन्होंने चैन की सांस ली। राजा से बोले, काम तो आपने बड़ा कठिन दिया था, पग पग पर जीवन की चिन्ता थी। बस रास्ते भर यही लगारहा कि अब छूट गिरी, अब गिरी। बड़ी सावधानी से यहाँ तक आपाया हूँ। अब यह सब तो हुआ, मेरे प्रश्न का उत्तर तो दीजिये। राजा बोले तपस्विन! धैर्य रखिये, अभी मिला जाता है। पहिले आप यह तो बताइये कि अमुक बाज़ार में क्या होरहा था और अमुक चौक में क्या? तपस्वी जी अब के कुछ मुस्कराए। कहने लगे राजन्, क्यों भोले बनते हो? मुझे भला इस कटोरे को छोड़कर किसी अन्य नाच रग का ध्यान हो सकता था? मेरा तो सभी ध्यान इसी में केन्द्रित था। मैं जानता था कि इससे ध्यान हटते ही मेरे जीवन की समाप्ति हो जायगी। राजा ने कहा बस यही ठीक मेरी भी दशा है। आपकी तरह मेरा ध्यान भी धर्म रूप कटोरे पर केन्द्रित रहता है। ससार के राग रगों में रहते हुए भी मैं उनसे आपकी तरह ही दूर हूँ और जानता हूं कि उनकी ओर तनिक भी अभिमुख होने से मेरे जीवन का पतन होजायगा।

धर्म स्नेही बन्धुओ! इसी प्रकार आपको भी गृहस्थ धर्म का पालन करना चाहिए। जीवन एक ऐसी लम्बी ऊ ची परन्तु सकरी किले की दीवार के समान है जिसके दोनों ओर माया, मोहरूप गहरी खाइयाँ हैं। यदि उन खाइयों की ओर से हटकर सीधे चले जाओगे तो अवश्य पार पहुँच जाओगे। परन्तु जहाँ एक बार नीचे गिरे, राग द्वेष के फेर में पड़े कि फिर ऊपर आना असभव नहीं तो कठिन अवश्य है। जगत् को वही समझो, जो कुछ वह है। याद रखिये न जाने कितने बड़े बड़े यहाँ पैदा हो चुके हैं परन्तु ससार वैसे का वैसा ही रहा। इसे अपना समझना भूल है। यह अपना हो भी तो नहीं सकता। यहाँ का सम्बन्ध स्वार्थ की नींव पर बना हुआ है, स्वार्थ सधते ही सम्बन्ध भी नष्ट हो जाता है। जिन्हें आप अपना समझ रहे हैं वे अन्त समय में या अन्त समय तक साथ नहीं देंगे। धर्म ही आड़े समय में सहायक होगा। इस विषय में तीन मित्रों का उदाहरण पहिले दे आये हैं।

७

साधु

भारतवर्ष अपने अध्यात्मवाद के लिये प्रसिद्ध है। संसार उसकी उन लोगों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता है जो उसने आत्मा और लोक परलोक के विषय में की हैं। माना कि यूरोप ने उस मुर्गे की तरह जो घूरे के ढेर को कुरेद २ कर दाने ढूंढने में लगा रहता है और दो चार दाने पाकर फूला नहीं समाता कुछ भौतिक आविष्कार किये हैं और उन्हीं के ऊपर फूल रहा है। परन्तु थोड़े से विचार करने से ही आप इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि उन भौतिक आविष्कारों ने आत्मा को उसके लक्ष्य से बहुत दूर पटक दिया है। आत्मा का चरम लक्ष्य संसार के दुःखों से पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना है। पूर्व और पश्चिम की संस्कृति में यही तो अन्तर है। पश्चिम इसी जगत् को सुखमय बनाने की धुन में है जैसे रेत में से तेल निकालने ही हम चैना। इसके विपरीत पूरब सदा से इस जगत् को हेय समझता आ रहा है। जगत् को सुखमय बनाने का प्रयत्न बालू से तेल निकालने के प्रयत्न से किसी भी तरह भिन्न नहीं। इसलिये ही भारतीय संस्कृति ने दोनों ही मार्गों—साधु एवं गृहस्थ—में इस संसार के संसर्ग को यथा संभव कम करने का विधान किया है। संसार में वास्तविक सुख तो कहीं भी संभव नहीं। लोगों ने अनादि काल से भोगों को भी भोगकर देख लिया है। उनमें सदा रोगों का भय बना रहता है। वे भोगों को क्या भोगते हैं, आप ही उन्हें भुगत लेते हैं। ऊँचे ऊँचे पद से भी कोई स्थायी सुख नहीं मिल सकता। रावण का कुल कितना बड़ा था परन्तु उसका भी पता तक नहीं है। रही धन से सुख की आशा सो भी दुराशामात्र है। वह धन नयी २ व्याधियों को जन्म देता है। एक बार गुरु नानक किसी जंगल में होकर कहीं जा रहे थे। साथ में कुछ गृहस्थ लोग भी थे। उनमें से एक ने गुरु नानक से कहा, महाराज! डर लग रहा है। गुरु नानक ने कहा भाई, डर वाली वस्तु को फेंक दो। वह पुरुष बोला, महाराज डर वाली वस्तु मेरे पास तो कोई नहीं है। देखने पर पता

चला कि बगल में सोने की एक ईंट दबाए हुए था।

कहने का अभिप्राय यह है कि धन भी स्थायी आत्मिक सुख का साधन नहीं है। और नहीं तो चोर और राजा का ही भय लगा रहता है। ससार में रहकर कोई शान्ति से रहना चाहे तो लोग उसे कायर बताने लगते हैं, हर बात में कोई न कोई भय लगा ही रहता है। सुन्दर शरीर मिलने पर रोग, बुढापे और मृत्यु का ही भय लगा रहता है। यही सबकुछ देखकर तो भगवान ने कहा है —

नवी सुही देवता लोए, नवी सुही पुढवी—पई राया।
नवी सुही सेट्ठ सेनावई य एगन्त सुहा साहू वीयरागी॥

इसी का समर्थन भर्तृहरि ने भी किया है —

'भोगे रोगभय कुले च्युतिभय वित्ते नृपालाद्भयम्,
मौने दैन्य भय बले रिपुभय रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभय काये कृतान्ताद्भयम्,
सर्व वस्तु भयान्वित भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

यह आप लोग देखते हैं कि ससार में हमारी प्रत्येक प्यारी से प्यारी वस्तु एक न एक दिन हमें छोड़ देती है। फिर इसमें क्या बुद्धिमत्ता है कि हम उनके द्वारा छोड़े जाने की विडम्बना को अपनी आँखों से देखते रहें। क्यों नहीं आगे बढ़ कर हमीं उन्हें त्यागते? जब कोई वस्तु बलात् किसी से छीनी जाती है तो उसे अवश्य उसका दु ख होता है, परन्तु अपनी खुशी से त्यागी हुई चीज़ का दु ख नहीं अपितु सुख ही होता है। परन्तु यहाँ, ससारी मनुष्य तो अन्त तक उनसे चिपके रहना चाहते हैं। उनकी तो यही सोचते २ सारी जिन्दगी व्यतीत हो जाती है कि अभी क्या जल्दी है। अभी तो युवावस्था है। कुछ इसके रँग-ढँग देखलें। बुढापे में और क्या काम होगा। बस फिर तो धर्माराधन ही करेंगे। परन्तु उन भोले जीवों को इतना भी पता नहीं कि अगली साँस आयेगी भी या नहीं? और यदि बुढ़ापा आया भी तो इससे क्या? बुढापे में अपना शरीर तो सधता नहीं, भला धर्म ध्यान क्या होगा? उनकी तो उस भौंरे की सी दशा है जो सध्या समय कमल के ऊपर बैठा है। मन्द २ सुगन्धि से मोहित होकर विचार कर रहा है, क्या जल्दी है, थोड़ा और सुगन्धि का आनन्द उठा लो, थोड़ी देर में उड़ चलेंगे। परन्तु

थोड़ी देर में सूर्य छिपने से कमल का फूल बन्द हो जाता है। भौंरा फिर भी नहीं विचारता है, क्या बात है ? हो जाने दो बन्द। सुबह तो होगा ही। सूर्य भी निकलेगा ही। फूल भी खिलेगा। उस समय उड़ जायेंगे। परन्तु वह अज्ञानी क्या जानता है कि अब उसके लिये इनमें से कुछ भी नहीं होगा। इतने में एक हाथी आजाता है और अपनी सूंड से उस फूल को जड़ में से उखाड़ कर खा जाता है। इन्हीं भावों का शब्द चित्र भर्तृहरि ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में खींचा है :—

> 'रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
> भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
> इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
> हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥

बस ऐसी ही उधेड़ बुन में मनुष्य लगा रहता है कि अन्त में मृत्यु आकर घेर दबाती है। उसे आत्म कल्याण का अवसर ही नहीं मिल पाता।

यही सब कुछ देखकर भगवान् महावीर स्वामी ने आत्म कल्याण के लिये साधुवृत्ति और गृहस्थ धर्म का उपदेश दिया था। जिससे मनुष्य यथा शक्ति किसी एक पर चलकर अपनी आत्मा का उद्धार करें। वैसे सभी सम्प्रदायों ने इन दोनों मार्गों का विधान किया है। कोई समय था जब संसार ज्ञान के प्रकाश के लिये भारत के साधुओं का मुख जोहता था। वास्तव में उन्होंने संसार को शान्ति का पाठ पढ़ाया था। संसार के बड़े २ महात्माओं ने उनके चरणों में बैठ कर जगत् के रहस्य तथा आत्मा और परलोक के रहस्य को समझाया। आधे से अधिक संसार जिस महात्मा ईसा का आज अनुयायी है उसने सुनते हैं इसी भारत के साधुओं के चरणों में बैठ कर अपना आध्यात्मिक पाठ पढ़ा था। कश्मीर में इस बात के प्रमाण मिलते हैं।

समय ने पलटा खाया गुरु चेले बन गये। जो बड़े २ सम्राटों को लात मार देते थे वे ही छोटे-छोटे मठों और जमघटों के पीछे लड़ने भगड़ने और न्यायालयों में पुकार करने लगे। साधु-वेश आसानी से पेट भरने का साधन मात्र रह गया। यहीं की ओट में शिकार खेले जाने लगे। साधु की जगह लोग स्वादु बन गये। सुनी सुनाई दो चार ज्ञान की बातें सुना कर भोले और मूर्खों में ही अध्यात्म वाद को फूँक दिया गया। परन्तु इस अन्धकार के समय में भी प्रकाश की एक रेखा जगमगाती रही और अब भी चमक रही है।

वह प्रकाश रेखा जैन साधु हैं। समार उनके आचरण और वृत्ति का लोहा मान चुका है। वे अखिल जगत् के साधुओं के लिये आदर्श हैं। समय को देखते हुए उनमें अब भी ऐसा चारित्र है जिसे देखकर संसार दान्तों तले उगली दबाये बिना नहीं रह सकता। इसका कारण है कि भगवान् श्री महावीर स्वामी ने जैन साधुओं के लिये एक ऐसे सुव्यवस्थित तथा सगठित आचार का उपदेश दिया था, जिससे थोड़ा सा भी स्खलित होने पर स्खलित होने वाले का शीघ्र ही पता चल जाता है और उसको दूध में से मक्खी के समान सघ में से निकाला जा सकता है। जैसे एक सड़ा पान दूसरे पानों को भी सड़ा देता है वैसे उसे अन्य साधु वर्ग को स्खलित करने का अवसर ही नहीं दिया जाता। इसी कारण भगवान् ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चारों तीर्थों का पारस्परिक सहयोग सम्बन्ध स्थापित किया था। उनकी पृथक् २ इकाइयों के रूप में स्थापना नहीं की।

जैन साधु के चार नाम एवं उनकी व्याख्या

श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ वें अध्याय में भगवान् ने साधु के चार नाम कहे हैं—माहण, श्रमण, भिक्षु एव निर्ग्रन्थ। वहीं पर इन सब नामों की व्याख्या भी दी हुई है। [1]माहण—जो सब प्रकार के पापों से तथा राग, द्वेष, कलह, कलक, चुगली, निन्दा, क्रोध, कपट, मिथ्या दर्शन, शल्य से रहित होते हैं। जो पाँच समिति के पालने वाले तथा सदा ही छः काय के जीवों की रक्षा करते हैं, वे माहण कहलाते हैं। जो[2] माहण के गुणों से तो युक्त हों ही, इसके अतिरिक्त जो चेत्र और गृहस्थ के

---

[1] अहाह भगवं एव—से दते दविए, वोसट्ठकाए वुच्चे माहणेति वा, समणेत्तिवा भिक्खूत्ति वा, णिगथेत्ति वा, त नो बूही महामुणि —

इति विरए सव्व पाव कम्मेहिं—पिज्ज, दोस, कलह, अभक्खाण, पेसुन, परपरिवाय, अरति, रति, मायामोसा, मिच्छादसण सल्ल विरए, समिए सहिय, सयाजए, णोकुजे णोमाणी, माहणेति वुच्चे।

[2] "एत्थवि समणे अणिस्सए, अणियाणे, आदाण च, अतिवाय च, मुसावाय च, अहिद्ध च, कोह च, माण च, लोहं च, पिज्ज च, दोसच, इच्चेव जओ जओ आदाण अप्पणो पद्देसे हेउ, तओ आदाणातो पुव्व पडि विरते, पणाइ वायाए, दते दवीए, वोसट्ठ काए समणेति वुच्चे।"

बन्धन से बहुत ऊपर उठ कर विहार करते हों तथा जो तप और संयम को निष्काम पालते हों अहंकार रूप में क्रोध मान माया और लोभ जिनको छू तक नहीं गया हो जो शान्त स्वभावी हों हिंसा, झूठ चोरी को जिन्होंने अनर्थ का कारण जानकर त्याग दिया हो इसके अतिरिक्त अन्य बन्धन कारकों को भी जिन्होंने त्याग दिया हो जो दमितेन्द्रिय और मुमुक्षु हों वे श्रमण कहलाते हैं। जो [1]निरभिमान विनयशील ममत्वहीन जितेन्द्रिय मोक्षाभिलाषी २२ परीषह तथा देव मनुष्य और तिर्यञ्चकृत उपसर्गों को सहने वाले सभी प्रकार के पौद्गलिक संसर्ग से रहित अध्यात्म योगी दृढ़ परिणामी चारित्रवान संयमी और दूसरे के लिये किया हुआ तथा दूसरे द्वारा दिया हुआ भोजन करने वाले 'भिक्षु' कहलाते हैं।

निर्ग्रन्थ

जो अपने पराये की भावना से बहुत ऊँचे उठे हुए होते हैं तत्त्व विशारद पाँच समिति के पालनकर्ता मान अपमान में समान भाव रखने वाले धर्म के रहस्य के ज्ञाता निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

५ महाव्रत

पाँच महाव्रतों में सबसे पहिला अहिंसा महाव्रत है। इसके अनुसार साधु सर्वथा प्रकार से हिंसा का त्याग करते हैं। वे मन वचन और कर्म से न स्वयं हिंसा करते हैं न दूसरे से कराते हैं न हिंसा करने वाले किसी अन्य व्यक्ति का अनुमोदन ही करते हैं। उनका सम्पूर्ण जीवन अहिंसामय होता है। वे इस विषय में संसार के लिए आदर्श हैं। इससे अधिक अहिंसा के पालन के लिए और क्या किया जा सकता है कि वे ऐसे जीवों की रक्षा के लिए जो बहुत ही सूक्ष्म होते हैं और वायु-मण्डल में रहते हैं मुख की विराध

---

[1]एत्थवि भिक्खू अणुन्नए, विणीए नामए दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्प जोग सुद्धादाणे उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए, परदत्त भोई भिक्खूत्ति वुच्चे

[2]एत्थवि णिग्गंथे—एगे एग विऊ, बुद्धे संछिन्न सोए सुसंजए सुसमिए सुसामाइए आयवायपत्ते विऊ दुहओवि सोयपलिछिन्ने णो पूयासक्कार लाभट्ठी धम्मट्ठी धम्मविऊ, णियाग पडिवन्ने समियंचरे दंते दविए वोसट्ठकाए, निग्गंथेत्ति वुच्चे

वायु से मर जाते हैं, अपने मुख पर एक मुख वस्त्रिका का प्रयोग करते हैं।

सत्य महाव्रत के अनुसार मन, वचन और कर्म से किसी भी प्रकार का असत्य भाषण नहीं करते। न किसी तरह का सावद्य वचन ही बोलते हैं। वे अत्यन्त मितभाषी होते हैं। जो भी कुछ बोलते हैं, सर्व-हितकारी होता है। उनके प्रत्येक वचन से स्वपर कल्याणकारी भावना टपकती है। अविचार, क्रोध, लोभ, भय और हँसी असत्य भाषण के कारण हैं। मनुष्य इन्हीं के कारण से झूठ बोलता है। परन्तु साधु इन सभी कारणों से बचते रहते हैं।

साधुओं के तीसरे महाव्रत में साधु द्वारा सर्वथा प्रकार की चोरी के त्याग का विधान है। वे बिना स्वामी की आज्ञा के अचित्त मिट्टी भी नहीं ले सकते। यहाँ पर शायद आप सोचें कि यदि साधु जगल में चला जा रहा है। उसे मिट्टी की आवश्यकता होती है। तो वह मिट्टी भी नहीं ले सकता। क्योंकि जगल का स्वामी राजा तो वहाँ उपस्थित नहीं। और एक ऐसी साधारण सी वस्तु के लिए राजा की वहाँ उपस्थिति या उसकी उपस्थिति का इन्तजार करना उपहासास्पद है। ऐसे प्रसग के उपस्थित होने पर शास्त्रों में शक्रेन्द्र से आज्ञा लेने का विधान है। अभिप्राय यह है कि बिना आज्ञा के उन्हें किसी भी वस्तु को ग्रहण करने की आज्ञा नहीं है। व्रतों के प्रत्येक पहलू में सावधान होने की आवश्यकता है। तनिक सी ढील किसी भारी अनर्थ का कारण बन सकती है। आप लोगों ने देखा होगा कि तम्बू की प्रत्येक रस्सी खूँटे से कस कर बाँधी जाती है। किसी एक के भी थोड़ी-सी ढीली रह जाने से तम्बू में पानी आ जाने की सम्भावना बनी रहती है।

चौथे महाव्रत ब्रह्मचर्य के द्वारा मानसिक, वाचिक, कायिक व्रत कृत, कारित और अनुमोदित सभी प्रकार के कुशील से निवृत्त रहने की आज्ञा दी गई है। यह महान् कठिन व्रत है। इसके भग होने से सभी व्रत खण्डित हो जाते हैं। अत. इसकी रक्षा के लिये नौ प्रकार की बाढ़ (रोक थाम) का शास्त्रों में विधान किया गया है। उन सभी ससर्गों से बचने की आज्ञा दी गई है जिनसे मैथुन की इच्छा भी उत्पन्न होने की आशका हो[1]।

साधु का पाँचवाँ महाव्रत अपरिग्रह है। इसके द्वारा किसी भी वस्तु,

---

[1] "मूल मेयमहम्मस्स, महादोस समुस्सय
तम्हा मेहुण ससग्ग, निग्गथा वज्जयन्ति ण" (दश० ६ अ० गा० १७)

यहाँ तक कि अपने शरीर पर भी ममत्व भाव न रखने का विधान किया गया है। वस्त्र पात्र रजोहरणादि जो भी कुछ उपकरण वे रखते हैं सब संयम के सुचारु रूप पालन के निमित्त रखते हैं। उन पर मोह रखना या अपनेपन की भावना लाना या उन उपकरणों के खोये जाने पर दुःख मानना ही परिग्रह है। शास्त्रों में भी परिग्रह की यही व्याख्या की गई है[1]। इन गुणों के अतिरिक्त भी पाँच समिति तीन गुप्ति तथा बाईस परीषह के जीतने आदि का भी विशद विवेचन शास्त्रों में किया गया है जिन सबका वर्णन इस छोटे से व्याख्यान में सम्भव नहीं। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि चारित्र आचार विचार के विषय में जैन साधु संसार के साधुओं के लिए आदर्श हैं। आजकल के इस गये बीते कलिकाल में भी वे अपने उन्हीं उच्च आदर्शों को अपनाये हुए हैं। चाहे उनकी संख्या कितनी ही कम हो परन्तु उन्होंने चारित्र का मान रत्ती कम नहीं किया है।

---

[1] "जं पि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं
तं पि संजम लज्जट्ठा धारंति परिहरंति य।
न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा"

(दशवैकालिक अ ६ गा २ २१)

: २

अहिंसा

जगत का प्रत्येक प्राणी सुख की तलाश में है। वह सुख चाहता है। दु:ख के तो नाम से भी उसे चिढ़ है। यह नहीं कि किसी खास स्थिति या स्तर के ही प्राणी सुखी रहना चाहते हों। जो जहाँ जिस स्थिति में है, वह वहीं, उसी स्थिति में सुखी बनने की धुन में है। लोग इसके लिये धन कमाते हैं। बड़े २ महल खड़े करते हैं। ऐश्वर्य के सभी सामान जुटाते हैं। अभी जुटा के चुके ही थे; विचार रहे थे चलो अब सुखी हो जायंगे, ऐश करेंगे कि मौत ने आ दबोचा, या अन्धे ही होगए, कोढ़ फूट निकला। सारे अरमान पानी में मिल गए। कुछ सुख की तलाश में सन्तान उत्पन्न करते हैं, चलो वृद्धावस्था में हमारी सेवा करेगी। या तो बुढ़ापे में जवान पुत्रों की मौत होजाती है या फिर सन्तान ही ऐसी निकल आती है कि बुढ़ापे में सेवा के स्थान पर धक्के देकर घर से बाहर निकाल देती है। कहने का अभिप्राय है कि मनुष्य सुख के लिये जो कुछ करता है उसी से दु:ख मिलता है। और जिसको जीव सुख समझ बैठता है, उसका अन्त भी दु:खमय होता है। वह भी शहद लगी हुई छुरी के समान है। वह बीमारी का कोई स्थायी इलाज नहीं है। वह तो ऐसे ही है, जैसे किसी डाक्टर ने शूल के दर्द की कोई ऐसी दवा दे दी जिससे उस क्षण तो दर्द में कुछ चैन मालुम पड़ा, परन्तु कुछ ही समय बाद दर्द फिर दूने वेग से उठ खड़ा हुआ। मेरी समझ में इस दु:ख रूप व्याधि का ऐसा इलाज तो कोई भी नहीं चाहेगा। प्रत्येक व्यक्ति स्थायी इलाज ही पसन्द करेगा चाहे फिर उसके लिये कुछ भी बलिदान क्यों न करना पड़े।

इस दु:ख के रोग का स्थायी रूप से इलाज करने वाले वैद्यराज भी होगए हैं और इसका नुस्खा तथा पथ्य भी हमें बता गए हैं, जिससे फिर कभी दु:ख में नहीं पड़ना पड़ता। भगवान श्री महावीर स्वामी ने इसका स्थायी इलाज मुक्ति बतलाया है। मुक्ति के अतिरिक्त और सब इलाज चलाऊ हैं, क्षणिक हैं।

अतः मुक्ति का मार्ग है सम्यग्दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र[1]। यह और ध्यान में रखना चाहिये कि ये तीनों तीन मार्ग नहीं हैं अपितु इन तीनों को मिला कर एक मोक्ष का रास्ता बनता है। कर्मों के पूर्णतया नष्ट हो जाने को मोक्ष कहते हैं[2]। जिस शक्ति के विकास से तत्त्व का निश्चय होता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। या यों कहना चाहिये कि यथा तथ्य रूप से पदार्थों का निश्चय करने की अभिरुचि सम्यग्दर्शन है[3]। नय और प्रमाणों द्वारा जीवादिक नव पदार्थों का जो यथार्थ निश्चय होता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक हिंसादि दोषों का त्याग तथा अहिंसादि व्रतों का अनुष्ठान सम्यक् चारित्र कहलाता है। इन तीनों के पूर्णतया प्राप्त होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। अन्यथा नहीं। चारित्र का भी भगवान ने दो प्रकार से प्रवचन किया है—देश विरति और सर्व विरति[4]। सर्व विरति का वर्णन मैं कर चुका हूँ। यहाँ संक्षेप में देश विरति के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ।

गृहस्थी, जिसे जैन शास्त्रों में श्रावक के नाम से पुकारा गया है के जीवन को सुचारु सुव्यवस्थित एवं मर्यादित तथा सामाजिक बनाने के लिये भगवान श्री महावीर स्वामी ने बारह व्रतों का उपदेश दिया है। पाँच अणु व्रत तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत इस प्रकार श्रावक एवं श्राविका के १२ व्रत हैं। इन बारह व्रतों के सावधानता पालन करने से भी जीव यथाविकास जगत के जन्म जरा और मरण से छुटकारा पा सकता है। देश विरति के जो पाँच अणु व्रत हैं वे ही सर्व विरति के पाँच महा व्रत कहलाते हैं। महा व्रतों के विषय में कहा जा चुका है। पाँच अणुव्रतों में महा व्रत की तरह ही अहिंसाणुव्रत पहिला

---

1 सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः (तत्त्वार्थसूत्र १.१)

2 कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः।

3 तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। (तत्त्वार्थ सूत्र १.२)

4 [illegible] सर्वथानविरतानाम्।

[illegible] (पुरुषार्थ [illegible])

है। अणु व्रत का अर्थ है छोटा व्रत। अर्थात् अणु व्रत महाव्रतों की अपेक्षा छोटे या स्थूल होते[1] हैं।

अहिंसा का मार्ग जितना सीधा दिखाई देता है वास्तव में वह उतना सीधा नहीं है। वह तलवार की धार के समान है। नट जैसे बड़ी सावधानी एव शरीर को साधकर रस्सी पर नृत्य करता है, थोड़ी सी असावधानी होने पर नीचे गिरने की आशका बनी रहती है। ठीक ऐसा ही वरन इससे भी कठिन मार्ग अहिंसा का है। थोड़ा चूकने पर भी पतन की आशका बनी रहती है। यही कारण है कि जैन शास्त्रों में अहिंसा का बड़ा सूक्ष्म विवेचन मिलता है। वैसे तो जगत् के सभी सम्प्रदायों ने अहिंसा को अपनाने का दावा किया है, उसकी उपादेयता के विषय में भी बहुत कुछ कहा सुना है। परन्तु जिस विस्तृत और मनोवैज्ञानिक रूप में जैन धर्म ने इसका प्रवचन किया है, ससार ने मुक्त कठ से उसकी सराहना की है और जैन धर्म का लोहा माना है। जैन शास्त्रों में प्रत्येक पहलू से हमें अहिंसा की चरमकोटि के दर्शन होते हैं। यह नहीं कि केवल लिखा ही लिखा हो। अनेक जैन महात्माओं एव तीर्थकरों ने उसको क्रियात्मक करके दिखा दिया है। दूसरी सम्प्रदायों ने केवल जबानी जमाखर्च से ही काम लिया है। उन सम्प्रदायों ने केवल कायिक हिंसा न करने पर ही जोर दिया है और उसमें भी केवल मनुष्यमात्र पर ही अधिक जोर दिया है। परन्तु जैन धर्म में तो वाचिक एव मानसिक तथा काया से हिंसा न करने का भी उपदेश दिया गया है। वह केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं उसका क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। उसमें प्राणिमात्र की रक्षा का विधान है। चाहे फिर वह कितना भी स्थूल एव सूक्ष्म क्यों न हो। चाहे एकेन्द्रिय हो, चाहे पचेन्द्रिय।

किसी तथ्य को, उसके असली रूप को उसकी पूर्ण गहराई तक जाने बिना उसके विषय में अपनी राय बना लेना कितना अनर्थकर है, यह बात कुछ लोगों की उस भ्रान्त सम्मति से भली भांति जानी जा सकती है, जो उन्होंने जैन धर्म की अहिंसा के विषय में बनाली है। कुछ अपरिपक्व बुद्धि

---

१ "प्राणातिपात वितथ व्याहार स्तेय काम मूर्च्छेभ्य ।
स्थूलेभ्य पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रत भवति ॥
(रत्न कारण्ड श्रावका चार, परिच्छेद ३ श्लोक ६)

वाले मनुष्यों में कई प्रकार की भ्रान्त धारणाएं पाई जाती हैं। कोई कहता है कि जैनियों की अहिंसा तो अव्यवहार्य है। उसे क्रियात्मक रूप नहीं दिया जा सकता। किसी का कहना है कि जैनियों की अहिंसा ने लोगों को कायर बना दिया है। कोई २ तो और भी आगे बढ़ जाता है और भारत की पराधीनता को ही जैनियों की अहिंसा के मत्थे मढ़ देता है। भला इससे भी अधिक सचाई का गला घोंटा जा सकता है? जैसे पराधीनता और अहिंसा में भी धुएं और अग्नि के समान कोई कार्यकारण भाव हो। यह खूब रहा! बन्दर की बला तबेले पर डाल दी गई। मनुष्य पक्षपात में आकर कितना विवेकशून्य और अन्धा बन जाता है इस बात का इससे अधिक उचित प्रमाण नहीं मिल सकता कि भारत की पराधीनता का कारण जैन अहिंसा बता दिया जाय। भोले लोगों को इतना बोध भी नहीं कि भारत पराधीन क्यों हुआ? भारत की पराधीनता का मुख्य कारण था भगवान महावीर के संदेश को भुलाकर हिंसा स्वार्थ एवं पारस्परिक फूट का होना।

कोई भी विचारवान् मनुष्य इस बात को भलीभांति समझ सकता है कि जब लोग स्वार्थ से अन्धे बन कर छोटे २ प्रदेश को हड़पकर वहीं के सर्व सत्ता स्वतन्त्र राजा बन बैठे; केन्द्रीय शक्ति को शिथिल कर दिया। इतना ही नहीं कुछ स्वार्थान्ध तो विदेशियों को भारत पर आक्रमण करने का न्योता देने में भी नहीं लजाये। भारत पराधीन हो गया। यह वह समय था जब लोगों ने वीरता की परिभाषा ही आपस में एक दूसरे का गला घोंटना बना ली थी। तथा कथित दो वीर कहीं बैठे थे। एक ने दूसरे से कहा भाई अबके तो हम ईख बोयेंगे।

दूसरा—हम तो एक भैंस लायेंगे।

पहिला— भैंस तो लाओगे। ध्यान रखना कहीं वह हमारी ईख में न चली जाय?

दूसरा – भाई, भैंस कोई आदमी तो है नहीं वह तो जानवर है तुम्हारी ईख में भी जा सकती है।

पहिला—वाह ईख में क्यों जायगी, हम उसकी टांग नहीं तोड़ देंगे?

दूसरा—बहुत देखे हैं टांग तोड़ने वाले।

पहिला—तो लो देखो हमने ईख बोदी। यह कहकर उसने पृथ्वी पर उंगली से एक काल्पनिक खेत बना दिया।

दूसरा—तो लो हमारी भी भैंस उसमें घुस गई। यह कहकर उसने एक ककड़ी उठाई और उस काल्पनिक खेत में फेंक दी।

फिर क्या था, खिंच गईं तलवारें। दोनों पक्ष के तथा कथित वीर एकत्रित होगए। खून की नदी बह निकली, जिसमें वह खेत और भैंस भी वह गए। सैंकड़ों कट मरे।

यह मूर्खता तथा आपस की फूट थी जिसने भारत को पराधीन बना दिया। भारत ही अकेला क्यों, इस राक्षसी ने जहाँ भी पैर रक्खे वही राष्ट्र वीरान बन गया। अहिंसा से भारत पराधीन नहीं हुआ अपितु पारस्परिक फूट, हिंसा, द्वेष और अज्ञान के कारण ही पराधीन हुआ। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अहिंसा के पुजारी सम्राट चन्द्रगुप्त, अशोक, श्री हर्ष के समय में भारत में कोई विदेशी फटकने भी नहीं पाया। अहिंसा धर्म का पालन करने वाले राष्ट्रकूट वंशीय अमोघवर्ष और गुजरात के चालुक्य वंशीय प्रजापति कुमारपाल ने क्या किसी विदेशी के पैर यहाँ टिकने दिये? क्या श्रावक व्रत धारी सम्राट खारवेल की करारी करवाल के तेज पानी को और उससे होने वाली अपनी रक्षा को भारत कभी भुला सकेगा? कभी नहीं। इतना ही नहीं, इन अहिंसावादी राजाओं के काल में भारत अपनी उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँचा हुआ था। जब अभाग्यवश राज्य की बागडोर हिंसक, कायर, मूर्ख और लोलुपी लोगों के हाथ में आई भारत का पतन प्रारम्भ हो गया।

अहिंसा के विषय में लोगों की दूसरी भ्रान्त धारणा है कि जैनियों की अहिंसा तो अव्यवहार्य है। उसका क्रियात्मक महत्त्व नहीं। उसका पालन करना असम्भव है। यदि उसका कोई पालन करने का प्रयत्न भी करे तो वह संसार का और कोई कार्य यहाँ तक कि देश की रक्षा भी नहीं कर सकता इत्यादि। इस विषय में भी मेरा यही कहना है कि ऐसा कहने वालों ने अहिंसा के स्वरूप को ही नहीं समझा है। जहाँ तक जैन अहिंसा के अव्यवहार्य होने का प्रश्न है, जैन श्रावकों के चरित्र प्रमाण हैं कि उन्होंने अकेले अहिंसा नहीं, अपितु पूरे बारह व्रतों का पालन करते हुए संसार के सभी कामों को सफलता-पूर्वक सम्पन्न किया। संसार के काम टटपूँजिये के रूप में नहीं अपितु हजारों गाय, हजारों नौकर यहाँ तक जितने भूभाग का अभी भूगोल विद्या विशारद पता भी नहीं चला सके हैं, उतने भूभाग का पालन और शासन करते हुए। फिर भी पता नहीं लोग क्यों जैन अहिंसा को अव्यवहार्य बताने का

दुस्साहस करते हैं ! यहाँ पर हिंसा और अहिंसा का स्वरूप एवं उसका भेद समझा देना मैं आवश्यक समझता हूं। हिंसा शब्द 'हिंसि' धातु से बना है जिसका अर्थ है हनन करना मारना। परन्तु मारने में भी भावना देखी जाती है। एक पतंगा अग्नि में गिरना चाहता है। आप उसको बचाने की भावना से यत्न पूर्वक पकड़ कर हटाते हैं। परन्तु ऐसा करने से वह मर जाता है तो क्या आपका वह कार्य हिंसा समझा जायगा ? कदापि नहीं। वह तो दूर रहा एक गृहस्थी तो आरम्भ से होने वाली हिंसा का भी पूर्ण त्याग नहीं कर सकता। हाँ वह यथा शक्ति उससे बचने का प्रयत्न अवश्य करता है। विद्वानों ने हिंसा का लक्षण 'प्रमत्त योगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा' अर्थात् प्रमाद वश प्राणियों का घात करना बताया है। और मन वचन कर्म से किसी भी प्राणी का स्वयं घात न करना, न दूसरे से करवाना तथा घात करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करना अहिंसा कहलाता है। जैसे आपको सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय वैसे ही दूसरे प्राणियों को भी है। जैसे आप मृत्यु से डरते हैं और जीवित रहना चाहते हैं वही दशा अन्य प्राणियों की भी है। श्री महावीर स्वामी ने भी हमें यही उपदेश दिया है कि सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं उनको अपने प्राण प्यारे हैं, वे सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। अतःएव किसी को भी नहीं सताना चाहिए।

सम्भवतः लोग यही सोचकर ऐसा कहते हैं कि जीव तो जल स्थल आकाश यहां तक कि अग्नि में भी जीव भरे पड़े हैं, यह जगत् ही जीवमय[3] है अहिंसा का पूर्णतया पालन कैसे किया जा सकता है ? और बिना विचारे ही जैन-अहिंसा को अव्यवहार्य कह बैठते हैं। वे यहाँ तक कहते हैं कि ऐसे तो हाथ पैर बाँध कर एक स्थान पर बिना कुछ खाए पिये पड़े रहो तो कहीं अहिंसा का पालन हो सकता है अन्यथा नहीं। इसलिये जैन अहिंसा केवल

आत्मवत्सर्वभूतेषु सुखदुःखे प्रियाप्रिये।
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां हिंसामन्यस्य नाचरेत्॥ (श्री हेमचन्द्राचार्य)

[2] सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा (तम्हा) णातिवाएज्ज किंचण।

[3] जले जीवाः स्थले जीवा जीवाः पर्वत मस्तके।
ज्वालमालाकुले जीवाः सर्वं जीवमयं जगत्॥

विचार का विषय है, आचार का नहीं, इत्यादि। ये भोले प्राणी इतना भी विचार करने का कष्ट नहीं करते कि जैन शास्त्रों में पात्र भेद की दृष्टि से अहिंसा का विवेचन किया गया है। केवल साधु ही पूर्णतया सूक्ष्म अर्थात् सर्व हिंसा का त्यागी होता है। गृहस्थी के लिये तो केवल स्थूल हिंसा के त्याग का विधान है और वह भी जान बूझ कर की जाने वाली हिंसा का। आरंभ से होने वाली हिंसा का त्याग तो वह यथा शक्ति ही करता है, पूर्णतया नहीं। इस प्रकार ससार के सभी वैध एव उचित कार्य करने में उसके लिये कोई बन्धन नहीं। उसको व्रत में कोई हानि नहीं पहुंच सकती।

जैन धर्म एक परम विशाल एवं सार्वभौम धर्म है। यहाँ कुल्हिया में गुड नहीं फोड़ा गया है। उसका प्रत्येक वचन, व्यवहार एवं सिद्धान्त की कसौटी पर खरा उतरता है। जैन शास्त्रों में वर्णित ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म एव कुल धर्म आदि १० धर्मोंकी समता क्या कहीं अन्यत्र मिल सकती है? जिनमें ग्रामादि के प्रति एक गृहस्थी एवं यथावसर साधुका भी क्या कर्त्तव्य है? इसकी विशद एव मार्मिक व्याख्या की गई है। मैं समझता हू इतिहास का एक ही दृष्टान्त उन लोगों के कान खोलने के लिये पर्याप्त होगा जो जैन अहिंसा को राष्ट्रविरोधी अव्यवहार्य तथा कायर बना देने वाली बताते हैं।

सेनापति आभु

गुजरात के अन्तिम चालुक्य राजा दूसरे भीम, जिसका कुछ इतिहासकारों ने भोला भीम के नाम से भी उल्लेख किया है, के समय उसकी राजधानी अनहिलपुर पर मुसलमानों ने आक्रमण कर दिया। सयोग वश राजा उस समय वहाँ उपस्थित न था। इस कारण अन्य अधिकारी वर्ग बड़ी चिन्ता में पड़ गया कि राज्य की रक्षा किस प्रकार की जाय? राज्य में सेना भी मुट्ठी भर ही थी और सेना पति भी अभी नया ही नियुक्त हुआ था। सेनापति का नाम आभु था। वह जैन श्रावक था तथा अपने व्रत और नियमों का पक्का पुजारी था। रानी ने उसे बुलाकर सारी परिस्थिति से सूचित किया और राज्य की रक्षा की चिन्ता प्रगट की। आभु ने कहा यदि रक्षा का पूर्ण भार मुझे सौंप दिया जाय तो निस्सन्देह मैं शत्रुओं से राज्य की रक्षा कर लूंगा। राजा की अनुपस्थिति में रानी ने स्वयम् युद्ध सम्बन्धी सभी अधिकार आभु को सौंप दिये और युद्ध की घोषणा करवादी। सेनापति आभु ने सेना को उसी समय ले जाकर युद्ध भूमि में डेरा डाल दिया। क्योंकि सूर्यास्त होचुका था, युद्ध तो हो नहीं सकता

था। अतः सैनिक विश्राम करने लगे। आभू १२ व्रत धारी श्रावक था। सुबह शाम दोनों समय प्रतिक्रमण करता था। दोनों समय प्रतिक्रमण की सुनकर सम्भवतः आप लोगों को भी आश्चर्य हो रहा होगा कि युद्ध भूमि में एक सेनापति दोनों बार किस प्रकार प्रतिक्रमण कर सकता है। परन्तु इसमें आश्चर्य करने की कोई भी और कुछ भी तो बात नहीं। हाँ तो आभू ने प्रतिक्रमण का समय जानकर एकान्त में जाकर प्रतिक्रमण करने का विचार किया। परन्तु स्थिति का गंभीर निरीक्षण करने पर उसे ज्ञात हुआ कि उसका यहाँ से अन्यत्र जाना भयंकर होगा। वह वहीं हाथी के होदे में ही प्रतिक्रमण करने लगा। कुछ पास ही खड़े सैनिकों ने सुना कि सेनापतिजी तो 'जीवे जीवा विराहिया, एगेन्दिया बेइन्दिया' कह रहे हैं। वे एक दूसरे से कनखियों में बात करने लगे। आभूकी नियुक्ति अभी नई ही तो हुई थी। उनको उसकी शक्ति का कोई परिचय तो था नहीं। कनखियों में बात करने का उनका अभिप्राय था कि ये अभी तो "एगेन्दिया बेइन्दिया" ही कर रहे हैं युद्ध में क्या जौहर दिखायेंगे? धीरे २ रात को यह समाचार रानी के कानों तक भी पहुँचा। रानी भी चिन्तित हुई। पर उस समय चारा ही क्या था?

प्रातःकाल होते ही दोनों ओर की सेनाएं एक दूसरे पर टूट पड़ीं घमासान युद्ध हुआ। युद्ध विद्या विशारद आभू ने अपनी मुट्ठी भर सेना लेकर शत्रु पर इस ढंग से हमला किया कि शत्रु-सेना के पैर उखड़ गए। वह मैदान छोड़कर भाग खड़ी हुई विजय आभू को प्राप्त हुई। दूसरे दिन राज दरबार में रानी ने आभू को सम्मानित किया। आभू की वीरता और युद्ध कौशल देखकर सभा दाँतों तले अँगुली दबाने लगी क्योंकि किसी को भी उस परिस्थिति में विजय की आशा नहीं थी। रानी ने आभू से अपनी रात की निराशा के विषय में भी कहा कि जब सुना गया कि आप सैनिक व्यूह रचना करते २ ही "एगेन्दिया बेइन्दिया" कहने लगे थे तब मुझे बड़ी निराशा हुई थी कि आप इतने अहिंसक होकर मुसलमानों से क्योंकर पार पा सकोगे।

आभू ने सभी दरबारियों एवम् उपस्थित सैनिकों को सम्बोधित करते हुए उत्तर दिया माताजी! आत्मा मेरी अपनी चीज़ है और मेरा शरीर राष्ट्र की सम्पत्ति है यह देश की थाती है। अहिंसा मेरी आत्मा का धर्म है। उसके लिए सभी जीवों की रक्षा करना व उन पर दया भाव रखना आवश्यक है। परन्तु इसमें शरीर का धर्म उसका कर्तव्य पालन करने में कोई विरोध उत्पन्न नहीं

होता। शरीर राष्ट्र का है। उसको राष्ट्र की पुकार पर बलिदान किया जा सकता है। इस प्रकार का त्याग करके, देश की सेवा शरीर का कर्त्तव्य है। इससे पीछे हटना अधर्म है। जो अहिंसक बनकर देश की सेवा से कतराते हैं वे दूसरों को तो धोखा देते ही हैं, आत्म प्रवचंना भी करते हैं। हाँ अपने निजी स्वार्थ के लिये युद्ध या वध करना अवश्य अधर्म है। आत्मा का अपना स्वार्थ तो अहिंसा में ही है। परन्तु सारे काम स्वार्थ भाव से ही प्रेरित होकर तो नहीं किये जा सकते। नहीं तो मनुष्य फिर कोरा स्वार्थी न हो जायगा?

"श्रावक का पहिला अहिंसाणुव्रत"

श्रावक अपने शरीर धर्म और आत्म धर्म दोनों को बिना किसी विरोध के सुचारु रूपसे पाल सके इसलिये उसके लिये वैसा ही मार्ग बताया है। वह जीवन पर्यन्त मन, वचन और कार्य से सम्पूर्ण लोक में रहे हुए निरपराधी त्रस जीवों के वध का त्याग करता है। उसमें भी मारने के सकल्प से मारने का ही त्याग है। यदि अनजाने, भूल में या रक्षा करते २ यदि किसी की हिंसा होजाय तो इससे उसका अहिंसा व्रत भंग नहीं होजाता।[1] आरम्भ से होने वाली हिंसा का श्रावक पूर्ण रूप से त्यागी नहीं होता। हाँ मकान बनवाने आदि में होने वाली हिंसा, जो आरम्भजन्य कहलाती है,से यथा संभव बचने का प्रयत्न करता है। जैन धर्म के इस दृष्टि बिन्दु की बहुत से लोग यह अशुद्ध व्याख्या करते है कि जैन धर्म में कुए खुदवाना या प्याऊ लगवाना निषिद्ध है। यह भली भाति समझ लेना चाहिए कि जैन धर्म में इन कामों के लिये कहीं भी निषेध नहीं किया गया है। हाँ एक बारह व्रत धारी श्रावक के लिये धधे के रूप में इन अहारम्भ कारी कामों का अवश्य निषेध है। अपने काम या सर्व साधारण के हित के लिये वह कर सकता है।

---

[1] "थूलग पाणाइवाय समणोवासओ पच्चखाइ, से पाणाइवाए दुविहे पन्नत्ते त जहासकप्पओ अ आरभओ अ तत्थ समणोवासओ सकप्पओ जावज्जीवाए पच्चक्खाइ नो आरम्भओ।

"सकल्पात्कृत कारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्
न हिनस्ति यत्तदाहु स्थूलवधाद्विरमणं निपुणा"

(रत्नकरड परि० ३ श्लोक ७)

निरपराधी और सापराधी का भी यही रहस्य है। संसार में रहते हुए सापराधी के प्रति पूर्ण अहिंसक नहीं बना जा सकता। हाँ परिस्थिति और भावना का ध्यान रखकर सापराधी को भी गृहस्थी क्षमा कर सकता है। दण्ड देना कोई अनिवार्य नहीं। कहीं २ संसार की व्यवस्था बनाए रखने के लिये दण्ड देना आवश्यक होजाता है। हाँ द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के अनुसार कार्य करने के लिये भगवान ने अवश्य सन्देश दिया है। कहीं २ सापराधी को दण्ड देने का शासन को ही अधिकार है। उस समय कानून को अपने हाथ में लेने से अव्यवस्था और अशान्ति फैलने की सम्भावना रहती है। कहीं २ गृहस्थी स्वयम् भी सज़ा दे सकता है। वहाँ शासन का मुँह देखने से काम नहीं चल सकता। मान लीजिये आप रेल में सफर कर रहे हैं। एक उद्दण्ड व्यक्ति बातों ही बातों में आपको मारकर उतरके भागना चाहता है। यदि उस समय आप उसे उसका उचित दण्ड नहीं देते तो उस उद्दण्ड व्यक्ति का हौसला और भी बढ़ जायगा जिससे वह समाज में और भी अनर्थ करेगा। जिसका नैतिक रूप से आपके ऊपर भी उत्तर दायित्व आ पड़ेगा।

यहाँ इतना विवेक भी आवश्यक है कि अपराध की आशङ्का मात्र से ही किसी को दण्ड देना अनुचित एवम् अन्याय है। बहुत से लोग साँप बिच्छू सिंह चीते आदि जानवरों को देखते ही मार डालते हैं। उनका ऐसा करना अधर्म है। एक सद्गृहस्थ को ऐसा नहीं करना चाहिये। इस विषय में कुछ लोग एक थोथी दलील देते हैं कि ये प्राणी मनुष्य को दुःख पहुँचाते हैं। अतएव देखते ही वध्य हैं। यदि वध करने की यही कसौटी प्रामाणिक मानली जाय तो फिर सबसे पहिले तो मनुष्यों की बारी आजायगी। क्योंकि वह संसार के सभी मनुष्येतर ही क्यों मनुष्यों को भी दुःख देने वाला है। दूसरों का अधिकार छीनने वाला है। गाय भैंस आदि का दूध उनके बच्चों को वंचित करके निकाल लेना क्या अन्याय और अत्याचार नहीं? किसी को हल में जोतना किसी पर बोझ लादकर अथवा अन्धा करना इत्यादि अनेकों ऐसे कार्य हैं जिन्हें मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये दूसरों पर अत्याचार करके करता है। ऐसा करके भी वह स्वयम् तो दूध का धुला हुआ बनना चाहता है और दूसरों के अपराध नहीं अपितु अपराध की आशङ्का मात्र से ही मारने का औचित्य सिद्ध करना चाहता है। क्या यह अनधिकार चेष्टा नहीं है? इसलिए किसी को अपराध की आशङ्का के आधार पर ही दण्ड नहीं दिया जा सकता। चाहे फिर वे साँप बिच्छू ही क्यों न हों।

जैन धर्म का प्रत्येक नियम सार्थक एवं अपने में पूर्ण है। देखिये गृहस्थी के लिये केवल त्रस जीवों की संकल्प हिंसा के त्याग का ही विधान है। एकेन्द्रिय प्राणी की हिंसा का त्याग अनिवार्य नहीं। क्योंकि साग, सब्जी, पृथ्वी, पानी और अग्नि आदि का उपयोग वह संकल्प से ही तो करता है। यहाँ यह नहीं समझ लेना चाहिये कि स्थावर जीवों की हिंसा करने की उसको छुट्टी है। प्रवृत्ति में छुट्टी नहीं अपितु यथाशक्ति त्याग का ही उपदेश है। हाँ वह त्याग अनिवार्य नहीं।

इस प्रथम अहिंसाणुव्रत में पाँच प्रकार से दोष—अतिचार लग सकते हैं। उनको जानना आवश्यक है जिससे वे समझे या न समझे में कहीं लग न जायँ। (१) बन्धन (२) वध (३) छविच्छेद (४) अतिभार (५) भक्तपाण-विच्छेद[1]। पहिला अतिचार बंध है। किसी जीव को निर्दयतापूर्वक ऐसे नहीं बाँधना चाहिये जिससे वह हिल-डुल भी न सके। हर स्थान पर यत्ना—विवेक—की आवश्यकता है। और विवेक में ही महावीर प्रभु ने धर्म कहा है। कभी कभी गृहस्थ में अपने पुत्रादि को भी बाँधना पड़ता है। आप लोगों को तो इस बात का पूरा अनुभव है कि जब कोई लड़का पढ़ता-लिखता नहीं, उद्दण्डता अधिक करता है तो उसे सुधारने के लिये उसे रस्सी इत्यादि से बाँध भी देते हैं। परन्तु उस बाँधने में भी उसके हित साधन की भावना होती है, न कि द्वेष बुद्धि। यह तो रही पुत्रादि के बाँधने की बात। पशुओं को भी इस ढंग से नहीं बाँधना चाहिए कि आग इत्यादि के लगने पर भी छुड़ा कर न भाग सकें। या उनके उस जगह पर गड्ढा ही पड़ जाय। पशुओं को भी बाँधा तो इसीलिए जाता है कि वे मनुष्य की तरह बुद्धिमान तो हैं नहीं, बिना बाँधे इधर-उधर व्यर्थ फिरेंगे। किसी को मार बैठेंगे या लात मार देंगे। प्राय देखा गया है कि जिस किसी पशु से इन बातों की सम्भावना नहीं होती उसको नहीं भी बाँधते। अभिप्राय यह है कि एक सद्गृहस्थी को अपने

---

[1] थूलग पाणाईवाय वेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंचअइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा तजहा बंधे, वहे, छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाणवुच्छेए।

'छेदन बन्धन पीड़न मति भारारोपण व्यतीचारा.।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद्व्युपरते पंच॥
(रत्न० परि० ३ श्लो० ८)

प्राणियों को बाँधते समय विवेक से काम लेना चाहिए।

दूसरा अतिचार है वध। वध का अर्थ यहाँ पर ताड़ना है नकि जान से मार देना। श्रावक को बिना प्रयोजन किसी को नहीं मारना चाहिए। ऐसा करने से उसके प्रथम अहिंसाणुव्रत में दोष लगता है। कभी कभी देखने में आता है कि किसी अविवेकी पुरुष के हाथ में कोई छड़ी है वहाँ कोई वृक्ष देखा कि भाड़ दी जोर से। कोई टहनी तोड़ दी या पत्ते झाड़ दिये। मार्ग में कोई कुत्ता पड़ा सो रहा था उसी में एक जड़ दी। ऐसा करना अनर्थ है। ऐसा करने से मनुष्य व्यर्थ ही पाप का भागी बनता है। एक सद्गृहस्थ को ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। ऐसा करने वाले को कोई अच्छा आदमी नहीं कहेगा। सब बुरा ही बतायेंगे। प्रयोजन होने पर ताड़ना भी गृहस्थी मनुष्य को करनी ही पड़ती है। वह सापेक्ष कहलाती है। अर्थात् श्रावक अपने पुत्र तथा भृत्यादिक को सुधारने की बुद्धि से जब ताड़ता है तो उसके प्रथम व्रत में दोष नहीं लगता। लेकिन वह ताड़ना ऐसी ही होनी चाहिए जैसा कुम्हार द्वारा घड़े को पीटना। यदि आपने कभी कुम्हार को घड़ा बनाते देखा हो तो भली भाँति समझ सकते हैं। कुम्हार जब घड़ा बनाने बैठता है तो पहिले वह कच्चा ही तो होता है। वह उसे ठीक करने के लिये बाहर से एक लकड़ी की थपिया से पीटता है। आप सोचते होंगे कि फिर वह कच्चा घड़ा टूट क्यों नहीं जाता? लेकिन यह ध्यान रहे कि कुम्हार घड़े को तोड़ने के लिये नहीं पीटता है अपितु उसे बनाने के लिए पीटता है। इसीलिए बाहर से जहाँ पीटता है वहाँ अन्दर हाथ लगा देता है। बस किसी को पीटते समय श्रावक की भी ऐसी ही बुद्धि होनी चाहिये कि वह बनाने के लिये पीटे नकि द्वेष से। द्वेष से मारने पर उसके व्रत में दोष लगेगा।

तीसरा अतिचार है छविच्छेदन। आपने देखा होगा बहुत से लोग अपने कुत्तों बकरियों आदि के कान या पूँछ कटवा देते हैं। वे करते तो हैं कि वह सुन्दर लगेगा परन्तु इसे उनकी बुद्धि का दिवाला कह सकते हैं। भला किसी के शरीर के अंगोपाङ्ग को काटने से भी उसकी सुन्दरता बढ़ती है? इससे तो घटती और सुन्दरता घटती है। ऐसा है तो वे लोग अपने ही कान या नाक क्यों नहीं कटवा डालते? देख फिर कैसे सुन्दर दीखते हैं। नहीं ऐसा करना अनर्थ है और इससे श्रावक अपने प्रथम अहिंसाणुव्रत से पतित होता है। हाँ किसी विशेष कारणवश ऐसा किया जाय तो बात दूसरी है। मान लीजिये

कुत्ते के कान या पूँछ में कीड़े पड़ गये हैं, वह सड़ गया है, और उसके कारण आगे सढ़ जाने की सम्भावना है तो डाक्टर द्वारा उतने भाग का विच्छेद कुछ प्रयोजन रखता है। ऐसा तो पशु क्या मनुष्य को भी कभी-कभी करना पड़ता है।

चौथे अतिचार का नाम है 'अतिभार'। गहराई से सोचने पर आप इस परिणाम पर अवश्य पहुच जायेंगे कि जैन शास्त्रों में जो श्रावक के व्रतों के दोष गिनाये गये हैं और जिनसे बचने के लिये उसे आदेश दिया गया है, वे ही बातें कानून की दृष्टि में भी अपराध हैं। राज की ओर से ऐसा करने वाले को सजा दी जा सकती है। इस अतिभार के विषय मे ही देख लीजिये। सरकार की ओर से एक जीव रक्षा समिति बनी हुई है, जो यह देख भाल करती है कि किसी ने बीमार पशु तो काम में नहीं लगा रखा है, या अधिक बोझा तो नहीं लाद दिया है। ऐसा करने वालों को इस समिति के निरीक्षक पकड़ सकते हैं। उन पर जुर्माना या सजा दी जा सकती है। एक जैन गृहस्थ के लिये भगवान् ने बहुत पहिले ही नियम बना दिया था कि वह अधिक बोझा न लादे। वैसे तो जहाँ तक भी सम्भव हो एक सद्‌गृहस्थ को इस धन्धे से बचना चाहिये। और जो अपने निजी प्रयोग के लिये सवारी आदि का प्रबन्ध किया हुआ है उसके विषय में यह ध्यान रखे कि उस पशु की शक्ति से अधिक बोझा न लादा जाय। पशु ही क्यों प्राय कुली इत्यादि मनुष्यों से भी बोझा उठवाने का काम पड़ता ही है, उनसे भी कभी अधिक बोझा न उठवाया जाय। वैसे तो मनुष्य को स्वावलम्बी बनना चाहिए। अपने छोटे-मोटे बोझे के लिये क्यों दूसरे का मुख ताका जाय? पर मूर्खता की भी हद होती है। बहुत से लोग तो अपना बोझा स्वय उठाने में बेइज्जती अनुभव करते हैं। उनकी शान में बट्टा लग जाता है। आज वह भारत जो कभी ससार के देशों का सिर मौर था, सबसे पीछे क्यों पड़ गया है? इन्हीं झूठी शान और इज्जतों के कारण। आज विदेशियों के सामने सिर झुकाने में शान और इज्जत समझी जाती है। जब आप विदेशों में जाते हैं, आपको भारतीय होने के नाते उन होटलों में नहीं जाने दिया जाता जिनमें स्वतन्त्र देशों के उच्च स्थिति के लोग जाते हैं। सुना जाता है कि वहाँ कई होटलों के सामने बोर्ड लगा रहता है कि 'कुत्तों' और भारतीयों को अन्दर आने की आज्ञा नहीं। मानो ये दोनों एक ही बिरादरी के हों। ऐसे महान् कलंक और

बेइज्जती और विडम्बना के भारी बोझे को ढोने वाले लोग अपने बोझे से बोझे को उठाने में शान बट्टी समझते हैं। वीर के उपासकों को ऐसी विडम्बना कभी नहीं सहन करनी चाहिये। साथ ही जहाँ तक भी संभव है अपना बोझा स्वयं उठाना चाहिये। यही क्यों प्रत्येक काम में स्वावलम्बी बना जाय। संसार में स्वावलम्बी ही सफल एवं सुखी रहता है। परमुखापेक्षी तो दूसरों की दया पर निर्भर है।

पाँचवा अतिचार है "भक्तपान विच्छेद" अर्थात् किसी अपने आश्रित या अन्य किसी के खानपान में बाधा डालना, समय का अतिक्रमण कराना या भूखा अथवा प्यासा मारना। एक श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह भोजन करने बैठे यह जान ले कि उसके आश्रित रहने वाले मनुष्य पशु पक्षियों को या उसके घर बूढ़ों को भोजन मिल गया है या नहीं। साधारण स्थिति में—किसी विशेष परिस्थिति के बिना—कभी ऐसा जाने बिना आहार न करे। इतना ही नहीं प्रत्येक के समय का भी ख्याल रखना चाहिये कि किस को किस समय भोजन या पानी दिया जाता है? वह दिया गया है या नहीं। कभी २ देखा गया है कि बहुत से लोग स्वयं तो नाक तक भर कर बैठ जाते हैं परन्तु अपने आश्रित पशुओं की कोई चिन्ता ही नहीं करते। वे भूखे और प्यासे ही मरते रहते हैं। कुछ लोग तोता या मैना पालते हैं पर उन्हें समय पर खाना पानी नहीं दे सकते। कई बार सुना गया है कि अमुक व्यक्ति के घर तोता मर गया क्योंकि खाना रखना भूल गये या जल्दी में घर के सभी व्यक्ति कहीं अन्यत्र शादी ब्याह में चले गए। कितना बड़ा अनर्थ है? पहिले तो उन स्वतन्त्र पक्षियों को कैद में डालना और उससे भी महा अनर्थ है उनके खान पान की ठीक व्यवस्था न रखना। एक श्रावक को ऐसा कदापि नहीं करना चाहिये।

साधारण जीवन में होने वाली हिंसा और उससे बचने के उपाय

वैसे श्रावक के अहिंसा व्रत की शास्त्रों ने इतनी विशद व्याख्या की है कि जिसके आचरण से गृहस्थियों का सभी जीवन सुचारु एवं सुव्यवस्थित हो जाता है। उससे आत्मा को एवं शान्ति प्राप्त होती है। उनका जीवन इससे अन्त में ही सफल नहीं होता अपितु दैनिक जीवन भी संतोषमय हो जाता है। फिर भी गृहस्थियों को पग २ पर विवेक की आवश्यकता होती है। देखने में आता है कि कुछ लोग अपनी आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर

या व्यापार के कारण बहुत सा धान्य एकत्रित कर लेते हैं। लेकिन वह किस प्रकार रखना चाहिये जिससे उसमें कीड़े न पड़ें, यह वे नहीं जानते। परिणाम यह होता है कि उस अनाज में बड़ी सख्या में कीड़े पड़ जाते हैं, जिनसे उनको दुहरी हानि होती है। उधर तो वे कीड़े उस अनाज को खाकर खोखला कर देते हैं जिससे उसको आर्थिक हानि होती है। दूसरे फिर वे कीड़े भी मरते हैं जिससे वह गृहस्थ अपने प्रथम अहिंसाणुव्रत से पतित होता है। इसलिये यदि धान्य का सग्रह करना ही हो तो उन वैज्ञानिक साधनों का उपयोग किया जाना चाहिये जिनसे अनाज में कीड़े उत्पन्न होने ही न पावें।

रसोई करते समय या अन्य कामों में देवियों को भी विशेष विवेक से काम लेने की आवश्यकता है। उदाहरण के रूप में ईंधन को ही ले लिया जाय। यह सभी मानते हैं कि कुछ विशेष प्रकार का ईंधन घुन जाता है, उसमें जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। उपलों में तो प्राय करके जीव उत्पन्न हो जाते हैं। यदि बिना देखे भाले असावधानी से ईंधन का प्रयोग किया जाय तो कितने भयकर अनर्थ की आशका है। घी, तेल और पानी आदि के बर्तनों को बिना ढके रखने से तो कई बार लोगों को जान तक से हाथ धोना पड़ा है। बहुत से लोग अब तक कहा करते थे कि इन बातों में इतना झझट उठाने के लिये बस इन जैनियों के पास फालतू समय है, परन्तु जब से लोगों ने स्वास्थ्य के नियमों पर विशेष ध्यान देना आरम्भ किया है तब से जैन धर्म की शिक्षाओं की दुहरी उपयोगिता को नत मस्तक होकर स्वीकार कर लिया है। म्यूनिसिपैलिटियों ने भी लोगों को ऐसा करने के लिये लाचार करना आरम्भ कर दिया है।

चूल्हे, चक्की, रसोई घर आदि के ऊपर किसी कपड़े का चन्दोवा आदि होना चाहिये जिससे वर्षा के महीनों में इनमें जीव न गिरने पावें। इससे जीव हिंसा से तो बचाव होता ही है, साथ ही ज़हरीले कीड़ों से बचाव रहने से स्वास्थ्य के लिये भी हितकर है। खाने पीने की वस्तुओं का जब स्वाद बदल गया हो, उसमें कुछ सफेद जाला सा पड़ गया हो या तार सा खिंचने लगा हो उस समय उनको व्यवहार में नहीं लाना चाहिये। जीव हिंसा के साथ २ वे स्वास्थ्य के लिये भी तो ज़हर का काम करते हैं।

प्रिय बन्धुओ! प्राय देखने में आया है कि गृहस्थ अपने पशुओं को उस समय बेच देते हैं जब वे बूढ़े हो जाते हैं या काम करने के योग्य नहीं रहते हैं।

आप भली भाँति जानते हैं कि उन बेचारे मूक पशुओं की क्या दशा होती है। उस गाय और बैलों की जोड़ी की कल्पना कीजिये जिसने किसी किसान को सारे जीवन अपना अमृतमय दूध पिलाया बछड़े भी दिये। बछड़े बड़े होकर उस किसान की खेती का काम देने लगे। बीसियों वर्ष दूध पिलाकर और किसान की खेती का काम करने के बाद वह गाय और बैल बुड्ढे हो जाते हैं। काम नहीं दे सकते। आपको मालूम है किसान फिर क्या करता है? प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें कसाई के हाथ बेच देता है। संसार के स्वार्थी होने का क्या इससे भी अधिक जीवित और नंगा उदाहरण मिल सकता है? पैदा करके चार छः महीने दूध पिलाने वाली माँ की सेवा किस लगन से की जाती है। कमाकर कुछ समय खिलाकर पालने वाले पिता की आज्ञा से १४ वर्ष का वनवास भी भुगता जा सकता है। फिर इतने लम्बे समय तक अपना दूध पिलाने वाली गाय और अपना खून पसीना बहाकर कमाकर खिलाने वाले बैलों को बुढ़ापे में कसाई के हवाले करने में कौनसा न्याय है? क्या जब से ऐसा होने लगा तभी से भारत रसातल को नहीं चला गया? कहाँ गई वे दूध और घी की बहने वाली नदियाँ? कहाँ गया वह गोधन जिसकी बड़े गर्व के साथ कभी भारत में 'कृपथ' खाई जाया करती थी? कृष्ण महाराज अपने बचपन में जब यशोदा के यहाँ पल रहे थे तो एक बार बलभद्र ने उन्हें चिढ़ा दिया कि तू यशोदा का पुत्र नहीं तू तो कहीं से वैसे ही मोल ले लिया है। इस शिकायत को लेकर कृष्ण यशोदा के पास पहुँचते हैं। यशोदा अपने गोधन की शपथ खाकर कृष्ण को समझाती है। सूरदास ने कितने मार्मिक शब्दों में लिखा है:—

> सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत।
> सूर श्याम मो गोधन की सों हौ माता तू पूत॥

लेकिन आज यह सब इतिहास की वस्तु रह गई है। अब तो समय ही पलट गया है। गायों के स्थान पर कुत्ते बँधे नजर आते हैं जिनका पालना शान के लिये निमित्त है। घी और दूध की जगह अभी तो वानी बिल्कुल मिलने लगे हैं। बच्चों को गाय के ताजा दूध के स्थान पर डिब्बों का दूध दिया जाता है। फिर भला बाहुबलि अर्जुन और भीमों के उत्पन्न होने की कैसे आशा की जा सकती है? ऐसी दशा में तो कुरसी पर हाथ रखकर खड़े होने वाले और सीने पर चढ़कर घंटों हाँफने वाले नवयुवकों को ही आना।

करनी चाहिये। इसी से दुखी होकर तो किसी ने लिखा है —

"तिफ्ल में बू आय क्या मां बाप के इतवार की।
दूध तो डिब्बे का है तालीम है सरकार की॥"

अगर यही दशा रही तो आगे समय आने वाला है जब शुद्ध घी और दूध के दर्शन भी दुर्लभ हो जायगे। इसलिये अकेले गाय और बैल ही नहीं, वृद्धावस्था में किसी भी पशु को बेचना सद्गृहस्थ के लिये उचित नहीं। ऐसा करने से वह अपने पहिले अहिंसाणुव्रत से पतित होता है।

४

सत्य

सत्य शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है होने का भाव होना। सत्य के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। ईश्वर या ईश्वर का नाम सत्य है की अपेक्षा सत्य ही ईश्वर है ऐसा कहना अधिक उपयुक्त होगा। ईश्वर को सच्चिदानन्द के नाम से याद करने का भी यही रहस्य है। जहाँ सत्य है वहीं शुद्ध ज्ञान है। बिना सत्य के शुद्ध ज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिये ईश्वर के नाम के पहिले 'सत्चित'—शब्द जोड़ा गया है। और जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ आनन्द ही हो सकता है शोक नहीं क्योंकि सत्य के समान आनन्द भी शाश्वत है। श्री प्रश्न व्याकरण सूत्र में भगवान् महावीर स्वामी ने भी यही कहा है "तं सच्चं भगवं" वह सत्य ही भगवान् है।

गृहस्थ हो या साधु सत्य की खोज ही उसका ध्येय होना चाहिये। सच्चे धार्मिक सत्य की खोज के लिए ही हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति होनी चाहिये। वास्तव में सत्य के अन्वेषण के लिये ही पाँच महाव्रत तथा अणुव्रतों का विधान है। उसकी प्राप्ति होने पर तो ये अपने आप प्राप्त हो जाते हैं। सत्य का अर्थ केवल सत्य बोलना ही नहीं। आचार विचार व्यवहार वाणी आदि सभी सत्य होने चाहियें। सत्य के विपरीत जो भी कुछ है मिथ्या है असुन्दर है दुखदायी है और अस्वाभाविक है। संसार में जो सत्य है उसका विनाश हो ही नहीं सकता। वह तो ध्रुव है अचल है सत् है। उसके नाश का अर्थ है सभी का अभाव। परन्तु सत् का अभाव तो कोई भी नहीं मानता। जहाँ सरलता है स्वाभाविकता है मिलावट दिखावट या बनावट की गन्ध भी नहीं वही सत्य है। भगवान् श्री महावीर स्वामी ने काया, भाषा भाव और तीनों योगों की सरलता इन बातों में सत्य कहा है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मन और वचन के पूर्ण सामंजस्य का नाम सत्य है। जो बात जैसी देखी सुनी समझी या अनुभव की है उसको बिना नमक

चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते तंजहा—[illegible] भासुज्जुयया भावुज्जुयया अविसंवायणाजोगे

मिर्च लगाये उसी रूप में व्यक्त कर देना सत्य है। दूसरे पर प्रभाव जमाने या भुलावे में डालने के लिये उस बात पर अपनी ओर से रग रोगन करने पर उसकी सत्यता नष्ट हो जाती है।

पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश और काल अपना अपना काम नियमित रूप से कर रहे हैं। इनका काम अनवरत रूप से चल रहा है। कभी रुकता नहीं, यह सब सत्य ही तो है। जो जलती नहीं उसे आप आग कैसे कह सकते हैं। जो स्थान नहीं दे सकता उसे भी यदि आप आकाश कहते हैं तो फिर तो अव्यवस्था ही फैल जायेगी, प्रत्येक पदार्थ आकाश हो जायेगा या कुछ भी आकाश नहीं होगा। सत्य के बल पर ही तो जगत् में व्यवस्था बनी हुई है।

"सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रवि ।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्"

सत्य कोई ऐसा हुनर या कला नहीं है जिसे किसी से सीखने जाना पड़े। यह तो आत्मिक गुण है जो सभी को समान रूप से मिला हुआ है। जो आत्मा की पुकार पर चलते हैं, वे ससार में सत्यवादी तथा महान् बन जाते हैं। इसके विपरीत जो आत्मा की आवाज को कुचल कर, उच्छृखल मन के सकेत पर दौड़ लगाते हैं, वे असत्यवादी तथा ससार की दृष्टि में पतित बन जाते हैं। सत्य सभी कल्याणों का दाता तथा पापों का नाश करता है। आचारांग सूत्र में भगवान् ने एक स्थान पर कहा है कि जो भी धैर्य के साथ बुरे मार्ग को छोड़ कर सत्य मार्ग पर चलता है, उस बुद्धिमान के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं[1]। पापों के नष्ट हो जाने पर कल्याण अनिवार्य है। श्री प्रश्न व्याकरण सूत्र में भगवान् ने सत्य की अनेक प्रकार से प्रशंसा की है। सत्य से ही मन्त्र, औषधियाँ तथा नाना प्रकार की विद्यायें सिद्ध होती हैं। सत्य देव, दानव, मनुष्य तथा ऋषि और मुनि सब का वन्दनीय एव पूजनीय है। वह महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर, मेरु से भी अधिक अटल, चन्द्र मण्डल से भी अधिक सुन्दर, सूर्य बिम्ब से भी अधिक तेजस्वी, आकाश-मण्डल से भी अधिक स्वच्छ तथा गन्ध मादन पर्वत से भी अधिक सुगन्ध युक्त है।

यह सत्य की ही शक्ति है जो अग्नि को शीतल तथा अथाह समुद्र को

---

[1] "सच्चमि धिइ कुव्वहा, एत्थोवरए।
मेहावी, सव्व पाव कम्म जोसइ॥ (आचारांग)

भी उपमा बना देती है। कहते हैं सत्य के बल से सीता को अग्नि ने नहीं जलाया था। सत्य की शक्ति से तलवार फूल माला और भयंकर विषधर भी रस्सी के समान हो जाता है। इसी तथ्य का समर्थन किसी संस्कृत कवि ने किया है —

"सत्येनाग्निर्भवेच्छीतोऽगाधं चलेऽम्बु सत्यत
नासिश्छिनत्ति सत्येन सत्याद्रज्जूयते फणी

वास्तव में सत्य की महिमा का अनुभव क्रियात्मक रूप से होता है कहने सुनने से नहीं। सत्य में वे शक्तियाँ हैं जिनका साधारण जन तो अनुमान भी नहीं कर सकते। सत्य की शक्ति के समक्ष बड़े २ हिंसक तथा भयानक पशु भी पालतू जानवर के समान व्यवहार करते हैं। सत्य की ऐसी ही दिव्य शक्तियों के विषय में भगवान् ने भी सूत्र में कहा है कि सत्यवादी को अग्नि और जल का प्रवाह किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकता अर्थात् अग्नि उसे जला नहीं सकती और जल उसे बहा नहीं सकता। कहीं भी जाता आप वह मार्ग नहीं भूल सकता। तपाया हुआ तेल लोहा या सीसा भी उसके हाथ को हानि नहीं पहुँचा सकता। पर्वत से गिराये जाने पर भी उसका बाल तक बाँका नहीं होता। प्रचण्ड शत्रुओं से घर जाने पर भी वह बेदाग बच जाता है। झूठे अभियोग भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। देवता भी उसकी शरण में आकर शान्तिलाभ करते हैं।

बिना सत्य के जगत् का व्यवहार एक पग भी नहीं चल सकता। कल्पना कीजिये कि आप बाजार में कोई चीज खरीदने जाते हैं। आपने दुकानदार से वह चीज मांगी। वह तो बिना मूल्य लिये सामान नहीं देता और आप बिना सौदा लिये पैसे नहीं देते। दोनों को एक दूसरे पर विश्वास नहीं है। कहिये होगया न पूर्ण गतावरोध। यह सत्य का ही तो विश्वास है कि लाखों ही लाखों में व्यापारियों में लाखों के सौदे होजाते हैं। यदि सचाई न हो तो व्यापार कैसे चल सकता है!

जगत् में सत्यवादी का ही विश्वास किया जाता है। न्याय शासन के झगड़ों का निर्णय भी उसी से कराते हैं। उसके वचन का मूल्य होता है। विरोधी भी उसके वचन का विश्वास करते हैं। महाभारत के युद्ध में जब द्रोणाचार्य ने पाण्डव सेना को गाजर मूली की तरह काटना आरम्भ किया था पांडवों के छक्के छूट गये। द्रोणाचार्य को जीतना टेढ़ी खीर थी। आखिर वे दोनों—कौरव

पाण्डवों-के गुरू थे। इस प्रकार कौरव सेना का सहार होते देख कृष्ण ने पाडवों को सलाह दी कि यदि अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार द्रोणाचार्य के कानों में पड जाय तो वे शिथिल पड जॉयगे और ऐसी स्थिति में उन्हें हराया जा सकेगा। सयोग वश अवन्तिराज के एक हाथी का नाम भी अश्वत्थामा था। उधर द्रौणाचार्य के पुत्र का नाम भी। असली अश्वत्थामा को मारना तो कोई आसान काम नहीं था। इसलिये भीमने अवन्तिराज के हाथी को मार कर हल्ला मचा दिया कि अश्वत्थामा मारा गया। जब द्रौणाचार्य ने सुना तो एक बार तो वे कुछ दु खी हुए। परन्तु बाद में यह सोच कर कि हो सकता है यह भी कोई युद्ध की चाल हो फिर सेना के सहार में जुट गये। युधिष्ठिर के अतिरिक्त और किसी की बात का आचार्य विश्वास नहीं कर सकते थे। अत सब मिलकर युधिष्ठिर के पास गये और उनसे ऐसा कहने की प्रार्थना करने लगे। धर्मराज युधिष्ठिर भला असत्य बोलने के लिये किसी भी कीमत पर तैयार हो सकते थे? खैर उनको सच २ कहने के लिये भी राजी किया गया और जिस समय उन्होंने 'हाथी" शब्द कहा लोगों ने जो पहिले ही से तैयार खड़े थे, ढोल पीट दिये, जिससे द्रोणाचार्य ने "अश्वत्थामा हतो" "अश्वत्थामा मारा गया' इतना तो सुन लिया 'नरो वा कुंजरो वा' "हाथी था या मनुष्य" यह नहीं सुनने पाया। क्योंकि यह वाक्य युधिष्ठिर ने कहा था, इसलिये द्रोणाचार्य ने विश्वास कर लिया।

यह सब कहने का तात्पर्य यही है कि सत्यवादी का ही विश्वास किया जाता है। वह चाहे असत्य भी कहे तो भी उसी का विश्वास किया जायगा और झूठ बोलने वाला यदि सत्य भी बोल रहा हो तो भी उसका विश्वास नहीं किया जाता। अभी मैंने जो दृष्टान्त दिया है उससे भी यह बात सिद्ध होजाती है। युधिष्ठिर ने 'नरो वा कुंजरोंवा' का कितनी भी रोगन किया हो उनके वक्तव्य से असत्य की दुर्गन्ध आ रही है। "अश्वत्थामा हतो" ऐसा कहने के लिये तैयार होजाने से ही पता चलता है कि उनकी भी भावना डांवांडोल होगई थी। और हिन्दू मान्यता के अनुसार इसी डॉवाँडोल वृत्ति के कारण उनको स्वर्ग जाने से पहिले कुछ समय के लिये नरक की सैर करनी पड़ी थी।

जो भी सत्यवादी होते हैं वे प्राणपण से भी सत्य को निभाते हैं। ससार में वे सत्य बल पर ही तो अमर हैं। कौन नहीं जानता—सत्यवादी राजा हरिचन्द्र को। राज, पाट, घर द्वार यहां तक कि स्त्री, बच्चों से भी वियोग सहा परन्तु

सत्य को नहीं त्यागा। इसीलिये आज वे सत्य के क्षेत्र में संसार का आदर्श बने हुए हैं। मेरु के समान उनकी अटल प्रतिज्ञा—

"चन्द्र टरै सूरज टरै टरै जगत् व्यवहार।
पै नृप श्री हरिश्चन्द्र को टरै न सत्य विचार"

यह अटल प्रतिज्ञा आज भी लोगों के हृदयों में सत्य का संचार करती है। और आने वाली सन्तानें भी उससे इसी प्रकार प्रेरणा पाती रहेंगी।

आततायी और नृशंस लुटेरे भी सत्य के सामने नत मस्तक हो जाते हैं। सम्भवतः आप लोगों ने उस बालक के विषय में अवश्य सुना या पढ़ा होगा जो यात्रियों के साथ परदेश में पढ़ने के लिये गया था। पहिले आज कल की सी व्यवस्था तो थी नहीं कि आज यहाँ से मनीआर्डर कर दिया तो परसों ही वहां बच्चे में रुपये मिल गये या तार द्वारा भेजो तो आज ही २-३ घंटे बाद। पहिले तो सब कुछ साथ में ही लेकर चलना पड़ता था। मार्ग में लुटेरों का भय सदा लगा रहता था। जब यह बालक अपनी माता से आज्ञा लेकर यात्रियों के साथ परदेश जाने लगा तो माता ने खर्चे के लिये उसके कोट के अस्तर में कुछ रुपये सी दिये। अस्तर में इसलिये सिये कि कहीं डाकू मार्ग में ही न छीनलें। माता ने बचपन से ही बालक को सत्य बोलने की शिक्षा दी थी। जब बालक अन्य यात्रियों के साथ एक भयानक जंगल में होकर जा रहा था तो कुछ डाकुओं ने उन यात्रियों पर हमला कर दिया। जो भी कुछ उनके पास था उन्होंने ले लिया। जब डाकुओं ने बालक से पूछा तो उसने कहा मेरे पास भी रुपये हैं। डाकुओं ने भली भाँति देखा पर कहीं भी रुपये नहीं मिले। उन्हें बड़ा क्रोध आया और उस बालक को अपने सरदार के सन्मुख ले गए। सरदार के पूछने पर भी बालक ने मुस्करा कर यही उत्तर दिया कि हाँ मेरे पास रुपये हैं। और अपने कोट का अस्तर फाड़कर दिखा दिया। सरदार तथा अन्य डाकू देखकर दंग रह गये। सरदार ने बालक से कहा कि तूने ये रुपये हमें क्यों बता दिये ? तुम चाहते तो इन्हें लेकर सुरक्षित जा सकते थे। बालक ने उत्तर दिया कि ये तो रुपयों की बात है यदि प्राण की बाजी लगाकर भी सत्य बोलना पड़े तो भी मैं सत्य ही बोलूंगा। मेरी माता ने मुझे यही सिखाया है। यह सुनकर सरदार को अपने जीवन से घृणा हो गई। वह बालक के पैरों पर गिर पड़ा। अन्य डाकुओं सहित उसने उस बालक को अपना गुरु माना और उसी दिन से वह लूट वृत्ति छोड़दी।

सत्य की महिमा का कोई पार नहीं। सत्य, जैसा कि मैं प्रारम्भ में कह आया हूँ, वास्तव में ईश्वर है। महात्मा कबीर दासजी ने भी यही कहा है—

"साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप,
जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप।"

"असत्य और उससे होने वाली हानियाँ"

सत्य के विपरीत जो भी कुछ है वह असत्य है, झूठ है। असत्य अस्वाभाविक, एवम् बनावटी है। इसके लिये मनुष्य को कुछ मिलावट की, कुछ बनने की आवश्यकता पड़ती है। बस इसीलिये यह पाप है। साधारण नहीं, महा पाप है। सत्य की महिमा बताते हुए मैंने पीछे कहा था—

"साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप"

इसी का समर्थन तुलसीदासजी ने भी किया है:—

"नहि असत्य सम पातक पुँजा। गिरि सम होहि कि कोटिकि गुँजा"

जैसे चिरमिठियों का बड़े से बड़ा समूह भी पहाड़ के बराबर नहीं हो सकता उसी प्रकार अन्य पाप असत्य रूप पाप के बराबर नहीं हो सकते। अर्थात् झूठ का पाप सब से बड़ा है। पाप से मानसिक एवम् आत्मिक दुर्बलता बढ़ती है। यही कारण है कि झूठ बोलने वाला सदा सशंकित रहता है कि कहीं उसके झूठ की कलई न खुल जाय। असत्य उस पीतल के समान है जिस पर सोने का झोल चढ़ा दिया गया है। वह कुछ समय के लिये धोखा दे सकता है, अन्त में पकड़ा ही जायगा। पकड़े जाने के बाद उसकी कितनी विडम्बना होती है, यह आप भली भाति जानते हैं। एकबार भेद खुल जाने पर फिर झूठे का विश्वास नहीं किया जाता। फिर तो उसका सत्य भी झूठ ही समझा जाता है। आपने उस ग्वालिये की कथा अवश्य ही सुनी होगी जिसके बार २ झूठ बोलने के कारण उसके सत्य का भी विश्वास नहीं किया गया था। एक ग्वालिया अपनी गायें तथा बकरियें लेकर बनमें उनको चराने ले जाता था। अधिकतर वह अकेला ही होता था। जगल सघन था। एक दिन उसने विचार किया, यदि कोई भेड़िया यहाँ आजाय तो मुझे और मेरी बकरियों को खा जायगा। किसानों के खेत तो यहाँ से बहुत दूर हैं। देखूँ मेरी पुकार सुनकर वे समय पर मेरी सहायता को पहुँच भी सकेंगे या नहीं? यह सोचकर उसने ऊचे स्वर से चिल्लाना प्रारम्भ कर दिया, "भेड़िया आया, भेड़िया आया। दौड़ना मुझे

बचाया। किसानों ने जब उसकी पुकार सुनी तो वे अपनी लाठियाँ ले लेकर उसकी सहायता को दौड़े आये। परन्तु वहाँ आकर देखा कि भेड़िये का तो नाम निशान भी नहीं है। लड़का उन्हें देखकर मुस्करा रहा है। लड़के से पूछा तो उसने कह दिया कि मैंने तो जाँच की थी कि आप लोग समय पर आ भी जायेंगे या नहीं। किसान क्षुब्ध होकर वापिस अपने काम पर लौट गए।

उस ग्वालिये को मनोरंजन का साधन मिल गया। वह जब कभी मन में आता, चिल्ला उठता "भेड़िया आ गया—बचाओ।" दो चार बार तो किसान उसकी रक्षा को दौड़े आए, परन्तु बाद में उन्होंने देख लिया कि वह तो कोरा झूठा है। एक दिन संयोगवश भेड़िया आ ही तो गया। लड़के ने बहुतेरा शोर मचाया। पर कौन ध्यान देता ? किसानों ने सोच लिया कि यह तो झूठ बोल रहा है। उधर भेड़िये ने उस ग्वालिये को तो घायल कर दिया और उसकी एक बकरी भी ले गया। ऐसा क्यों हुआ ? वही असत्य के कारण। न वह ग्वालिया झूठ बोलता न किसान उसका अविश्वास करते न उसकी यह दुर्दशा और हानि ही हुई होती।

'भाँड पुकारे पीर वश मिस समझे सब कोय।'

का भी तो यही रहस्य है। भाँड की तो आजीविका ही है असत्य। दूसरों की झूठी नकल निकालना। कहते हैं एक भाँड के पेट में भयंकर शूल का दर्द हो रहा था। वह पीड़ा के मारे पड़ा तड़प रहा था। लोग उसके पास आते और उसकी इस तड़पन पर हँस कर मुस्करा कर चले जाते। वे सोचते भाँड महाशय किसी पेट के दर्द वाले की नकल उतार रहे हैं। कितनी भयंकर विडम्बना है। असत्य तो क्या झूठ बोलने वाले का तो सत्य भी असत्य माना जाता है। उसके ऊपर तो विश्वास और उत्तरदायित्व का कोई भी काम नहीं छोड़ा जा सकता। भगवान ने व्यवहारसूत्र में कहा है कि—अन्य दोषों की विधि पूर्वक आलोचना प्रत्यालोचना करने पर शास्त्र नीति के अनुसार साधु को आचार्य पदवी तक दी जा सकती है परन्तु कपट सहित असत्य भाषण करने वाले तथा दाम्भिक प्रपंच करने वाले को कदापि आचार्य पदवी नहीं दी जा सकती चाहे वह कितना ही योग्य और विद्वान् क्यों न हो[1]। कपट व्यवहार

[1] 'बहवे भिक्खुणो बहवे गणावच्छेयया
बहवे आयरिय उवज्झाया बहुस्सुया
बब्भागमा बहुसो बहुसु आगाढागाढेसु

करने वाला तो किसी भी क्षेत्र में क्षमा के योग्य नहीं है —

"मुच्यते सर्वपापेभ्य मित्रद्रोहीन मुच्यते'

भगवान् ने गुण और स्वभाव के अनुसार प्रश्न व्याकरण सूत्र में झूठ के तीस नाम कहे हैं —

(१) अलीक—लीक सत्य मार्ग को कहते हैं, जो उसके विपरीत हो वह अलीक कहलाता है।

(२) शठ—दुष्ट लोग असत्य भाषण करते हैं, अत उसका नाम भी 'शठ' पड़ गया।

(३) अनार्य—क्योंकि अनार्य झूठ बोलते हैं। इसलिये उसका एक नाम अनार्य भी पड़ गया है।

(४) मायामृषा—माया-कपट-से युक्त होने के कारण इसे मायामृषा भी कहते हैं।

(५) असत्य—सत्य से विपरीत होने के कारण 'असत्य' है।

(६) कूट कपट अवस्तु—दूसरों की आँखों में धूल झोंकने के लिये जो वस्तु जैसी नहीं है उसको वैसी बताने का प्रयत्न किया जाता है इसलिये "कूटकपटअवस्तु"।

(७) निरर्थक अनर्थक—इसमें अर्थ का अनर्थ किया जाता है तथा इसमें अर्थ या सार नहीं होता इसलिये "निरर्थक अनर्थक"।

(८) विद्वेषगर्हणीय—इसके द्वारा सज्जनों की निन्दा की जाती है या यों कहना चाहिये कि सज्जन असत्य को अच्छा नहीं समझते इसलिये "विद्वेषगर्हणीय"।

(९) वक्र—इसमें सरलता या सीधापन होता ही नहीं, यह सदा टेढ़ा होता है। इसलिये "वक्र"।

(१०) कल्कतरकारण—पाप रूप या पाप का कारण होने से "कल्कतरकारण"।

(११) वचना—असत्य के द्वारा दूसरे को ठगने का प्रयत्न किया जाता है।

माइमुसावाद असुइपावजीवी जीव
जीवाए तिवि तप्पतिय णो कप्पइ
आयरियत्त वा उवज्झायत्त व पवत्ति
वा थेरत्त वा गणधरत्त वा गणावच्छेदयत्त
वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा

(व्यवहार सूत्र)

ऐसा करते समय मनुष्य अपनी अन्तरात्मा को भी धोखा देता है। इसलिये 'वञ्चना ।

(१२) मिथ्यापश्चात्कृत—किसी काम को करके झूठ बोलकर उसे छिपाने की चेष्टा की जाती है अत मिथ्यापश्चात्कृत ।

(१३) साती—झूठ बोलने से विश्वास जाता रहता है। इसलिये साती ।

(१४) उच्छन्न—असत्य बोलकर अपने अवगुण तथा दूसरों के गुण छिपाने का प्रयत्न किया जाता है इसलिये "उच्छन्न' ।

(१५) उत्कूल—यह सत्य रूप किनारे से जीव को भटका देता है इसलिये उत्कूल'।

(१६) आर्त्त —क्योंकि असत्य बोलकर जीव दुःखी होते हैं अतएव "आर्त्त ।

(१७) अभ्याख्यान—किसी पर झूठा अभियोग लगाने से 'अभ्याख्यान ।

(१८) किल्बिष—असत्य पाप रूप है और पाप का कारण भी है इसलिये 'किल्बिष ।

(१९) वलय—कहीं से भी सीधा न होने से चूड़ी के आकार के समान सब जगह से टेढ़ा होने से 'वलय ।

(२) गहन—कुछ समय तक छिपा रहने से या अपलापकरण की प्रक्रिया में गहरा होने के कारण "गहन ।

(२१) मन्मन—झूठ सदा अस्पष्ट होता है, कभी स्पष्ट नहीं होता, इसलिये 'मन्मन ।

(२२) नूम—वास्तविकता से यह सदा दूर रहता है या यों कहना चाहिये कि यह वस्तु के स्वभाव को स्पष्ट नहीं होने देता इसलिये नूम ।

(२३) निकृति—अपने कपट तथा दोष को छिपाने के लिये बोला जाने के कारण निकृति"।

(२४) अप्रत्यय—झूठ बोलने से प्रत्यय-भरोसा नहीं रहता इसलिये 'अप्रत्यय' ।

(२५) असमय—असत्य भाषण सदा अनुचित है इसलिये असमय ।

(२६) असत्य संधत्व—किसी वस्तु के न होने पर भी उसका अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है इसलिये "असत्य संधत्व' ।

(२) विपक्ष—यह सत्य का विरोधी है इसलिये "विपक्ष ।

(२८) अपधीक—झूठ बोलने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है इसलिये अपधीक"।

(२९) उपधिशुद्ध—माया, छल एवं कपट के कारण अशुद्ध होने के कारण "उपधिशुद्ध"।

(३०) अवलोप—तथ्य का लोप करता है इसलिये इसे "अवलोप" कहते हैं।

इस प्रकार ये झूठ के ३० नाम कहे गये हैं। यह सदा ध्यान में रखना चाहिये कि झूठ बोलने वाले को ससार में कभी सुख तथा चैन नहीं मिल सकता। उसे सदा यही भय लगा रहता है कि कहीं उसकी कलई न खुल जाय। इसलिये वह एक असत्य को छिपाने के लिये दूसरा असत्य बोलता है और दूसरे को छिपाने के लिये तीसरा। इस प्रकार असत्य की परम्परा चलती रहती है और वह मनुष्य उससे छुटकारा नहीं पा सकता। झूठ बोलने के मुख्यतया चौदह कारण बताये गये हैं। अर्थात् मनुष्य इन चौदह कारणों म असत्य भाषण करता हे—

१ क्रोध--यह प्राय. देखा जाता है कि मनुष्य क्रोध में आकर सदसद् का विवेक खो बैठता है और झूठ बोल देता है।

२ मान—अभिमान के वशीभूत होकर तो प्राय लोग झूठ बोलते देखे जाते हैं। वे अपनी आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति के विषय में झूठ बोलते समय तनिक भी नहीं हिचकिचाते। झूठ के इस दायरे में तो संभवत एक लाख में से ९९९९९ व्यक्ति आजायगे। आर्थिक स्थिति के विषय में तो वचन से ही नहीं क्रियात्मक रूप में भी असत्य आचरण किया जाता है। प्रत्येक स्त्री पुरुष अपने आपको वह दिखाना चाहता है जो कुछ वह है नहीं। साधारण स्थिति के व्यक्ति मध्य वर्ग के और मध्यवर्ग वाले धनिकों के और धनिक अपने से भी ऊची स्थिति वालों के बराबर दिखाने की स्पर्धा में असत्य आचरण करते हैं। कोई विरला ही ऐसा व्यक्ति मिलेगा जो अपने आपको वही दिखाता है जो कुछ कि वह है। किसी के वेतन आदि व्यक्तिगत जीवन के विषय में जानकारी प्राप्त करना कुछ असभ्यता सी समझी जाती है। परन्तु यदि आप पूछेंगे तो सच्चा उत्तर नहीं पा सकेंगे। अधिकतर लोग अपना आय और व्यय अधिक बताते हैं। लेकिन एक सच्चे श्रावक को इस दोष से सदा बचते रहना चाहिये।

३ माया—इसका तो नाम ही माया है। यह तो है ही असत्य की खानि। माया की गाड़ी तो चलती ही असत्य के पहियों पर है।

अहिंसा के विषय में बता चुके हैं कि विवेक यत्ना में ही धर्म है। सत्य बोलते समय भी इस बात का विचार रखना चाहिये कि इस सत्य से किसी का अनहित तो नहीं होता, किसी का हृदय तो नहीं दुखता। कल्पना कीजिये, एक मनुष्य अन्धा है, यदि आप उसे अन्धा कहकर पुकारते हैं तो आप सत्य तो कह रहे हैं परन्तु उसका दिल दुखाकर। ऐसा सत्य वर्जित है, जिसका प्रयोजन दूसरे के अनहित या हृदय दुखाने के अतिरिक्त और कुछ न हो। मेरे कहने का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि प्रत्येक सत्य को दूसरे के हृदय दुखाने की तराजू पर तोलना पड़ेगा। मानलीजिये किसी का पुत्र डाका डालकर घर में माल ले आया है। अगर पिता सत्य बोलकर अपने पुत्र को गिरफ्तार करवा देता है, तो उसके पुत्र का और संभव है माता आदि अन्य सम्बन्धियों का हृदय दुखे, उनके दिल को चोट लगे तो क्या इतने ही मात्र से सत्यवादी पिता को असत्य बोल देना चाहिये? कदापि नहीं। उस समय सत्य बोलना ही उसका परम कर्तव्य एव धर्म है। इसी में उन सबका हित निहित है। ऐसे समय पर हृदय के दुखने का विचार करना अनर्थ परम्परा का जनक है। ऐसे अवसरों पर यदि दिल को दुखाने का बचाव किया जाय तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सभी का अनहित होगा। परन्तु काणे को काणा या अन्धे को अन्धा कहने में तो उनका हृदय दुखाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यदि ऐसा न कहा जाय तब हानि की तो कोई सम्भावना ही नहीं, वरन् लाभ अवश्य है कि उनका हृदय नहीं दुखता। ऐसे सत्य को ही नीति शास्त्रकारों तथा धर्म शास्त्रकारों ने अप्रिय सत्य के नाम से कहा है। भगवान् ने श्री उत्तराध्ययन सूत्र में अप्रिय सत्य बोलने का निषेध किया है तथा वाचलता और विकथा से दूर रह कर प्रिय एव मित भाषा बोलने का आदेश दिया है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि गृहस्थ के बारह व्रतों में से पहिले पाँच व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। इन्हें स्थूल व्रत भी कहते हैं। अणु या स्थूल कहने से यही अभिप्राय है कि गृहस्थ मोटे-मोटे असत्य का ही त्याग कर सकता है। ऐसे असत्य का जिससे दण्ड का भागी हो या चार भले आदमी बुरा समझें। ससार में रह कर सूक्ष्म असत्य का त्याग यदि असम्भव नहीं तो दुसाध्य अवश्य है। भगवान् महावीर स्वामी ने इस स्थूल असत्य के पाँच भेद बताये हैं। इन पाँचों से ही एक सद्गृहस्थ को बचते रहना चाहिए।

य इस प्रकार हैं:— कन्या, गो, भूमि धरोहर के रूप में रक्खी हुई चीज के विषय में और झूठी साक्षी देना। कन्या गो और भूमि शब्द उपलक्षण मात्र हैं। कन्या और गो क्रमशः मनुष्य और पशु जाति में श्रेष्ठ हैं। इसलिये इनके कहने से इन दोनों जातियों के विषय में बोले गये स्थूल झूठ का ग्रहण हो जाता है। तथा भूमि का ग्रहण भी यहाँ उपलक्षण से ही कहा जा सकता है और वह भूमि तथा उससे उत्पन्न सभी वस्तुओं के विषय में बोले गये झूठ के त्याग को बताता है। इसी प्रकार किसी की धरोहर या थाती के विषय में भी गृहस्थ को कभी झूठ नहीं बोलना चाहिए। आजकल तो बैंकों की व्यवस्था हो जाने से या बात बात में लिखत पढ़त की प्रथा के चल जाने से ऐसा कम ही सुनने में आता है परन्तु प्राचीन काल में ऐसी किसी व्यवस्था के न होने से ऐसा कभी-कभी हो जाता था कि कहीं जाते समय या यों ही सुरक्षा के विचार से एक व्यक्ति दूसरे को अपनी बहुमूल्य वस्तु सौंप देता था। और कदाचित लोभ के उत्पन्न हो जाने पर वह व्यक्ति उसकी रक्खी हुई वस्तु से ही नट जाता था। ऐसा करना एक सद्गृहस्थ के लिए त्याज्य है। इसी लिए शास्त्रकारों ने 'न्यासापहार' पद रक्खा है। बहुत से लोगों का मत है कि यह सब कुछ तो चोरी में गिना जा सकता है। परन्तु विचार करने पर हम इस परिणाम पर सरलता से पहुँच सकते हैं कि धरोहर रखी हुई वस्तु को 'मेरे पास रक्खी है' ऐसा स्वीकार न करना या निषेध कर देना तो झूठ बोलने में ही गिना जायेगा। हाँ उस वस्तु को नहीं देने की जो क्रिया है वह अवश्य चोरी में गिनी जा सकती है।

पाँचवाँ स्थूल झूठ है झूठी साक्षी देना। अपने या पराये स्वार्थवश न्यायालय में या पंचायत में किसी के विषय में झूठ बोलने को झूठी साक्षी कहते हैं। आजकल देखने तथा सुनने में आता है कि बहुत से लोग कुछ विशेष प्रलोभन मिल जाने पर ही झूठी गवाही दे देते हैं। विशेषतः देहात में यह बुराई अधिक फैली हुई है। देहात की शोचनीय अवस्था का एक कारण यह मुकदमेबाजी भी है। शहरों में भी कुछ लोग ऐसे हैं जिनका धन्धा ही साक्षी देना है। सुनते हैं वे न्यायालयों में बैठे रहते हैं और आवश्यकता पड़ने पर कुछ रुपये लेकर किसी की भी साक्षी दे देते हैं पहिचान कर देते हैं। परन्तु ऐसा करना श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है। झूठी गवाही को मनुस्मृति में भी महापाप बताया है। ब्राह्मण स्त्री तथा बालक की हत्या करने

वाले, मित्रद्रोही और कृतघ्नी की जो गति होती है वही झूठी गवाही देने वाले की बताई है।

प्रथम अहिंसाणु व्रत की भाँति ही द्वितीय सत्य अणुव्रत में भी पाँच प्रकार से दोष लग सकता है, उन दोषों को अतिचार भी कहते हैं। वे इस प्रकार हैं (१) मिथ्या दोष लगाना (२) किसी के एकान्त के मर्म को प्रकाशित करना (३) अपनी स्त्री के एकान्त के रहस्य को दूसरों के सामने प्रकाशित करना (४) मृषा उपदेश (५) जाली लेख लिखना। श्री समन्त भद्राचार्य ने कुछ हेर फेर करके न्यासापहार को अतिचारों में गिनाया है।

इस व्रत का पहिला अतिचार है किसी पर झूठा दोष लगाना। कहावत प्रसिद्ध है लोगों को अपनी आँख का शहतीर भी नहीं दीखता परन्तु दूसरों का तिनका भी दिखाई देता है। अभिप्राय यह है कि अपने बड़े-से-बड़े अवगुण लोग छिपाते हैं और दूसरों के छोटे-से-छोटे का भी ढिंढोरा पीटने लगते हैं। बहुत से लोगों का तो बिना दस-बीस मनुष्यों की निन्दा किये खाना ही नहीं पचता। आजकल तो इस काम के लिए समाचार पत्रों का भी दुरुपयोग किया जाता है। दूसरों पर झूठे दोष लगाने के लिए जाली या गुम नाम पत्र भी लिखे जाते हैं। चाहिए तो यह कि यदि किसी में कोई दोष है भी तो उसका ढिंढोरा पीटने की अपेक्षा दोषी को समझा कर मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया जाय। इसी में उसका हित निहित है। उसके दोष को सबके सामने प्रकाशित करने से तो उलटा वह शत्रु बन जायेगा। झूठा दोष लगाना गृहस्थ के सत्य अणुव्रत का अतिचार है इसलिए इससे उसे सदा बचते रहना चाहिए।

दूसरा अतिचार तो व्रत का भंग होने के साथ-साथ लौकिक सभ्यता के भी विरुद्ध है सबसे पहिले तो किसी के गुप्त रहस्य को जानने का प्रयत्न ही नहीं करना चाहिए यदि अनायास ज्ञात भी हो जाय तो उसे किसी और के सामने प्रगट करना तो अपने व्रत में दोष लगाना है। आजकल लोगों की मनोवृत्ति उत्तरोत्तर दूषित ही होती जा रही है। यदि वयस्क दो बहन-भाइयों को भी परस्पर बातें करते देख लेते हैं तो उनके कान खड़े हो जाते हैं और कुछ न कुछ गन्दी बातें ही उनके मन में चक्कर काटने लगती हैं। यह भी जानने को उनका मन करने लगता है कि वे क्या बातें कर रहे हैं। श्रावक को सदा इससे बचते रहना चाहिए।

तीसरा अतिचार है अपनी स्त्री की एकान्त में की हुई मर्मपूर्ण बातों को दूसरों के सामने प्रगट करना। इससे क्या-क्या अनर्थ परम्परा खड़ी हो जाती हैं यह संसारी लोगों से छिपा नहीं है। गुप्त बात को प्रगट करने के कई कारण हैं। बहुत से लोग शेखी में आकर ऐसा करते हैं, बहुत से गलती से और कुछ लोग स्त्री की उपेक्षा करके ऐसा करते हैं। लेकिन इन सब का परिणाम बड़ा भयंकर होता है। जो लोग उनके उस मर्म को सुनते हैं, वे सभी तो सज्जन नहीं होते। कुछ छिद्रान्वेषी तो अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं। कुछ उन पति-पत्नियों में फूट डलवा कर तमाशा देखते हैं। परिणाम यह होता है कि उनमें कलह होने लगती है। इसलिये भूल कर भी गृहस्थी को अपनी स्त्री की गुप्त बातें नहीं प्रगट करनी चाहियें। स्त्री सदा सम्मान की पात्री है। जहाँ उसका निरादर होता है वहाँ कभी कल्याण नहीं हो सकता:—

सम्मान पाती हैं नहीं जिनके घरों में नारियाँ।
उनके घरों पर सर्वदा ही पीटता जग तालियाँ॥
'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः''

इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि श्राविकाओं को यह अतिचार लग ही नहीं सकता। उन्हें भी समान रूप से ही लग सकता है। 'सदारमंतभेए' तो उपलक्षण मात्र है। पत्नी के द्वारा भी पति के गुप्त रहस्य को प्रकाशित करना समान रूप से वर्जित है।

चौथा अतिचार है मृषा उपदेश। किसी को झूठा उपदेश नहीं देना चाहिए। यदि कोई आपकी सम्मति लेता है तो उसे ठीक-ठीक सम्मति देनी चाहिए। अपने स्वार्थ के लिए उसे विपरीत राय देकर मार्ग से भटकाना दुहरा पाप है। पहिला तो विश्वासघात है। क्योंकि कोई व्यक्ति आपका विश्वास करके ही तो राय लेने आयेगा। दूसरा पाप है उसका उन्मार्ग पर डाला जाना। पता नहीं उसको किन अनर्थ परम्पराओं का सामना करना पड़े।

पांचवां अतिचार जाली लेख लिखना है। आजकल भौतिकवाद का बोलबाला है। लोग अन्तरात्मा की आवाज की तो परवाह ही नहीं करते। जैसे बने बस पैसा पैदा करना चाहते हैं। अमीरों के विषय में सुना जाता है वे बिना पढ़े-लिखे लोगों को २००) रु० देकर सरकारी कागज लिखा लेते हैं बाद में एक और शून्य बढ़ा दिया कि बस सैकड़ों के हजारों हो गए। घर बार सब

नीलाम। बहुत से लोग जाली प्रोनोट, दस्तावेज तैयार करने में ही अपनी बुद्धिमत्ता समझते हैं। जाली हस्ताक्षर करके बैंकों से रुपये उड़ाने के अपराध में भी बहुत से पकड़े जाते हैं। एक सद्गृहस्थ को सदा इन अतिचारों से बचते रहना चाहिये। तभी वह असत्य से बच सकता है।

तीसरा अतिचार है अपनी स्त्री की एकान्त में की हुई मर्मपूर्ण बा दूसरों के सामने प्रगट करना। इससे क्या-क्या अनर्थ परम्परा खड़ी हो हैं यह संसारी लोगों से छिपा नहीं है। गुप्त बात को प्रगट करने के कई हैं। बहुत से लोग शेखी में आकर ऐसा करते हैं, बहुत से गलती कुछ लोग स्त्री की उपेक्षा करके ऐसा करते हैं। लेकिन इन सब का बड़ा भयंकर होता है। जो लोग उनके उस मर्म को सुनते हैं, वे र सज्जन नहीं होते। कुछ छिद्रान्वेषी तो अनुचित लाभ उठाने का प्र हैं। कुछ उन पति-पत्नियों में फूट डलवा कर तमाशा देखते हैं। प होता है कि उनमें कलह होने लगती है। इसलिये भूल कर भी अपनी स्त्री की गुप्त बातें नहीं प्रगट करनी चाहियें। स्त्री सदा स पात्री है। जहाँ उनका निरादर होता है वहाँ कभी कल्याण नहीं हो

सम्मान पाती हैं नहीं जिनके घरों में नारियाँ।
उनके घरों पर सर्वदा ही पीटता जग तालियाँ॥
'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'

इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि श्राविकाओं को यह ही नहीं सकता। उन्हें भी समान रूप से ही लग सकता है। तो उपलक्षण मात्र है। पत्नी के द्वारा भी पति के गुप्त रहस्य करना समान रूप से वर्जित है।

चौथा अतिचार है मृषा उपदेश। किसी को मृषा उ चाहिए। यदि कोई आपकी सम्मति लेता है तो उसे ठीक चाहिए। अपने स्वार्थ के लिए उसे विपरीत राय देकर दुहरा पाप है। पहिला तो विश्वासघात है। क्योंकि व विश्वास करके ही तो राय लेने आयेगा। दूसरा पाप है डाला जाना। पता नहीं उसको किन अनर्थ परम्पराओं व

पांचवां अतिचार जाली लेख लिखना है। आजकल बाजा है। लोग [illegible] की आवाज को तो बरबाद करके धन पैदा करना चाहते हैं। [illegible] के किया गये किसे लोगों को १००) रु० देकर [illegible] में इक और दृश्य बना दिया कि [illegible]

वस्तु के ग्रहण करने का निषेध है तो बिना आज्ञा के उस वस्तु को ग्रहण करना अवश्य चोरी है और उससे गृहस्थ के अचौर्य अणुव्रत में दोष लगता है। एक विद्यार्थी अपने सहपाठी की अनुपस्थिति में यदि उसकी लेखनी लेकर अपना काम कर लेता है या एक पड़ौसी अपने दूसरे पड़ौसी की अनुपस्थिति में उसकी तराजू लेकर उससे कुछ तोल लेता है तो यह उस विद्यार्थी या पड़ौसी की चोरी नहीं कहलायगी क्योंकि ऐसा लौकिक व्यवहार है।

आजकल के इस तथा कथित सभ्य जगत में चोरी के ऐसे नाना प्रकार के मार्ग निकले हैं जो कानून की गिरफ्त में तो नहीं परन्तु जिनसे कुछ लोगों का खून तक चूस लिया जाता है। सामाजिक व्यवस्था को ही पहिले ले लीजिये। एक आदमी या बहुत से मिलकर कोई कारखाना चालू करते हैं। उसमें अनेकों कार्यकर्ताओं, हज़ारों मज़दूरों की आवश्यकता पड़ती है। मज़दूरों को काम पर लगा दिया जाता है। वे अपनी चोटी का पसीना एड़ी तक बहाकर परिश्रम करते हैं। महीने के अन्त में क्या उनको उनकी मज़दूरी का पूरा भाग मिल जाता है? कदापि नहीं। उन्हें तो कुछ थोड़ासा देकर टरका दिया जाता है। सारा मुनाफा मोटे २ पेट वालों के पास पहुंचता है। जिसपर उनका कोई अधिकार नहीं। उनके लगाये हुए रुपयों का उचित मुनाफा ही उनको दिया जाना चाहिये। शेष कारीगरों और मज़दूरों में। परन्तु ऐसा होता नहीं। इस तरह बड़े २ अमीर चोरी कर रहे हैं। इस अव्यवस्था को ठीक कौन करे? ठीक करने वालों का मुंह बन्द कर दिया जाता है। उनके हाथ खून में पहिले से ही रंगे हुए हैं। एक कंगाल, भूख का मारा यदि किसी की अठन्नी उठा लेता है तो उसे पुलिस के हवाले कर दिया जाता है। जेल में भेज दिया जाता है। परन्तु घूस लेने वाले बड़े २ कर्मचारी बेदाग़ बचे रहते हैं। उसपर भी तुर्रा यह है कि वे उस घूस को अपना 'हक' कह कर पुकारते हैं। गरीबों की चोरी, चोरी है, अमीरों की चोरी को हक कह कर पुकारा जाता है। क्या खूब? अपने कुत्ते का नाम कुतुबुद्दीन रख दिया गया है।

यही चोरी ज़मीदारी प्रथा में है। किसान कड़ी धूप, कड़ाके की सर्दी घनघोर वर्षा में खड़ा होकर परिश्रम करता है। अकेला ही नहीं बाल बच्चों को भी उसी में जुटाये रखता है। लेकिन फसल के समय उस पर दुहरी मार पड़ती है। जहाँ तक सरकारी लागान का प्रश्न है वह

: ५ :

अचौर्य

चल या अचल किसी भी प्रकार की वस्तु को उसके स्वामी की आज्ञा बिना अपने उपयोग में लाना या दूसरे को प्रेरित करना या करने वाले का अनुमोदन करना चोरी कहलाता है। जो किसी अन्य के स्वत्व में है उस पर अधिकार जमाने की भावना करना, या अधिकार का वचन बोलना या उस पर क्रियात्मक रूप से अधिकार कर लेना क्रमशः मानसिक वाचिक एवं कायिक चोरी कहलाती है। जो इन तीनों प्रकार की चोरियों से बचा रहता है वही सच्चा गृहस्थ है। मनुष्य का जीवन बहुत कुछ धन, धान्यादि पर निर्भर है। उन साधनों के अपहरण करने का तात्पर्य है किसी हद तक उसके स्वामी के प्राण हरण कर लेना। धन बाह्य प्राण समझा गया है। इसलिये धन की चोरी बाह्य प्राणों की चोरी है। चाहे फिर वह धन चल हो या अचल। प्राणों के घात करने से प्रथम अहिंसा अणुव्रत में भी दोष आता है। आचार्य अमित गति ने भी यही लिखा है :

> येऽप्यहिंसादयो धर्मास्तेऽपि नश्यन्ति चौर्यतः।
> मत्वेति न त्रिधा ग्राह्यं परद्रव्यं विचक्षणैः॥
> अर्थाः बहिश्चरा प्राणाः प्राणिनां येन सर्वथा।
> परद्रव्यं पश्यतः सन्त.यन्ति सदृशं मृदा॥

अर्थात् चोरी करने से अहिंसादि धर्म भी नष्ट होजाते हैं। ऐसा जानकर बुद्धिमान को चाहिये कि वह पराये धन को मन, वचन और कर्म से ग्रहण न करे। धन प्राणियों का बाह्य प्राण है इसलिये सन्त पुरुष दूसरे के धन को मिट्टी के समान समझते हैं। गृहस्थ स्थूल चोरी का ही त्याग कर सकता है, सूक्ष्म का नहीं। बहुत सी वस्तुएं ऐसी हैं जो सार्वजनिक है, जैसे मिट्टी जल, दतौन, फूल, फल, पत्ती इत्यादि। इनको किसी सार्वजनिक स्थान से लेते समय उसे किसी से पूछना नहीं पड़ेगा। न ऐसा करने से उसके अचौर्य अणुव्रत में ही कोई दोष आता है। हाँ यदि सार्वजनिक स्थान पर भी किसी

वस्तु के ग्रहण करने का निषेध है तो बिना आज्ञा के उस वस्तु को ग्रहण करना अवश्य चोरी है और उससे गृहस्थ के अचौर्य अणुव्रत में दोष लगता है। एक विद्यार्थी अपने सहपाठी की अनुपस्थिति में यदि उसकी लेखनी लेकर अपना काम कर लेता है या एक पड़ौसी अपने दूसरे पड़ौसी की अनुपस्थिति में उसकी तराजू लेकर उससे कुछ तोल लेता है तो यह उस विद्यार्थी या पड़ौसी की चोरी नहीं कहलायगी क्योंकि ऐसा लौकिक व्यवहार है।

आजकल के इस तथा कथित सभ्य जगत में चोरी के ऐसे नाना प्रकार के मार्ग निकले हैं जो कानून की गिरफ्त में तो नहीं परन्तु जिनसे कुछ लोगों का खून तक चूस लिया जाता है। सामाजिक व्यवस्था को ही पहिले ले लीजिये। एक आदमी या बहुत से मिलकर कोई कारखाना चालू करते हैं। उसमें अनेकों कार्यकर्ताओं, हज़ारों मज़दूरों की आवश्यकता पड़ती है। मज़दूरों को काम पर लगा दिया जाता है। वे अपनी चोटी का पसीना एड़ी तक बहाकर परिश्रम करते हैं। महीने के अन्त में क्या उनको उनकी मज़दूरी का पूरा भाग मिल जाता है? कदापि नहीं। उन्हें तो कुछ थोड़ासा देकर टरका दिया जाता है। सारा मुनाफा मोटे २ पेट वालों के पास पहुंचता है। जिसपर उनका कोई अधिकार नहीं। उनके लगाये हुए रुपयों का उचित मुनाफा ही उनको दिया जाना चाहिये। शेष कारीगरों और मज़दूरों में। परन्तु ऐसा होता नहीं। इस तरह बड़े २ अमीर चोरी कर रहे हैं। इस अव्यवस्था को ठीक कौन करे? ठीक करने वालों का मुंह बन्द कर दिया जाता है। उनके हाथ खून में पहिले से ही रंगे हुए हैं। एक कंगाल, भूख का मारा यदि किसी की अठन्नी उठा लेता है तो उसे पुलिस के हवाले कर दिया जाता है। जेल में भेज दिया जाता है। परन्तु घूस लेने वाले बड़े २ कर्मचारी बेदाग़ बचे रहते हैं। उसपर भी तुर्रा यह है कि वे उस घूस को अपना 'हक' कह कर पुकारते हैं। गरीबों की चोरी, चोरी है, अमीरों की चोरी को हक कह कर पुकारा जाता है। क्या खूब? अपने कुत्ते का नाम कुतुबुद्दीन रख दिया गया है।

यही चोरी ज़मींदारी प्रथा में है। किसान कड़ी धूप, कड़ाके की सर्दी घनघोर वर्षा में खड़ा होकर परिश्रम करता है। अकेला ही नहीं बाल बच्चों को भी उसी में जुटाये रखता है। लेकिन फसल के समय उस पर दुहरी मार पड़ती है। जहाँ तक सरकारी लगान का प्रश्न है वह

: ५ :

अचौर्य

चल या अचल किसी भी प्रकार की वस्तु को उसके स्वामी की आज्ञा बिना अपने उपयोग में लाना या दूसरे को प्रेरित करना या करने वाले का अनुमोदन करना चोरी कहलाता है। जो किसी अन्य के स्वत्व में है उस पर अधिकार जमाने की भावना करना, या अधिकार का वचन बोलना या उस पर क्रियात्मक रूप से अधिकार कर लेना क्रमश. मानसिक वाचिक एवं कायिक चोरी कहलाती है। जो इन तीनों प्रकार की चोरियों से बचा रहता है वही सच्चा गृहस्थ है। मनुष्य का जीवन बहुत कुछ धन, धान्यादि पर निर्भर है। उन साधनों के अपहरण करने का तात्पर्य है किसी हद तक उसके स्वामी के प्राण हरण कर लेना। धन बाह्य प्राण समझा गया है। इसलिये धन की चोरी बाह्य प्राणों की चोरी है। चाहे फिर वह धन चल हो या अचल। प्राणों के घात करने से प्रथम अहिंसा अणुव्रत में भी दोष आता है। आचार्य अमित गति ने भी यही लिखा है :

> येऽप्यहिंसादयो धर्मास्तेऽपि नश्यन्ति चौर्यतः।
> मत्वेति न त्रिधा ग्राह्यं परद्रव्यं विचक्षणैः॥
> अर्थाः बहिश्चरा प्राणाः प्राणिनां येन सर्वथा।
> परद्रव्यं परत्ततः सन्त.यन्ति सदृशं मृदा॥

अर्थात् चोरी करने से अहिंसादि धर्म भी नष्ट होजाते हैं। ऐसा जानकर बुद्धिमान को चाहिये कि वह पराये धन को मन, वचन और कर्म से ग्रहण न करे। धन प्राणियों का बाह्य प्राण है इसलिये सन्त पुरुष दूसरे के धन को मिट्टी के समान समझते है। गृहस्थ स्थूल चोरी का ही त्याग कर सकता है, सूक्ष्म का नहीं। बहुत सी वस्तुएं ऐसी हैं जो सार्वजनिक है, जैसे मिट्टी जल, दतौन, फूल, फल, पत्ती इत्यादि। इनको किसी सार्वजनिक स्थान से लेते समय उसे किसी से पूछना नहीं पड़ेगा। न ऐसा करने से उसके अचौर्य अणुव्रत में ही कोई दोष आता है। हाँ यदि सार्वजनिक स्थान पर भी किसी

वस्तु के ग्रहण करने का निषेध है तो बिना आज्ञा के उस वस्तु को ग्रहण करना अवश्य चोरी है और उससे गृहस्थ के अचौर्य अणुव्रत में दोष लगता है। एक विद्यार्थी अपने सहपाठी की अनुपस्थिति में यदि उसकी लेखनी लेकर अपना काम कर लेता है या एक पड़ौसी अपने दूसरे पड़ौसी की अनुपस्थिति में उसकी तराजू लेकर उससे कुछ तोल लेता है तो यह उस विद्यार्थी या पड़ौसी की चोरी नहीं कहलायगी क्योंकि ऐसा लौकिक व्यवहार है।

आजकल के इस तथा कथित सभ्य जगत में चोरी के ऐसे नाना प्रकार के मार्ग निकले हैं जो कानून की गिरफ्त में तो नहीं परन्तु जिनसे कुछ लोगों का खून तक चूस लिया जाता है। सामाजिक व्यवस्था को ही पहिले ले लीजिये। एक आदमी या बहुत से मिलकर कोई कारखाना चालू करते हैं। उसमें अनेकों कार्यकर्ताओं, हज़ारों मज़दूरों की आवश्यकता पड़ती है। मज़दूरों को काम पर लगा दिया जाता है। वे अपनी चोटी का पसीना एड़ी तक बहाकर परिश्रम करते हैं। महीने के अन्त में क्या उनको उनकी मज़दूरी का पूरा भाग मिल जाता है? कदापि नहीं। उन्हें तो कुछ थोड़ासा देकर टरका दिया जाता है। सारा मुनाफा मोटे २ पेट वालों के पास पहुंचता है। जिसपर उनका कोई अधिकार नहीं। उनके लगाये हुए रुपयों का उचित मुनाफा ही उनको दिया जाना चाहिये। शेष कारीगरों और मज़दूरों में। परन्तु ऐसा होता नहीं। इस तरह बड़े २ अमीर चोरी कर रहे हैं। इस अव्यवस्था को ठीक कौन करे? ठीक करने वालों का मुंह बन्द कर दिया जाता है। उनके हाथ खून में पहिले से ही रंगे हुए हैं। एक कंगाल, भूख का मारा यदि किसी की अठन्नी उठा लेता है तो उसे पुलिस के हवाले कर दिया जाता है। जेल में भेज दिया जाता है। परन्तु घूस लेने वाले बड़े २ कर्मचारी बेदाग़ बचे रहते हैं। उसपर भी तुर्रा यह है कि वे उस घूस को अपना 'हक' कह कर पुकारते हैं। गरीबों की चोरी, चोरी है, अमीरों की चोरी को हक कह कर पुकारा जाता है। क्या खूब? अपने कुत्ते का नाम कुतुबुद्दीन रख दिया गया है।

यही चोरी ज़मीदारी प्रथा में है। किसान कड़ी धूप, कड़ाके की सर्दी घनघोर वर्षा में खड़ा होकर परिश्रम करता है। अकेला ही नहीं बाल बच्चों को भी उसी में जुटाये रखता है। लेकिन फसल के समय उस पर दुहरी मार पड़ती है। जहाँ तक सरकारी लागान का प्रश्न है वह

तो उचित है, क्योंकि सरकार उसके बदले में पुलिस और फौज द्वारा देश की रक्षा करती है। परन्तु जमींदार जो बीच में वसूल करता है वह सरासर चोरी है। क्योंकि उसका तो कोई अधिकार ही नहीं। और बिना अधिकार की वस्तु ग्रहण करना चोरी है। उचित मुनाफा न लेकर अनाप-शनाप जो भी मिल जाय ग्राहक से ले लेने में भी चोरी है। कठिनाई यह है कि जब कोई बुराई पढ़े-लिखे लोगों में घुस जाती है तो वह अधिक भयंकर हो उठती है। चोरी के विषय में आज कुछ-कुछ यही बात है। जो किसी को चार आने की चोरी करने पर सजा दे सकते हैं वे ही हजारों की घूस डकार जाते हैं। उन्हें क्या अधिकार है कि वे दूसरों को सजा दें। किसी को सजा तो वही दे सकता है जो स्वयं उस अपराध को नहीं करता है।

किसी राजा के राज्य में एक चोर ने बड़ी साहसपूर्ण चोरी की। राजा के महल में ही उसने सेंध लगा दी। परन्तु वह संयोग वश रंगे हाथों पकड़ा गया। राज दरबार में उपस्थित किये जाने पर राजा ने उसे पत्थरों से मारने की सजा सुना दी। राजा ने कहा कि शहर से बाहर के बड़े मैदान में चोर और बहुत से पत्थरों के टुकड़े रख दिये जायँ। नगर में घोषणा कर दी जाय कि नगर का प्रत्येक वयस्क मैदान में जाय और एक पत्थर इस चोर के मारे। घोषणा कर दी गई। निश्चित समय पर लोग एकत्रित होने लगे। वे पत्थर मारना आरम्भ करने ही वाले थे कि एक महात्मा उधर से आ निकले और लोगों से बोले खबरदार! इस चोर के वही व्यक्ति पत्थर मार सकता है जिसने अपने जीवन में किसी भी प्रकार की चोरी न की हो। महात्मा के वचनों का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वे सभी विचार में पड़ गये और धीरे धीरे अपने हाथों के पत्थरों को फेंक कर अपने-अपने घरों को चले गये। एक भी पत्थर उस चोर के नहीं लगा। कर्मचारियों ने यह समाचार राजा को दिया। राजा सुन कर आग बबूला हो गया। महात्मा को दरबार में लाया गया। राजा ने उनसे पूछा कि "आपने मेरे नागरिकों को क्यों भड़का दिया? आपने शासन प्रबन्ध में हस्तक्षेप करके अच्छा नहीं किया है आदि"। "महात्मा बोले 'राजन् अपराधी को अपराधी दण्ड नहीं दिया करता। क्या आप किसी-न-किसी रूप में दूसरों का हक नहीं हड़पते? यदि हाँ तो आप भी चोर हैं। फिर आप इसको कैसे सजा दे सकते हैं?" राजा यह सुन कर दंग रह गया और उसने उसी समय चोर को मुक्त कर दिया।

इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि अपराधी को उसके अपराध का दण्ड ही नहीं दिया जाना चाहिए। परन्तु जैसे अपराधी को दण्ड मिलना आवश्यक है वैसे ही वरन् उससे भी अधिक आवश्यक है अधिकारियों की मनोवृत्ति की शुद्धि। एक रूप में उनको पहिले दण्ड मिलना चाहिए। क्योंकि वे चोर ही नहीं डाकू, लुटेरे और ठग भी हैं। क्योंकि किसी वस्तु के स्वामी की अनुपस्थिति में उसकी आज्ञा बिना उस वस्तु को लेना चोरी और उसकी उपस्थिति में ही बलात् या धोखे से लेना डाका या ठगी कहलाती है। अपढ़ या असभ्य लोगों की ठगी और डाकेजनी को रोकना सरल है क्योंकि वे रहन-सहन और सूरत शक्ल से भी पहिचान में आ जाते हैं परन्तु इन सभ्य कहलाने वाले पढ़े-लिखे डाकुओं और ठगों को पकड़ना बड़ा कठिन है।

इन तथा अन्य सभी बातों का विचार करके भगवान् ने प्रश्न व्याकरण सूत्र में चोरी के गुण के अनुसार तीस नाम कहे हैं। (१) चोरी (२) दूसरे के अधिकार को छीनने से परहृत (३) बिना दिये ही पराया माल हड़प कर लिया जाता है इसलिए 'अदत्त' (४) यह काम क्रूर मनुष्यों का है इसलिए 'क्रूर कृत' (५) पराये धन से लाभ उठाया जाता है इसलिए 'परलाभ' (६) इसमें संयम का विवेक नहीं रहता इसलिए 'असंयम' (७) पराये धन में गृद्धता (लालच) बनी रहती है इसलिए 'परधनगृद्धि' (८) पराये धन को हरण करने के लिए सदा उतावलापन बना रहता है इसलिए 'लौल्य' (९) पराये धन की चोरी की जाती है इसलिए 'तस्करत्व' (१०) अन्य के धन का हरण किया जाता है इसलिए 'अपहार' (११) इस काम में हाथ की सफाई अपेक्षित है इसलिए 'हस्तलाघव' (१२) यह पाप ही तो है, इसलिए 'पाप-कर्म करण' (१३) अस्तेय का विरोधी होने से 'स्तेय' (१४) पराया धन नष्ट हो जाता है, इसलिए 'हरण विप्रणाश' (१५) पराया धन ले लिया जाता है, इसलिए 'आदान' (१६) पराये धन को लुप्त कर दिया जाता है, अतएव 'धन लोपन' (१७) जो चोरी करता है उसका विश्वास नहीं रहता, इसलिए 'अप्रत्यय' १८) इससे दूसरे को पीड़ा पहुँचती है, अतएव 'अवपीड़' (१९) पराये धन को छीन लेने से, (२०) विशेपतया छीनने से (२१) सभी प्रकार से छीन लेने से क्रमश 'आक्षेप क्षेप' एवं विक्षेप (२२) चोरी में छल कपट का मिश्रण होने से 'कूटता' (२३) चोरी करने वाला कुल कलंकी हो जाता है,

अतएव 'कुलमसि' (२४) पराये धन की सदा लालसा बनी रहती है, इसलिए 'कांवा' (२५) चोर को गिड़गिड़ाना पड़ता है, अतः 'लालपन प्रार्थना', (२६) चोर सदा दुःखी रहता है, अतः 'व्यसन' (२७) पराये धन को हड़पने की गहरी इच्छा होने से 'इच्छा मूर्च्छा' (२८) बहुत ही अधिक इच्छा होने से 'तृष्णा गृद्धि' (२६) माया का भी सहारा लेना पड़ता है, अतः 'निकृति कर्म' (३०) स्वामी की पीठ पीछे उसका धन लिया जाता है, अतः 'अप्रत्यक्ष'।

चोरी सात कुव्यसनों में से एक है। यह व्यसन जब लग जाता है फिर छूटना कठिन है। प्रबल प्रयत्न करने पर भी यह आदत किसी-न-किसी अंश में बनी ही रहती है। एक कहावत प्रसिद्ध है 'चोर चोरी से गया' तो क्या हेरा-फेरी से भी गया। कोई प्रख्यात चोर संयोगवश कुछ संन्यासियों की संगत में आ गया। उनकी शिक्षा सुनते-सुनते उसने चोरी करनी तो छोड़ दी, परन्तु रात को जब सब सो जाते तो यह उठ बैठता और इस साधु की तूँबी उसके पास और उसकी किसी और के पास रख देता। सुबह उठते ही संन्यासियों में हलचल मच जाती। तूँबियों के इधर-उधर हो जाने से बड़ी अव्यवस्था फैलती। एक रात को तुम्बाफेरी करते समय उसे किसी ने देख लिया। जब प्रधान साधु ने उससे पूछा कि तू ऐसा क्यों करता है? तो उसने कहा, महाराज, मैंने चोरी तो आपके कहने से छोड़ दी पर यह तुम्बाफेरी नहीं छोड़ सकता। ऐसा किये बिना मुझे चैन ही नहीं पड़ता।

वास्तव में चोरी की आदत बचपन से ही किसी-न-किसी रूप में लग जाती है। प्रत्येक चोर पहिले अपने घर पर चोरी करना सीखता है। बचपन में छोटी छोटी चीजों पर वह हाथ साफ करता है। यदि इस समय उसे न रोका जाय तो धीरे-धीरे वह बड़ी-बड़ी चीजें चुराता है। फिर भी न रोका जाने पर पड़ोसियों के घर हाथ मारना आरम्भ कर देता है। स्कूल में सहपाठियों की छोटी-मोटी वस्तुयें उठाता है। आदत अपना भयंकर रूप धारण करती जाती है। वह चोरी की कला में निपुण हो जाता है। धीरे-ध[illegible] और फिर बाहर भी चोरी करने लगता है।

एक बालक को इसी प्रकार चोरी की आदत पड़ [illegible] ही छोटी-मोटी चीजें उठा ले जाता। माता लाड़ के मारे [illegible] । बच्चे का हौसला बढ़ता [illegible] पड़ौस, पड़ौस

भी मुहल्ले में उसने हाथ मारना आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे प्रसिद्ध चोर बन गया। एक दिन वह राज महल में चोरी करने के लिए घुस गया। कोई पहरेदार जाग रहा था। उसके साथ उसकी हाथापाई हो गई। चोर ने पहरेदार का खून कर दिया। परन्तु और पहरेदारों के भी जाग जाने से वह पकड़ा गया। कानून ने उसे फाँसी की सजा दी। जब नियमानुसार फाँसी से पूर्व उससे पूछा गया कि तू क्या चाहता है? तो उसने अपनी माता से मिलने की इच्छा प्रगट की। माता के आ जाने पर उसने अपनी माता से कहा कि आज मैं मर रहा हूँ। मैं तुझे प्यार कर लेना चाहता हूँ। अतः तू अपनी जीभ मेरे मुख में रख दे। माता ने ऐसा ही किया। उसने माता की जीभ ही काट ली। जब अधिकारियों ने उससे पूछा तो उसने कहा कि यह मेरी माता की जीभ ही है जो मेरी फाँसी का कारण बनी। बचपन में जब मैं छोटी-छोटी चोरी करने लगा था, उस समय यदि यह अपनी जीभ से मना कर देती तो आज मैं इतना बड़ा चोर न बन गया होता। न मुझे फाँसी ही हुई होती।

चोरी करने के कारण और चोर की पहिचान

चोरी के विषय में अभी मैंने कहा है कि यह एक व्यसन है जो पूर्व संस्कारों और वर्तमान की असावधानी से लग जाता है इसके लिये यह कहना कि गरीब ही चोरी करते हैं या अपढ़ ही, ठीक नहीं। बड़े बड़े अमीरों को चोरी करते या डाका डालते देखा गया है। इस विषय में भगवान् ने श्री प्रश्न व्याकरण सूत्र में विस्तार से उपदेश दिया है। उन्होंने कहा है कि जो पराये धन को उठा लेने में प्रवीण है; जो समय को पहचानते और साहसी हैं, जो हाथ की सफाई जानते हैं वे ही चोरी करते हैं। जो आडम्बर द्वारा अपनी असलियत को छिपाकर, मीठे बोलकर दूसरों को ठगते हैं वे चोर हैं। देश या समाज से निकाला हुआ, धन का लोभी, जुआरी, मर्यादा रहित, चोरी के काम में बाधा डालने वाले की तथा धनी की हत्या करने वाला, गाँव नगर और वन में आग लगा देने में भी न चूकने वाला मनुष्य चोरी करता है। ऋण लेकर न देने वाला, सेंध लगाने वाला, अच्छे राजा का बुरा चीतने वाला, चोरों को सहायता देने वाला भी चोर है। चोर बलात् या छिपकर, गाँठ काट कर तथा अन्य उपायों से दूसरे का धन, स्त्री, पुरुष, दास, दासी तथा पशु आदि चुरा लेते हैं। उसी स्थान पर आगे चलकर उन्होंने फरमाया

है कि निर्दयी तथा जिन्हें लोक परलोक से भय नहीं, जो धन धान्य से परिपूर्ण देशों, गाँवों, नगरों तथा खानों को लूटकर नष्ट भ्रष्ट कर देते हैं वे चोर हैं सदा चोरी की बुद्धि रखने वाले, कठोर हृदय, निर्लज्ज, चोर लोगों के घर में सेंध लगाकर धन हरण कर लेते हैं। सोते हुओं का भी धन उठा लेते हैं। इन धन के लालचियों को समय असमय अच्छे या बुरे स्थान का विचार नहीं होता। जहाँ खून की नदी बहती है वहाँ, मुर्दों के ढेर में, घूमते हुए भूत प्रेतादि के बीच, घोर शब्द करते हुये हिंस पशुपक्षियों में, घोर श्मशान में, शून्य मकानों में, गुफाओं में, सर्पादियुक्त वीरान जंगलों में, ये लोग चले जाते हैं। सर्दी गर्मी की भयानक पीड़ा भी सहते हैं। ऐसे स्थानों पर रहकर ये लोग भूख लगने पर कभी तो नाना प्रकार के माल उड़ाते हैं और कभी पेड़ों की छाल या जड़ें खाकर ही दिन काटते हैं। जैसे भयानक भेड़िया मर माँस की तलाश में घूमता ही रहता है उसी प्रकार ये लोग भी पराये धन की तलाश में इधर उधर चक्कर ही काटते रहते हैं। इन्हें नरक और तिर्यञ्च गतियों की सी यातनाएँ यहीं मिलती हैं। सज्जन सदा इनकी निन्दा करते हैं। ये लोग पापी हैं तथा राजाज्ञा के विरोधी हैं। अन्य प्राणियों को दुःख देते तथा स्वयं भी ये लोग दुःखी ही रहते हैं।

धर्म स्नेही बन्धुओ ! आपने बड़े २ प्रख्यात चोर और डाकुओं को देखा या इनके विषय में सुना अवश्य होगा। वे जीवन में लाखों, करोड़ों की चोरी करते तथा डाके मारते हैं। परन्तु आपने किसी को भी लखपति या करोड़पति बनते न देखा होगा। कहावत भी प्रसिद्ध है-—'चोरी का धन मोरी में जाता है।' याद रखिये सदा परिश्रम से कमाया हुआ पैसा ही काम आता है। पाप से पैदा किये हुए पैसे को डाक्टर या वैद्य ही ले जाते हैं। चोरी महा नीच कर्म है। चोरी करने वाले की सामाजिक स्थिति सबसे अधिक दयनीय है। एक तरह से तो उसकी समाज में कोई स्थिति ही नहीं रहती। वह असामाजिक प्राणी है। अतएव इससे बचने के लिये भगवान् ने गृहस्थों के लिये स्थूल अचौर्य का उपदेश दिया है।

स्थूल चोरी के दो भेद किये हैं। सचित्त और अचित्त। मनुष्य, पशु, पक्षी तथा वृक्षादि सजीव की चोरी सचित्त अदत्तादान और सोना, चाँदी, वस्त्र पात्रादि अजीव पदार्थों की चोरी अचित्त अदत्ता दान है। इस व्रत के भी पाँच अतिचार बताये हैं। वे गृहस्थ को अच्छी भांति जान लेने चाहिये।

उनका आचरण नहीं करना चाहिये । वे अतिचार इस प्रकार हैं--
(१) स्तेनाहृत (२) तस्कर प्रयोग (३) विरुद्ध राज्यातिक्रम (४) कूट तोल कूटमान (५) स्तत् प्रति रूपक व्यवहार ।

(१) स्तेनाहृत का अर्थ ही है चोर द्वारा लाई हुई अर्थात् चोरी की वस्तु को खरीदना अचौर्य अणुव्रत का पहिला दोष है। बहुत से लोग चोरी की वस्तु को खरीद लेते हैं। ऐसा वे लालच में आकर ही करते हैं। क्योंकि चोरी की वस्तु स्वभावतः सस्ती मिल जाती है। बहुत से लोग तो धन्धा ही यह करते हैं। वे चोरी के माल को गलाते हैं। परन्तु उनको यह नहीं भूल जाना चाहिये कि वे भी चोर हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि पकड़े जाने पर उनको भी चोरों की भांति दण्ड मिलता है। खरीदी हुई वस्तु को सरकार बलात् जब्त करके उसके असली स्वामी को सौंपने का प्रयत्न करती है। इसीलिये एक सद्गृहस्थ को चोरी का सामान नहीं खरीदना चाहिये ।

(२) दूसराअतिचार है तस्कर प्रयोग । तस्कर प्रयोग का अर्थ चोर की सहायता करना या प्रेरणा करना है । चोरी के लिये कई प्रकार से प्रेरित किया जा सकता है । बहुत से लोग दिन में चोरों को ठहरने के लिये स्थान दे देते हैं। उन्हें खाना खिलाते हैं। रात को वे ही चोर जहाँ मौका मिलता है, हाथ साफ कर देते हैं। इसलिये चोरों को स्थान, खाना, पीना देना भी चोरी की प्रेरणा करना है। चोरों की जमानत देना, उनकी पैरवी करना आदि भी प्रेरणा में सम्मिलित हैं। इन सबसे श्रावक को बचते रहना चाहिये ।

(३) तीसरा अतिचार विरुद्ध राज्यातिक्रम है। अर्थात् एक अच्छे नागरिक को राज्य या अच्छे राजा के विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिये। राज्य के अन्दर व्यवस्था का होना प्रत्येक नागरिक के हित में है। अव्यवस्था प्रत्येक के लिये असुविधा जनक है । आन्तरिक व्यवस्था फौज या पुलिस के बल पर नहीं रक्खी जा सकती। उसके लिये प्रत्येक नागरिक का सहयोग अपेक्षित है और वह सहयोग राज्य के कानून का पालन है। इसका यह, अर्थ कदापि नहीं कि राजा या राज्य जैसा भी उलटा सीधा विधान बनादे उसे नतमस्तक स्वीकार कर लेना चाहिये । जो विधान राष्ट्र या समाज हित के विरुद्ध है तथा उन्हें शक्तिहीन बनाने के लिये बनाया गया है, ऐसे विधान का डटकर तथा खुले शब्दों में विरोध करना चाहिये। विरोध उसी विधान का करना निषिद्ध

है जो देश तथा समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिये बनाया गया है। आयकर, भूमिकर या सीमाकर को किसी प्रकार न देने की सोचना भी विरुद्ध राज्यातिक्रम है। ऐसा सद्गृहस्थ को नहीं करना चाहिये।

(४) चौथा अतीचार कूटतुला कूटमान है। अर्थात् निश्चित तोल माप से कम या अधिक तोलना या मापना। बहुत से लोग देखते २ ही कम तोल देते हैं जिसे डण्डी मारना कहते हैं। जब स्वयं कोई चीज लेनी होती है तो अधिक तोल लेते हैं। ऐसा श्रावक को कभी नहीं करना चाहिये। बहुत से लोग माप तोल के उपकरण ही दो प्रकार के रखते हैं कम तथा अधिक, जब देना होता है तो कम वालों से दे देते हैं तथा जब लेना होता है तो अधिक ले लेते हैं। ऐसा करना चोरी है। श्रावक को कभी नहीं करना चाहिए।

(५) पाँचवां तत्प्रतिरूप व्यवहार है। अर्थात् बहुमूल्य वस्तु में खपने वाली अल्प मूल्य की वस्तु किसी को दे देना या अच्छी वस्तु दिखाकर खराब दे देना। आजकल चटपट अमीर बनने की भावना वाले इस युग में न जाने क्या-क्या धोखा धड़ी चल रही हैं। आप लोग बाजार में देखते हैं नमूने की चीज बड़ी सुन्दर रक्खी जाती है परन्तु देने की चीज वैसी नहीं होती। प्रत्येक वस्तु में मिलावट है। शुद्धरूप से कोई चीज मिलनी प्रायः असंभव हो रही है। घी लेने जाइये, घासलेट मिलेगा और यदि घासलेट लेने जाओगे तो मूंगफली का तेल और यदि मूंगफली का तेल लेना हो तो कुछ और, यदि कुछ और लेना हो तो कुछ और मिलेगा। मतलब है कि शुद्ध वस्तु जो आप चाहें सो मिलनी कठिन है। यह सब चोरी है। श्रावक को इस प्रकार की मनोवृत्ति से सदा बचना चाहिये।

: ६ :

ब्रह्मचर्य

यह एक निर्विवादित तथ्य है कि सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, परन्तु जीवन है क्या ? जीवन का रहस्य क्या है ? जीवन का वास्तविक आनन्द कैसे प्राप्त किया जाता है ? यह बहुत थोड़े लोग जानते हैं। कहा जा सकता है कि ऐसे मनुष्य संसार में उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। क्या घुटनों पर हाथ रख कर उठना, चार डग चलकर हाँपने लगना भी कोई जीवन है ? जिसके सामने बहू बेटियों का धर्म लुट रहा हो और जो खड़ा २ ताकता रहे, क्या उसे भी असली अर्थों में जीवित कहा जा सकता है ? कदापि नहीं। ऐसे लोगों को चलते फिरते मुर्दे कहना अधिक उपयुक्त होगा। आखिर उसकी यह दशा होती क्यों है ? इसका एक ही उत्तर है, ब्रह्मचर्य व्रत की उपेक्षा करने से। वास्तव में ब्रह्मचर्य जीवन तथा व्यभिचार मृत्यु है।

ब्रह्मचर्य का सीधा अर्थ है आत्म रमण-आत्म चिन्तन। यह आत्मरमण जिस प्रकार से भी सम्भव है वह सभी प्रक्रिया ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत माननी चाहिये। आत्मरमण बिना इन्द्रियों और मन के उचित नियंत्रण के नहीं हो सकता। अतः इन्द्रियों को उनके विषयों से निवृत्त करके, मन और बुद्धि को वश में करके, आत्म चिन्तन का नाम ब्रह्मचर्य है। परन्तु आज मैं ब्रह्मचर्य के इस विस्तृत क्षेत्र के विषय में न कहकर वीर्य रक्षा रूप ब्रह्मचर्य के विषय में ही कुछ कहूँगा और यही अर्थ अधिक प्रचलित है।

भगवान् ने ब्रह्मचर्य व्रत के दो विभाग किये हैं-महाव्रत और अणुव्रत। हिन्दू शास्त्रों में इसी की व्याख्या नैष्ठिक तथा उपकुर्वाण ब्रह्मचारी के रूप में की गई है। जो साधु मुनिराज तथा साध्वी सर्वथा रूपेण स्त्री तथा पुरुष संसर्ग से पृथक् रहते हैं वे सर्वविरति अथवा नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते हैं तथा जो अपनी विवाहिता स्त्री में संतोष करके संसार की शेष स्त्रियों को माता तथा भगिनी एवम् पुत्री के रूप में देखते हैं वे देशविरति अथवा उपकुर्वाण ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

ब्रह्मचर्य की महिमा

ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करना छद्मस्थ की शक्ति से परे की बात है। केवली कथित शास्त्र इसकी महिमा पुकार २ कर गा रहे हैं —

' देव दाणव गन्धव्वा, जक्खरक्खस्स किन्नरा ।
ब्रह्मचारी नमस्संति दुक्करं जे करेन्ति ते ॥''

अर्थात् देवता, दानव, गन्धर्व यक्ष राक्षस, किन्नर इत्यादि सभी उस ब्रह्मचारी के चरणों में झुक जाते हैं जो इस दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है। वास्तव में देखा जाय तो यह कथन अक्षरशः सत्य है। इसमें अत्युक्ति का लेश भी नहीं। इतना ही नहीं अपितु परस्पर विरोधी तथा स्वाभाविक शत्रु भी ब्रह्मचारी के समक्ष अपने विरोध तथा वैर को भूल जाते हैं। यह ब्रह्मचर्य के तेज का ही प्रभाव मानना पड़ेगा। हुँकार मात्र से पृथ्वी के कंपाने वाले बाहुबलि तथा महाभारत के अद्वितीय वीर भीष्म पितामह जमीन फोड़कर या आसमान फोड़कर नहीं पैदा हुए थे। वे भी अन्य मनुष्यों की भांति अपनी २ माताओं के गर्भ से ही उत्पन्न हुए थे। परन्तु यह ब्रह्मचर्य की महिमा है कि वे इतने महान् बन गए।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, रूप, पुरुषार्थ की सिद्धि शरीर से ही संभव है "शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्"। परन्तु रोगी शरीर से धर्म तो क्या साधारण दुनियादारी के काम भी नहीं हो सकते। स्वस्थ शरीर से ही धार्मिक तथा सांसारिक क्रिया सफलता पूर्वक संपन्न हो सकती हैं। "धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्य-मूलमुत्तमम्"। और स्वास्थ्य का मूल मन्त्र ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी के पास रोग फटकने भी नहीं पाता। जो ब्रह्मचर्य व्रत का उलंघन करते हैं, उन्हीं के शरीर में नाना प्रकार के रोग घर कर लेते हैं। यह कहने का तात्पर्य यही है कि ब्रह्मचर्य धर्म साधन का मुख्य कारण है। भगवान् ने इस विषय में प्रश्न व्याकरण सूत्र में स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार चारों ओर बाँधी हुई पाल पद्म सरोवर की रक्षा करती है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी धर्म की रक्षा करता है। दया, क्षमा-आदि गुण भी इसी ब्रह्मचर्य के सहारे टिके हुए हैं। धर्म को यदि एक बहुत बड़ा नगर माना जाय तो ब्रह्मचर्य उसका रक्षक कोट एवम् सिंह द्वार है। ब्रह्मचर्य के खंडित होजाने पर शेष धर्म के अंग उसी प्रकार खंडित होजाते हैं जैसे पर्वत से गिर कर कच्चा घड़ा चूर २ हो जाता है।

तपों में उत्तम तप ब्रह्मचर्य को ही माना गया है। भगवान ने सूत्रकृतांग में कहा है--"तवेसुवा उत्तमं बंभचेरं।" इसी का समर्थन वेद ने भी किया है, "तपो वै ब्रह्मचर्यम्"। गीताकार ने भी ब्रह्मचर्य को शारीरिक तप के रूप में स्वीकार किया है-"ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते"। भोजन और पानी का त्याग किसी सीमा तक सरल है। धन, धान्य, पृथ्वी, परिजन भी छोड़ दिये जा सकते हैं परन्तु विषय वासना का त्याग टेढ़ी खीर है। बड़े-बड़े संग्रामों के विजेता; संसार में अपनी शक्ति की धाक बैठाने वाले, समय पड़ने पर काल से भी भिड़ जाने वाले भी विषय वासना के सामने घुटने टेकते देखे गये हैं। इसके सामने वे भी झुक जाते हैं। इसको जीतने वाला तो कोई विरला ही वीर मिलता है। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कायर कर भी नहीं सकता। हाथी के हौदे को हाथी ही उठा सकता है। गधे के वश की बात नहीं? है भी तो यह पर्वतों में हिमालय की तरह तपों में सब से बड़ा। जैन शास्त्रों में तो पग पग पर इसे सर्वश्रेष्ठ तप के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कह रहे हैं हे जम्बू! यह ब्रह्मचर्य, सभी तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व एवम् विनय का मूल है।

जैसे जड़को सींचने से वृक्ष की सभी शाखा, प्रशाखा और पत्ते आदि हरेभरे रहते हैं उसी तरह ब्रह्मचर्य के पालन से सभी अन्य व्रत भी आराधित हो जाते हैं। इसी से तप, शील, विनय, संयम, क्षमा, गुप्ति तथा मुक्ति सिद्ध होती जाती है। यह सभी व्रतों तथा नियमों की जड़ है। इसी तथ्य का समर्थन प्रश्न व्याकरण सूत्र में भगवान ने किया है। और विद्याभ्यास तो ब्रह्मचर्य के बिना हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि विद्याभ्यास की आयु तक देश विरति को भी विवाह करने की आज्ञा नहीं है। यदि विद्या पढ़ना अभीष्ट है तो ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य है। विदुर ने कहा भी है 'विद्यार्थं ब्रह्मचारी स्यात्'। यह मानना पड़ता है कि ब्रह्मचर्य से इहलौकिक तथा पार लौकिक दोनों प्रकारों के इष्ट की सिद्धि होती है।

अब्रह्मचर्य से हानि

जैसे ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करना सरल नहीं है, उसी भांति मैथुनसे होने वाली हानियाँ भी आसानी से नहीं कही जा सकतीं। वीर्य का नाश करने

से, शारीरिक, मानसिक एवम् आत्मिक शक्ति का ह्रास होता है। बुद्धि मलीन हो जाती है। किसी भी काम में उत्साह नहीं रहता। अब्रह्मचारी दूसरों के सामने अनुचित बातों में भी झुकने लगता है। उसकी प्रवृत्ति ही दब्बू बन जाती है। वह लोगों के निरादर का पात्र बन जाता है। साधारण व्यक्तियों का तो कहना ही क्या रावण जैसों की विडम्बना इसके संकल्प मात्र से होती है। आज रावण को मरे युग बीत गये, परन्तु अब्रह्मचर्य की कालिमा आजतक नहीं धुल सकी। रामलीला के दिनों में आप लोग प्रति वर्ष देखते हैं कि छोटे २ बालक धनुषबाण हाथ में लिये रावण वध का अभिनय करते हैं। क्या रावण इतना निर्बल था? लेकिन अब्रह्मचर्य ने उसकी यह दुर्गति कराई। आप लोगों के सामाजिक जीवन में अब्रह्मचर्य की विडम्बना का यह रावण वध एक प्रतीक बन गया है। इससे गया बीता दृष्टान्त इतने व्यापक रूप में सम्भवतः और कोई नहीं।

मैथुन संसार का सबसे बड़ा आकर्षण है। संसार में बड़े-बड़े युद्ध भी इसके पीछे हुए हैं। रामायण और महाभारत जैसे महान् युद्ध भी इस कुप्रवृत्ति के कारण हुए। यह कुप्रवृत्ति छोटे-बड़े सभी को सताती है। मनुष्य, पशु, पक्षी यहां तक कि देव भी बचा कोई नहीं। भर्तृहरि ने वैराग्य शतक में एक स्थान पर लिखा है' कि निर्बल, काणा, लंगड़ा, पूँछ विहीन, जिसके घावों से राध बह रही है, जिसके शरीर में कीड़े बिलबिला रहे हैं, जो बूढ़ा तथा भूखा है, जिसके गले में मिट्टी के बर्तन का घेरा पड़ा हुआ है ऐसा कुत्ता भी काम के वशीभूत होकर भटकता है। जब भूखे, प्यासे और बूढ़े तथा दुर्बल तथा घावों युक्त कुत्ते की यह दशा है तो दूध, मलाई, मावा, मिष्टान्न खाने वाले मनुष्यों की क्या दशा होती होगी? वास्तव में काम का आकर्षण है ही ऐसा। परन्तु यह कभी नहीं भूल जाना चाहिए कि यह आकर्षण पैनी छुरी पर लगे हुए शहद के आकर्षण से भी अधिक भीषण आकर्षण है। यही कारण है कि शास्त्रों में किंपाक फल से इसकी उपमा दी गई है।

'कृशः काणः खंजः श्रवण रहितः पुच्छविकलो।
व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैरावृततनुः॥
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः।
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः॥ (वैराग्य शतक श्लो० १८)

उत्तराध्ययन सूत्र में आया है[1] कि जैसे किंपाक फल देखने और खाने में बड़े अच्छे लगते हैं, परन्तु खा लेने पर मृत्यु अनिवार्य है। ठीक ऐसा ही बल्कि इससे भी भयंकर परिणाम विषय वासना का होता है। किंपाक फल से भी अधिक भयंकर इसलिए कहा कि किंपाक फल का स्वाद तो कम-से-कम उस फल का अपना है। पर विषय वासना जन्य सुख तो विषय वासना का अपना नहीं। वह तो कामी के शरीर के निचोड़ से उत्पन्न होता है। पर भ्रम से विषयी जीव उसे कुछ और ही समझते हैं। कुत्ता सूखी हड्डी को चबाता है। ऐसी हड्डी को जिसमें मांस का नाम-निशान तक भी नहीं। जोर से चबाने से उसकी अपनी दाढ़ से खून निकलने लगता है। कुत्ता समझता है यह खून हड्डी से निकल रहा है इसलिए उसे और भी जोर से चबाने लगता है। खून और अधिक वेग से निकलने लगता है। यही क्रम चलता रहता है। परन्तु जब कुत्ता उस हड्डी का चबाना बन्द करके उसे डाल देता है तब कहीं उसे अपनी भूल का पता चलता है। आगे चल कर फिर उस भूल को भूल जाता है। ठीक यही दशा विषयी जीवों की होती है।

पर आश्चर्य यही है, जैसा कि मैंने अभी कहा कि देव, दानव, मनुष्य आदि सभी इस विषय की कीचड़ में फंसे हुए हैं। और तुर्रा तो यह है कि उस कीचड़ से निकलना भी नहीं चाहते। जैसे जेल का पुराना कैदी जेल को ही पसन्द करने लगता है। जेल ही उसे भा जाती है। फिर उसे स्वतन्त्रता तथा खुला वातावरण अच्छा नहीं लगता। उसी तरह विषयी जीव भी विष्ठा के कीड़े की भाँति उसी में सुख समझते रहते हैं। मैथुन महान् अनर्थों की जड़ है। संसार में आप लोग देखते हैं कि परस्त्रियों या वेश्याओं के पीछे एक दूसरे का वध किया जाता है। पराई स्त्रियों के जाल में फँस कर पुरुष अपनी स्त्री को तथा पर पुरुष के मोह से स्त्री अपने पति को जहर देकर या अन्य किसी कुचक्र द्वारा मार डालती है। यहाँ तक कि कभी-कभी इसी फेर में पड़ कर सन्तान तक का वध कर दिया जाता है। आन्तरिक मित्र भी इसके पीछे शत्रु बनते तथा एक दूसरे का वध करते देखे जाते हैं। भाई भाई का खून कर देता है। शास्त्रों में मणिरथ और मदन रेखा का उल्लेख मिलता है।

[1]जहाय किंपागफला मणोरमा, रसेण वण्णेणय भुञ्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे॥

मणिरथ ने अपने छोटे भाई का खून उसकी स्त्री मदन रेखा पर ही आसक्त होने के कारण किया था।

प्रश्न व्याकरण सूत्र में पग पग पर अब्रह्मचर्य से होने वाली हानि के विषय में उल्लेख मिलता है। एक स्थान पर आता है कि अब्रह्मचर्य से वर्तमान में क्षणिक सुख मिलता है परन्तु दोनों लोकों में जो इसके फल रूप दुःख मिलता है वह महान् है। अब्रह्मचर्य में सदा भय बना रहता है। यह कर्म मल से घिरा हुआ है। अब्रह्मचर्य से निकाचित कर्मों का बन्ध होता है। गीता में भी अब्रह्मचर्य की बहुत प्रकार से निन्दा की गई है। गीता के तृतीय अध्याय में उल्लेख है[1] कि काम और क्रोध की उत्पत्ति रजोगुण से होती है। ये ही दोनों मनुष्य को पाप के मार्ग पर ले जाते हैं। इनका पेट ही नहीं भरता इसलिए ये पेटू हैं। ये दोनों ही आत्मा के शत्रु हैं। जिस प्रकार आग धुँए से, काँच मैल से और गर्भजात बालक झिल्ली से ढका रहता है उसी प्रकार सारा संसार काम और क्रोध से आवृत है। हे अर्जुन यह कामाग्नि कभी शांत नहीं होती। ज्ञानियों का ज्ञान भी इसके सामने व्यर्थ हो जाता है। यह काम इन्द्रिय, मन और बुद्धि में रह कर मनुष्य के ज्ञान को ढक कर उसे मोहित कर लेता है।

अब्रह्मचारी को कभी मन की शान्ति प्राप्त नहीं होती। वह सदा बेचैन रहता है। वह सदा दूसरों से शंकित रहता है कि कोई उसके कुकृत्य को देख न ले। उधर उसकी कामाग्नि कभी बुझती नहीं। भला कभी आग में घी डालने से भी वह बुझी है? विषय भोग और कामवासना के सामान जुटा कर कामाग्नि को बुझाने का प्रयत्न भी अग्नि में घी डाल कर उसे बुझाने की चेष्टा के समान ही है। इसलिए अब्रह्मचर्य से सदा दूर ही रहना चाहिए।

---

[1] "काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ (गीता अ० ३)

वैवाहिक जीवन और ब्रह्मचर्य

इस प्रकरण के आरम्भ में मैंने आपको बताया था कि ब्रह्मचर्य के दो भेद हैं,सर्व विरति और देश विरति —नैष्ठिक और उपकुर्वाण। जो सर्वविरति रूप ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते उनके लिए देश विरति रूप ब्रह्मचर्य पालन करने का विधान है। देश विरति रूप ब्रह्मचर्य का अर्थ है अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त समस्त संसार की स्त्रियों को माता, बहिन या पुत्री के रूप में देखना तथा स्त्री के लिए यही यों कहा जा सकता है कि अपने विवाहित पति के अतिरिक्त शेष पुरुषों को पिता, भ्राता या पुत्र की दृष्टि से देखना। गोस्वामी तुलसीदास जी तो स्त्रियों के विषय में इससे भी दो पग आगे बढ़ गए हैं। उन्होंने पतिव्रता स्त्रियों के चार भेद[1] किये हैं:—उत्तम, मध्यम, निकृष्ट और अधम। परन्तु एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि गोस्वामी जी ने देश विरति ब्रह्मचारिणियों के ही चार भेद किए हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि सर्वविरति रूप ब्रह्मचर्य उनकी दृष्टि में कोई भेद ही नहीं है। उत्तम पतिव्रता स्त्री के अपने मन में ऐसा निश्चय होता है कि उसके पति के अतिरिक्त संसार में और कोई पुरुष ही नहीं है। मध्यम अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को पिता, भ्राता या पुत्र के समान समझती है। जिसका मानसिक निश्चय तो इतना दृढ़ होता नहीं परन्तु जो कुल की प्रतिष्ठा और धर्म के भय से बची रहती है वह निकृष्ट श्रेणी की पतिव्रता है। और जो अवसर न मिलने तथा डर के मारे बची रहती है वह अधम श्रेणी की पतिव्रता है।

आजकल वैवाहिक जीवन में पुरुषों के अन्दर एक अशुभ प्रवृत्ति पाई जाती है, वे स्वयं तो बेलगाम होना चाहते हैं परन्तु अपनी स्त्रियों को सीता के रूप में देखना चाहते हैं। यह कैसे सम्भव है? स्त्रियों से सीता बनने की आशा तो स्वयं श्री राम बनकर की जा सकती है।

---

[1]दोहा: — उत्तम, मध्यम, नीच, लघु सकल कहहुँ समुझाइ।
आगे सुनहिं ते भव तरहिं सुनहु सीय चितलाइ॥

चौपाई:—उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जगु नाहीं॥
मध्यम पर पति देखहिं कैसे। भ्राता, पिता, पुत्र निज जैसे॥
धरमु विचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट तिय सति अस कहई॥
बिनु अवसर भयते रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई॥

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या विवाह करना आवश्यक है? यदि है तो वह कब और किस अवस्था में किया जाना चाहिये? जहाँ तक विवाह की आवश्यकता या अनिवार्यता का प्रश्न है वह ठीक नहीं। अर्थात् विवाह आवश्यक या अनिवार्य नहीं है। उसके यदि करने का भी विधान है तो भी आंशिक ब्रह्मचर्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से। न कि विषयवासना की पूर्ति के लिये। जो सर्व विरतिरूप नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते, उनके लिये स्वदार संतोष परदार विवर्जन का विधान है। वह भी पहिले विद्यार्थी अवस्था में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने के पश्चात् ही। जो छोटी अवस्था में विवाह कर लेते हैं, वे दीन दुनियां दोनों से जाते हैं।

बालविवाह और उससे हानियाँ

विवाह के योग्य कौनसी अवस्था है? इस विषय में निश्चित और प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। भिन्न २ देशों में भिन्न २ प्रकार की जलवायु के होने से विवाह योग्य अवस्था में भी भिन्नता होनी आवश्यक है। शीत प्रधान देशों में शरीर का संगठन गर्म प्रदेशों की अपेक्षा अधिक दृढ़ होने से विवाह योग्य अवस्था भी देर में आती है। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं जैसा कि देखने और सुनने में आता है कि ६० या इस से भी अधिक उम्र में भी विवाह किया जाय जब कि बेटों के भी बेटे और उनके भी बेटे हो चुके हैं। उष्ण देशों में विवाह योग्य अवस्था कुछ पहले ही आरम्भ हो जाती है। उसी तरह इसका भी यह अर्थ नहीं है कि एक, दो या दस पाँच वर्ष के बालकों का विवाह कर दिया जाय। भारत में कुछ ऐसे भोले माता पिता भी हैं जो अपने बालक या बालिका का विवाह बचपन में ही करने की चिन्ता में रहते हैं। ऐसा करने के लिये उनके पास एक ही बहाना है कि उनकी आँखों के सामने ही उनके पीले हाथ हो जायं, पीछे पता नहीं क्या हो? ऐसे भोले जीव विवाह को ही जीवन की सबसे बड़ी समस्या समझते हैं। चाहे फिर वह शिक्षा की कीमत पर ही क्यों न हो। अर्थात् चाहे बालक और बालिका अशिक्षित रह जायं, पर विवाह उनकी आँखों के ही सामने हो जाना चाहिये। इस कुप्रवृत्ति का भी बुरा परिणाम राष्ट्र भोग रहा है। क्या आप देखते नहीं? बहुत से छात्र शिक्षा की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचते २ आधे दर्जन बच्चों के पिता बन जाते हैं। शिक्षा समाप्त करते न करते उन्हें बुढ़ापा आ घेरता है। उनकी सभी महत्त्वाकांक्षाएँ मर जाती हैं। आँखों से कम

दीखने लगता है। दिन भर में आधा सेर दूध नहीं पचा सकते। दस सीढ़ियां पार करते ही हांफने लग जाते हैं। अब आप ही समझिये, ऐसे असमय में ही होने वाले बूढ़े नवयुवकों से कोई राष्ट्र क्या आशा कर सकता है? उनकी सन्तान भी तो फिर वैसी ही होती है।

यह मैं आवश्यक मानता हूं कि मुसलमानों के शासनकाल में कुछ समय ऐसा अवश्य आया था जब कि बहू बेटियों का सतीत्व खतरे में पड़ गया था। उस समय लड़की के माता पिता बाल्यावस्था में ही उसका विवाह करके अपने उत्तरदायित्व से मुक्त होने की चेष्टा करते थे। परन्तु उस कुशासन के बीत जाने पर भी इस कुप्रथा का अन्त नहीं हुआ। अपितु यह और दूना जोर पकड़ गई। दूधमुँहे बच्चे बच्चियों का विवाह होने लगा। कहीं २ तो गर्भ की दशा में ही विवाह तय होते सुने गये हैं। अर्थात् दो गर्भवती स्त्रियाँ परस्पर निर्णय कर लेती थीं कि एक के बालक और दूसरी के बालिका होने की दशा में विवाह सम्पन्न हुआ समझा जायगा। इतना ही नहीं ऐसी दशा में यदि लड़का जन्मते ही मर जाता तो लड़की को विधवा घोषित कर दिया जाता था। यही कारण है कि इस भारत में विधवाओं की बाढ़ सी आई हुई है। भला जिस देश में विधवाओं की इतनी बड़ी संख्या बिलखती हो वह उन्नत कैसे हो सकता है? अतः बाल विवाह देश और समाज दोनों के लिये महान् अहितकर है।

इस प्रकार शीत और उष्ण दोनों प्रकार के देशों की भिन्न २ जल वायु और भिन्न २ प्रकार का संहनन होने से विवाह के लिये आयु की कोई एक निश्चित अवस्था तो निर्धारित नहीं की जा सकती। फिर भी नीतिकारों तथा शारीरिक विद्या विशारदों ने कम से कम आयु का उल्लेख अवश्य कर दिया है। उससे कम आयु में विवाह करने से नाना प्रकार की हानियाँ हैं। उससे कम अवस्था में किसी भी प्रकार के जलवायु वाले देश में विवाह नहीं होना चाहिये। सुश्रुत में एक स्थान पर उल्लेख है कि[1] पच्चीस वर्ष से कम के

---

[1] 'ऊनषोडश वर्षायाम् अप्राप्तः पंचविंशतिम्।
अद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरंजीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्त बालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥ (सुश्रुत)

बालक और सोलह वर्ष से कम की बालिका से यदि सन्तान उत्पन्न हुई भी तो या तो वह गर्भ में ही नष्ट हो जायगी, या फिर उत्पन्न भी हो गई तो अत्यन्त दुर्बल होगी। इसका आशय यही है कि इससे कम अवस्था में विवाह नहीं किया जाना चाहिये।

वृद्ध विवाह या बेजोड़ विवाह और उससे हानियां

बाल विवाह की भाँति ही वृद्ध विवाह की प्रथा अत्यन्त विषैली एवं भयंकरी है। समान गुणशील एवं अवस्था वाले बालक बालिकाओं का विवाह ही सफल हो सकता है। किसी वृद्ध के साथ युवती कन्या का विवाह तो ऊंट के गले में बिल्ली बाँधने के समान है। इसके कई दुष्परिणाम निकलते हैं। यदि उस वृद्ध महाशय के पहिली पत्नी से कोई सन्तान हुई तो उसका तो सर्वनाश ही हो जाता है। बड़े बड़े होनहार बालक बालिकाऐं दर बदर ठोकरें खाते देखे गए हैं। वृद्ध पिता अपनी नव विवाहिता पत्नी की आवभगत में उनकी देखभाल करना छोड़ देता है। बड़े हरे भरे घर वीरान होते और उजड़ते देखे जाते हैं। उधर युवती पत्नी की भी वृद्ध पति से नहीं पट सकती। यह मनो वैज्ञानिक सत्य है कि समान अवस्था वाले ही परस्पर हृदय खोल कर मिल सकते हैं। बालक को आप बुड्ढों के बीच में बैठा दीजिये। वह मन मारकर झेंपा हुआ सा बैठा रहेगा। वही बालक अपने बराबर वालों में खुलकर खेलेगा। न जाने क्या २ बातें करेगा। यही बात एक युवक की बुड्ढों के बीच होगी। वह कभी भी अपने मन की बात नहीं कह सकेगा। अतः वृद्ध विवाह का दूसरा दुष्परिणाम अनाचार है। वास्तव में किसी ने ठीक ही कहा है "वृद्धस्य तरुणी विषम्"।

इस वृद्ध विवाह के दो ही मुख्य कारण प्रतीत होते हैं। एक तो सामाजिक रूढ़ि और दूसरा लड़की के माता पिता की धन लिप्सा। समय का फेर है आज लड़कियों की तरह लड़के भी बिकने लगे हैं। बिकने से मेरा मतलब दहेज से है। यदि लड़की के माता पिता निर्धन होने के कारण अनाप शनाप रकम दहेज के रूप में नहीं दे सकते तो उन्हें ठीक ठाक वर नहीं मिलता और लाचार होकर कभी २ उन्हें अधिक अवस्था वाले के साथ विवाह करना पड़ता है। इस विषय में मैं नवयुवकों से कहूँगा कि वे चेतें और अपने आपको पशुओं की तरह न नीलाम होने दें। गाढ़े परिश्रम की कमाई ही

काम देती है। वे इस लालच से ऊपर उठें और धन के लालची अपने माता पिता को यह जतला दें कि वे वहाँ विवाह कदापि न करेंगे जहाँ उनको नीलाम किया जायगा। बिना कुछ लिये दिये ही करेंगे। उनके दृढ़ निश्चय से ही यह बुराई दूर हो सकती है।

वृद्ध विवाह का दूसरा कारण है लड़की के माता पिता की धन लिप्सा। बहुत से धन के लोलुपी अपनी अबोध कन्याओं का जीवन नरक बना देते हैं। वे तो कुछ रुपये लेकर और कुछ दिन गुलछर्रे उड़ा कर बैठ रहते हैं, परन्तु उन कन्याओं का जीवन सिसकते ही बीतता है। बुड्ढे तो थोड़े दिन के मेहमान होते हैं। उनके चल बसने पर वे बेचारी असमय में ही विधवा बन जाती हैं। कुछ माता पिता तो यह भी सोच लेते हैं "अच्छा है बुड्ढा जल्दी मर जाय तो सारी दौलत हमारे पल्ले पड़े" क्या इससे भी कोई नीच विचार हो सकता है? ऐसे लोगों को क्या नरक मे भी ठौर मिलेगी। किसी ने ठीक कहा है कि[1] ऐसे लोग मरकर प्रेत बनते हैं। अभी मैंने नवयुवकों से दहेज न लेने के लिये कहा था। मुझे एक नवयुवती का ऐसा ज्वलन्त उदाहरण स्मरण हो आया जिससे उनको भी इस कार्य में प्रेरणा मिल सकेगी। घटना इस प्रकार है कि एक जमीदार की पहिली पत्नी मर गई। जमीदार अच्छा अमीर था। लेकिन फिर भी अवस्था अधिक हो जाने से कोई अपनी लड़की देने को राजी नहीं हो रहा था। एक लालची पिता ने इस स्थिति से लाभ उठाकर एक बहुत बड़ी रकम के बदले अपनी कन्या देनी स्वीकार करली। जब यह बात स्वयं लड़की के कानों में पहुँची तो उसने धैर्य और बुद्धिमता से काम लिया। उसने विचारा कि मैंने जीवन तो इसी जमीदार के साथ बिताना है; फिर क्यों इसका धन लालची पिता को हड़पने दिया जाय? यह विचार करके वह उस जमीदार से मिली और उससे कह दिया कि आप रुपया न दें। मैं विवाह आपके ही साथ करूंगी, उसमें कोई बाधा नहीं दे सकता। परिणाम यह हुआ कि लालची पिता ताकता ही रह गया। मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि देश के नवयुवकों को प्रगतिशील बनना चाहिये।

कभी २ यह भी देखने में आता है कि छोटे लड़के से बहुत बड़ी लड़की का विवाह कर दिया जाता है। इसके लिये एक थोथी तर्क दी जाती है। "बड़ी

[1]'कन्यां यच्छति वृद्धाय नीचाय धनलिप्सया।
कुरूपाय कुशीलाय स प्रेतो जायते नरः॥'

बहू बड़े भाग, छोटी बहू छोटे भाग'' इसका क्या भयङ्कर परिणाम होता है, यह भी आप लोगों से छिपा नहीं। इसी प्रकार शिक्षा-सम्बन्धी विषमता में विवाह सफल नहीं हो सकता।

वैवाहिक जीवन के विषय में कुतर्क और भ्रान्त धारणाएँ

यह मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि विवाह का उद्देश्य विषय वासना की पूर्ति नहीं अपितु संयम है। जो सर्व विरति ब्रह्मचर्य के पालन में समर्थ नहीं, वह अविवाहित की दशा में अत्यन्त अव्यवस्थित हो जाता है। उसकी दशा कुछ २ उस तन्दुल मच्छ की सी होजाती है जो बहुत बड़े मच्छ की आंख के कोने में बैठा रहता है और उसके मुंह में से निकलतीं हुई छोटी २ मछलियों को निकलता देखकर विचारता रहता है कि यदि मैं होता तो एक मछली को भी नहीं निकलने देता; सबको खा जाता। वास्तव में विवाह उसके लिये खूँटे का काम करता है। जैसे बछड़ा खूँटे के सहारे बँधा रहता है। यदि उसे खूँटे से छोड़ दिया जाय तो पता नहीं कहाँ २ टक्कर खायगा। पता नहीं किससे टकरा कर अपने ही हाथ पैर तोड़ लेगा। इसलिये खूँटे से बाँधा जाना उसके तथा संरक्षकों के हित में है। इसी प्रकार वैवाहिक जीवन उन लोगों के लिये हित कारक है जो पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते। साथ ही साथ यह समाज के लिये भी उतना ही हित कारक है।

बहुत से भोले मनुष्य इस विषय में कुतर्क देते हैं कि विवाह करके क्यों बोझा लादा जाय; क्यों कई प्राणियों का उत्तर दायित्व लिया जाय? इच्छा होने पर कहीं भी मिटाई जा सकती है। इसमें विवाह की अपेक्षा पाप और झंझट दोनों ही कम होते हैं। यह मनुष्य प्रवृत्ति है कि जब वह अशुद्ध या अशुभ धारणा बना लेता है तो उसके लिए भी प्रमाण और तर्क देने की चेष्टा करता है। इस विषय में भी उन्होंने एक कुतर्क गढ़ रक्खी है। वे कहते सुने जाते हैं कि 'घर में यदि गाय पाली जाय तो सैकड़ों झंझट उठाने के बाद दूध पीने को मिलता है। उसके लिये स्थान देना पड़ता है। कुट्टी काटनी पड़ती है। सानी देनी पड़ती है। गाय गोबर और पेशाब भी करती है। उसे साफ करो। तब जाकर कहीं दूध पीने को मिलता है। इससे अच्छा तो बाज़ार में जाकर पीलो। कुछ भी झंझट नहीं उठाना पड़ती। दूध भी अच्छा मिल जाता है।'

कितनी थोथी और निस्सार दलील है। सौभाग्य से अभी दुनियां में बुद्धि

का इतना दिवाला नहीं निकला है कि वह ऐसी कुतर्कों के चक्कर में आजाय। स्वयम् कहने वाले भी अन्त में पछताते हैं। हाथ मलते हैं। वे भी एक दिन इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यदि संसार में उनकी तर्क चल जाती तो ये दया, दाक्षिण्यादि कुछ भी शेष नहीं रहते। संसार नरक की भट्टी बन जाता। भ्रूण हत्यायें ही दिखाई देतीं।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय

ब्रह्मचारी को, चाहे वह नैष्ठिक हो या उपकुर्वाण, पूर्ण रूप से सजग रहने की आवश्यकता है। थोड़ी सी ढील देने से ही अनर्थ होने की आशंका बनी रहती है। उसे अपने खान पान, रहन सहन के ऊपर पूरा २ नियन्त्रण रखना चाहिये। उसका भोजन अत्यन्त सात्विक, स्वल्प एवं साधारण होना चाहिये। खट्टे, मीठे और चटपटे तथा गरिष्ठ भोजन से वासना जागृत होती है, इसलिये ऐसे भोजन से उसका दूर रहना ही श्रेयस्कर है। साधारण भोजन भी थोड़ा ही खाना चाहिये। अधिक खाने से भी बुद्धि भ्रष्ट होजाती है, आलस्य आता है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में भी ब्रह्मचारी के लिये अधिक भोजन का निषेध किया है:—"णो पाणभोअणस्स अइमायाए आहारइत्ता" अर्थात् ब्रह्मचारी को अधिक मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिये।

इसी प्रकार उसका रहन सहन भी बिलकुल सादा होना चाहिये। बनाव श्रृङ्गार से तो उसे कोसों दूर भागना चाहिये। बनाव श्रृंगार, विषय वासना के अंकुर का सबसे पहिला पत्ता है। शरीर की शुद्धि की उपेक्षा नहीं की जा सकती। लेकिन वह शुद्धि स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से होनी चाहिये न कि प्रदर्शन के लिये। उत्तराध्यन सूत्र में तो विशेषतः साधु के लिये सर्व प्रकार के बनाव श्रृंगार का निषेध किया गया है कि[1] ब्रह्मचर्य में रत साधु शरीर को किसी भी प्रकार से न सजावे, वस्त्रादि से भी श्रृंगार न करे।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी को सभी प्रकार के स्त्री संसर्ग से बचना चाहिये। देशविरत ब्रह्मचारी को भी अपनी परिणीता पत्नी के अतिरिक्त शेष स्त्रियों में तो सर्व विरत ब्रह्मचारी की तरह ही वर्तना होता है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए

---

[1] "विभूसं परिवज्जिज्जा सरीरपरिमण्डणं
बंभचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए"
(उत्तराध्ययन सूत्र अ० १६)

प्रश्न व्याकरण सूत्र में निम्न प्रकार से पाँच भावनाएँ बताई गई हैं:—

१:—विशेष रूप से स्त्री सम्बन्धी कथा नहीं करनी चाहिये।

२:—स्त्रियों के अङ्ग प्रत्यङ्गों को न देखे।

३:—न उनके साधारण रूप को ही घूर २ कर निहारे ।

४:—विषय वासना को उद्दीपन करने वाली चीजों की ओर न देखे, न उनका वर्णन या स्मरण करे।

५:—वासना के उद्दीपक पदार्थों को न खावे, न पीवे।

पहिले भोगे भोगों को स्मरण करने से भी मन के चंचल होजाने की आशङ्का बनी रहती है । इस विषय में गीता के दूसरे अध्याय में लिखा है कि[1] विषय वासना के स्मरण करने से उनमें स्नेह होजाता है । स्नेह से काम की, फिर काम से क्रोध की, क्रोध से अज्ञान की उत्पत्ति होती है । उस अज्ञान से स्मृति का नाश और स्मृति-नाश के होने से बुद्धि भ्रष्ट होजाती है । बुद्धि के भ्रष्ट होते ही सत्यानाश की नींव पड़ जाती है । इस प्रकार ब्रह्मचारी को अपना बाह्य तथा आन्तरिक मोर्चा (क्रिया तथा ज्ञान) दृढ़ रखना चाहिये ।.एक का दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसलिये एक के भरोसे बैठ जाने से ही काम नहीं चलेगा। इसी विचार से शास्त्रकारों ने दोनों प्रकार के मार्ग का उपदेश दिया है । यहाँ विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये कि स्त्री ब्रह्मचारिणी को भी इसी मार्ग पर चलना होता है । अन्तर केवल इतना ही है कि जिन बातों में पुरुष को स्त्री. संसर्ग से बचने को कहा गया है, वहाँ स्त्री को पुरुष संसर्ग से बचने का विधान समझ लेना चाहिये ।

देश विरत ब्रह्मचारी की प्रतिज्ञा

अपनी स्त्री में संतोष तथा परस्त्री का त्याग करने वाला गृहस्थ निम्न रूप से प्रतिज्ञा करता है—"मैं अपनी स्त्री के अतिरिक्त मैथुन का त्याग करता हूं । देव, देवी सम्बन्धी मैथुन में मन, वचन, कर्म से न करूंगा तथा न दूसरे से करवाऊंगा और स्त्री, पुरुष तथा तिर्यञ्च, तिर्यञ्चिनी सम्बन्धी मैथुन स्वयं अपने शरीर से नहीं करूंगा ।"

---

[1] "ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति" ॥ (गीता)

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं--इत्वर परिगृहीतागमन, अपरिगृहीता गमन, अनंग क्रीड़ा, पर विवाह करण, कामभोग की तीव्र अभिलाषा।

(१) पहिला अतिचार इत्वर परिगृहीता गमन है। इसके तथा दूसरे अतिचार के अर्थ के विषय में भिन्न २ आचार्यों के भिन्न २ मत हैं। किसी-किसी ने प्रथम अतिचार इत्वर परिगृहीता गमन का अर्थ अल्पआयुवाली परिणीता अपनी स्त्री या पति के साथ सहवास किया है। किसी २ ने किसी अन्य स्त्री को कुछ समय के लिये अपनी बनाकर संभोग करना तथा किसी २ ने व्यभिचारिणी स्त्री से विषयभोग करना अर्थ किया है। कुछ भी हो इनमें से कोई भी अर्थ क्यों न लिया जाय, प्रत्येक ही ब्रह्मचर्य व्रत में दोष लगाने वाला है। अतः ये सभी क्रियायें त्याज्य हैं।

(२) अपरिगृहीता के अर्थ के विषय में भी इसी प्रकार मतभेद है। किसी २ आचार्य ने तो इसका अर्थ किया है जिसके साथ अभी सगाईमात्र हुई है, विवाह नहीं हुआ ऐसी स्त्री या पति के साथ गमन करना। तथा किसी २ आचार्य ने, जो किसी की नहीं ऐसी वेश्या, विधवा या परित्यक्ता के साथ गमन करना, एवं किसी २ ने अविवाहिता दासी कन्या तथा वेश्यादि से सम्बन्ध रखना अर्थ किया है। इसके विषय में भी मेरा कहना तो यही है कि इस प्रकार की सभी स्त्रियाँ पुरुष के लिये तथा पुरुष स्त्री के लिये वर्जित है।

(३) तीसरा अतिचार है अनंग क्रीड़ा। सभी प्रकार का अप्राकृतिक मैथुन अनङ्ग क्रीड़ा कहलाता है। अतः एक सद्गृहस्थ को उससे सदा बचते रहना चाहिये।

(४) अपने पुत्र, पुत्री, लघुभ्राता या अत्यन्त निकट सम्बन्धी के अतिरिक्त किसी अन्य का विवाह सम्बन्ध कराना, परविवाहकरण नामक चौथा अतिचार है। पराया विवाह सम्बन्ध कराने के क्या २ कुपरिणाम होते हैं यह आप लोगों से छिपा नहीं है। यदि कराया हुआ सम्बन्ध सफल हो गया तब तो कोई बात ही नहीं। करवाने वाले के पल्ले कुछ पड़ नहीं जाता, परन्तु विवाह के असफल हो जाने पर दोनों ओर से कितनी गालियाँ खानी पड़ती हैं? यह मुझे नहीं बताना पड़ेगा। कभी २ तो इससे कई कुटुम्बों में घोर शत्रुता तक हो जाती है। इसलिये पर विवाह करण सर्वथा त्याज्य है।

(५) पाँचवाँ अतिचार है काम भोग की तीव्र अभिलाषा। इस व्रत का नाम ही "स्वदार संतोष पर दार विवर्जन है" अर्थात् अपनी स्त्री में ही संतोष रखना, न कि विषय वासना के लिये असंतुष्ट या उतावला पन दिखाना। बहुत से लोग अपनी स्त्री के साथ किसी भी प्रकार से कोई दोष न समझकर कामाग्नि को उद्दीप्त करने के लिये नाना प्रकार के प्रयत्न करते हैं। परन्तु अन्त में उन्हें भी पछताना पड़ता है। पक्षाघात, अपस्मार इत्यादि नाना प्रकार के भयंकर रोग भुगतने पड़ते हैं। इसलिये काम भोग की तीव्र अभिलाषा भी नहीं करनी चाहिये।

: १ :

अपरिग्रह

गहराई के साथ खोज करने पर प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति इस परिणाम पर पहुँच सकता है कि जगत में दुःख का एक ही कारण है—इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग। जो हम चाहते हैं उसका न मिलना और अनिच्छित वस्तु का मिल जाना ही दुःख की जड़ है। इस चाहको मिटा दीजिये बस सुख ही सुख है। जहाँ चाह है-इच्छा-है वहीं दुःख है, जैसे २ चाह बढ़ती जाती है दुःखकी मात्रा भी बढ़ती है और घटने पर उसी क्रम से घटती भी है। जिसकी चाह जितनी कम है उसको दुःख भी उतना ही कम है। जगत् में सबसे अधिक परिग्रही ही सबसे अधिक दुःखी है। जैन शास्त्र इसी तथ्य की पुष्टि स्थान २ पर करते हैं, "एगन्त सुही साहू वीयराई"। वीतरागी साधु ही एकान्त रूप से सुखी हैं। 'यति पंचक' में भी इसी से मिलता जुलता उल्लेख है कि[1] जो लम्बे चौड़े महलों में नहीं अपितु वृक्ष के नीचे रहने वाला है, एक हाथ में ही आजाने वाले भिक्षा लाभ से जो सन्तुष्ट रहताहै,जो आत्मश्लाघा तथा धन दौलत दोनों की

---

[1] मूलं तरो केवलमाश्रयन्तः,
पाणिद्वयं भोक्तुममन्त्रयन्तः।
कंथामिव श्रीमपि कुत्सयन्तः,
कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥१॥
देहादि भावं परिवर्तयन्तः,
आत्मानमात्मन्यवलोकयन्तः।
नान्तं न मध्यं न बहिः स्मरन्तः,
कौपीन वन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥२॥
स्वानन्दभावे परितुष्टिमन्तः,
सुशान्त सर्वेन्द्रिय तुष्टिमन्तः।
अहर्निशं ब्रह्मसुखे रमन्तः,
कौपीन वन्तः खलुभाग्य वन्तः ॥३॥

भावना से ऊपर उठचुका हैं, जो मात्र एक कौपीन ही रखता है, जिसने संसार की सभी वासनाएँ त्याग दी हैं, जो अपने जैसा ही दूसरों को समझता है, जिसने पुत्र कलत्रादि रूप परिग्रह को त्याग दिया है, जो आत्म चिन्तन में ही सदा निरत रहता है, जिसने इन्द्रियों की चाह को जीत लिया है, ऐसा योगी ही धन्य तथा सर्व सुखी है।

एकबार एक सम्राट् किसी महात्मा के पास पहुँचा। महात्माजी उस समय धूप सेक रहे थे। सम्राट उनके सामने जा खड़ा हुआ। सम्भवतः वह अपने मनमें विचार रहा था कि महात्माजी अपने आपको धन्य मानेंगे क्योंकि मेरे जैसा एक सम्राट उनके दर्शनों को आया है। इन्हीं विचारों में डूबा हुआ वह बोला, महात्माजी, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?

महात्माजी बोले, सामने से हटकर खड़े हो, धूप रुक रही है।

चाह हीनता की कितनी उच्च कोटि है। जैसे कुछ भी तो नहीं चाहिये। वास्तव में है भी यही बात—

"चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआँ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये, वे ही शहंशाह॥
तब लगि हमते सब बड़े,जब लगि है कुछ चाह।
चाह रहित, कह को अधिक,पाय परम पद थाह॥

इस चाह-इच्छा-मूर्च्छा ममत्व भाव का ही नाम परिग्रह है। न कि किसी वस्तु का नाम। क्योंकि मूर्च्छा भाव तो बिना किसी वस्तु के भी हो सकता है। और नहीं कुछ, शरीर तो सभी के पास है, उस पर भी यदि चाह या मूर्छा है तो वही परिग्रह है। यही कारण है कि शास्त्रों ने "मुच्छा परिग्गहोवुत्तो" लिखा है। अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह है, चाहे फिर वह किसी पर ही क्यों नहो ?

शास्त्रकारों ने परिग्रह के बाह्य तथा आभ्यन्तर दो भेद किये हैं। बाह्य के भी दो भेद कर दिये हैं, सचित्त और अचित्त। अचित में उन सभी का समावेश हो जाता है जो सजीव हैं। तथा अचित्त में धन दौलत का। आभ्यन्तर परिग्रह में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय आदि को माना गया है। इनमें से किसी की भी चाह, मूर्च्छा होना परिग्रह है।

इस चाह के ऊपर विजय प्राप्त करना बड़ी टेढ़ी खीर है। इसने इस आत्मा को अनन्त काल से नचाया है और आश्चर्य तो इस बात का है कि आत्मा को नई चीज कोई नहीं मिलती। वेही दिन, वेही रातें, वेही ऋतुएँ सब कुछ

वही; फिर भी न जाने इस आशा ठगिनी ने क्या प्रलोभन दिया हुआ है कि आत्मा इस संसार के झाड़ से चिपका ही रहना चाहता है ? 'मोह मुद्गर' में श्री शंकराचार्यजी ने भी यही कहा है—

"दिन—यामिन्यौ सायं प्रातः,
शिशिर—वसन्तौ पुनरायातः ।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुः,
तदपि न मुंचति आशावायुः ॥"

भर्तृहरि ने भी वैराग्य शतक में इसी तथ्य का समर्थन किया है कि[1] सूर्योदय और उसके अस्त होने के साथ ही मनुष्यों की आयु व्यतीत होती जाती है। परन्तु मनुष्य कार्यों में इतने व्यस्त रहते हैं कि उनको इस बात का पता ही नहीं लगता। साथ ही जन्म, मरण, मृत्यु तथा बुढ़ापे को देखते हुए भी उनको किसी प्रकार का भय नहीं लगता। ऐसा ज्ञात होता है कि इस चाह के पीछे संसार पागल हो रहा है। यही किसी अन्य कवि ने भी कहा है—

'सुबह होती है शाम होती है।
यों ही उम्र तमाम होती है ॥'

इस आशा, तृष्णा—ठगिनी के फेर में पड़कर मनुष्य क्या २ नहीं करता ? वह ऐसे लोगों की सेवा करता है जिनका मुख भी नहीं देखना चाहता। मातृ भूमि को, प्यारे माता पिता तथा परिजनों को छोड़ कर दूर चला जाता है कि बहुत सा धन कमाऊंगा। लोगों के अपमान और झिड़कियाँ भी इसी लालच से सहन करता है। स्वाभिमान को भी त्याग देता है। दुष्टों के उपहास और ताने भी अपने आँसू थामकर सहन कर लेता है। इतना ही नहीं उनके सामने तो दिखाने के लिए हँसता भी रहता है, हाथ जोड़ता और गिड़गिड़ाता भी है। आखिर यह सब तृष्णा के वशीभूत होकर ही तो करता है।

---

[1] आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं,
व्यापारैर्बहुकार्यभार गुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजरा विपत्तिमरणं त्रासश्चनोत्पद्यते,
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥

इस विषय में भर्तृहरि ने लिखा है कि' धन के लालच से ही मनुष्य जमीन को खोद डालता है। कभी नाना प्रकार की धातुओं को फूंकता है। समुद्र में भी गोते लगाता है, राजाओं की सेवा करता है, कभी २ श्मशान में रातें बिता देता है। ऐसे नाँच नाँचने पर भी कभी २ उसे कानी कौड़ी भी नहीं मिलती। लेकिन फिर भी यह परिग्रह बुद्धि,यह तृष्णा पीछा नहीं छोड़ती।

संसारी जीवों पर दया तो यह सोच कर आती है कि वे इन सभी विडम्बनाओं को उस तुच्छ सांसारिक परिग्रह के लिये भोगते हैं, जो अनित्य है। जिसका एक क्षण के लिये भी भरोसा नहीं। अभी मैंने कहा कि वे क्षमा तो करते हैं पर धर्मभाव से नहीं। अपने तुच्छ लालच के लिये वे संसार के सुखों को भी त्यागते हैं पर वैराग्य भाव से नहीं। कठिन शीत, आतप, क्षुधा, तृषा, दंश और मशकादि अन्य दुःखों को भी सहते हैं, पर तप की दृष्टि से नहीं। ध्यान भी वे रात दिन करते हैं, पर आत्मा के गुणों का नहीं, अपितु धन का करते हैं। यदि वे इन्हीं कष्टों को धर्म-मार्ग में सहन करें तो उनका कल्याण अवश्यम्भावी है।

इस पर भी यह परिग्रह बुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती है, घटती नहीं। शास्त्रों में आता है, 'जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ' जैसे २ मनचाही चीज मिलती जाती है, वैसे २ यह परिग्रह बुद्धि भी बढ़ती ही जाती है। जिसके पास कुछ पैसे हैं वह रुपये जमा करने की धुन में है। कुछ रुपये वाला सैकड़ों, सैकड़ों वाला हजारों, यहाँ तक कि तीन लोक का राज पाने पर भी संतोष नहीं। इसके लिये निन्यानवे के फेर की कहावत प्रसिद्ध है। किसी के पास निन्यानवे रुपये जुड़ गये। उसे धुन लगी कि इनको पूरे सौ बनाया जाय। फिर क्या था, लगा सभी खर्चे में कतर ब्योंत करने। साग खाना बन्द कर दिया, बिना चुपड़ी खाने लगा। रात को जो घर में दिया जलाता था, सोचा व्यर्थ का खर्च है। बन्द करो, बिना दिया जलाये भी तो काम चल सकता है, इत्यादि। ऐसे ही निन्यानवे के फेर में सारा जगत् पड़ा हुआ है। यही सब देखकर तो शास्त्र ने कहा है कि "इच्छाहु

''उत्खातं निधिशंकया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो।
निस्तीर्णः सरितांपतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिता॥
मंत्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशा.।
प्राप्तः काण वराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुंच माम्॥

आगास समा अणंतिया"। अर्थात् इच्छा आकाश के समान अनन्त है। यह प्रवृत्ति से नहीं अपितु निवृत्ति-त्याग से घट सकती है। अन्यथा बुढ़ापे में भी पीछा नहीं छोड़ती। महात्मा सुन्दरदासजी ने कहा है—

"नैनन की पल ही पल में, छिन आधि घरी घटिकाजु गई है।
जाम गयो जुग जाम गयो, पुनि साँझ गई तब रात भई है॥
आज गई अरु काल गई, परसों तरसों कछु और ठई है।
सुन्दर ऐसे ही आयु गई, तृष्णा दिन दो दिन होत नई है॥

इसी का मोहमुद्‌गर में इस प्रकार उल्लेख मिलता है[1] कि अंग ढीले पड़ गए हैं। बुढ़ापे के कारण बाल पककर सन के समान हो चुके हैं। हाथ में ली हुई लकड़ी के समान शरीर भी काँपने लगा है। तो भी मनुष्य परिग्रह बुद्धि-आशा-को नहीं त्यागता। और तो मैं कह ही चुका कि यह परिग्रह की भावना किसी विशेषस्तर के लोगों को ही नहीं सताती, अपितु सभी श्रेणियों के मनुष्यों में इसकी घुस पैठ है। और जितना ऊपर जाओ उतनी ही इसे बढ़ी हुई पाओगे। इस विषय में मम्मन सेठ की कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है:—

प्राचीन काल में मम्मन नाम का एक सेठ होगया है। वह बहुत धनवान था। उसके पास निन्यानवे करोड़ सौनैया नगद थे। सौनैया उस समय सोने का सिक्का था। मम्मन सेठ परिग्रही जीव था। इतने धनको देखकर सोचने लगा, कहीं ऐसा न हो कि इस धन को मेरे बाल बच्चे खर्च कर बैठें? यह विचार कर वह ऐसी युक्ति की खोज करने लगा जिससे वह धन स्थायी बनाया जा सके। इसी उधेड़ बुन में उसे कई सप्ताह लग गए। आखिर उसने युक्ति ढूंढ ही तो निकाली। उस युक्ति के अनुसार उसने अपने घर के तहखाने में सोने का विशाल बैल बनवाया जिसके सींग इत्यादि में बहुत से हीरे मोती जड़वा दिये। अपना सारा धन उसने उस बैल में लगा दिया। जब बैल बनकर तैयार हो गया तो उसे देखकर मम्मन बड़ा प्रसन्न हुआ। पर साथ ही उसे एक सनक सवार हो गई कि अकेला बैल अच्छा नहीं लगता। इसकी जोड़ का दूसरा होना चाहिये। इसकी पूरी जोड़ी बड़ी अच्छी लगेगी।

---

[1] 'अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं,
दन्तविहीनम् जातं तुण्डम्।
करधृतकम्पितशोभितदण्डम्,
तदपि न मुंचत्याशाभाण्डम्॥

फिर क्या था, मम्मन पड़ गया निन्यानवे के फेर में । उसने अपने सभी प्रकार के खर्चे में कतर ब्योंत कर दिया । अपना ही नहीं उसने अपने बाल बच्चों के भी बहुत से खर्च बन्द कर दिये । इतना ही नहीं उसने कमाने में भी न्याय अन्याय का विचार छोड़ दिया । केवल निन्यानवे करोड़ सौनैयों की संख्या ही उसका ध्येय बन गई । वह रात दिन इसी धुन में रहता कि किसी प्रकार इतनी संख्या इकट्ठी हो तो बैल का जोड़ बनवाया जाय । परन्तु इतना धन एकत्रित करना कोई खेल तो नहीं था ।

वर्षा की ऋतु थी । एक रात को मूसलधार वर्षा हो रही थी । सारा नगर सुख की नींद सो रहा था । ऐसे समय पर भी मम्मन को नींद कहाँ ? वह तो बिस्तर पर पड़ा धन कमाने की युक्तियों के भुलावे मिला रहा था । एका एक उसने सोचा कि यहाँ पड़ा-पड़ा क्या कर रहा हूँ । नदी के किनारे क्यों न चला-जाऊं । लकड़ियाँ बहकर आ रही होंगी । थोड़ी बहुत तो इकट्ठी करूँगा ही । कुछ नहीं तो दस बीस की तो हो ही जायंगी । यह सोचकर वह उठ खड़ा हुआ और नदी के किनारे जा पहुंचा और लकड़ियां इकट्ठी करने लगा । जब पूरा गट्ठा होगया तो उन्हें बाँधकर और सिर पर रखके घर जाने लगा । याद रहे अभी मूसलधार वर्षा हो रही है । कभी २ बिजली भी कौंध जाती है । मम्मन सेठ के घर का मार्ग राजा के महल के नीचे होकर था । मम्मन जब लकड़ियों का गट्ठा सिर पर लिये हुए जा रहा था, उस समय रानी वर्षा की बहार देखने मार्ग की खिड़की पर आ बैठी थी । जिस समय मम्मन महल के नीचे आया, संयोग वश बिजली कौंध गई । रानी ने देखा, एक मनुष्य इस घनघोर वर्षा में भी लकड़ियों का गट्ठा सिर पर धरे चला जा रहा है । यह देखकर रानी को बड़ी दया आई । उसने उसी समय राजा को जगाया, और मम्मन सेठ की ओर संकेत करते हुए कहा—आपके राज्य में ऐसे दुःखी लोग भी रहते हैं, जो इस समय भी विश्राम नहीं कर सकते । ऐसे लोगों का दुःख दूर करना आपका कर्त्तव्य है । राजा ने रानी के वक्तव्य की गम्भीरता को पहिचाना और उसी समय एक दरबान को भेजकर लकड़हारे को सुबह दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा दी ।

मम्मन अगले दिन दरबार में उपस्थित हुआ । राजा ने पूछा—मम्मन सेठ कैसे पधारे ?

मम्मन – आपने ही तो याद किया था ।

राजा—सेठजी, वैसे तो आप किसी समय दरबार में आ सकते हैं। आपके लिये किसी प्रकार की रोक टोक नहीं। पर इस समय विशेष तौर से तो आपको नहीं बुलवाया गया।

मम्मन—महाराज ! रातको ही तो आपके दरबान ने आज उपस्थित होने को कहा था।

राजा—मैंने तो उस लकड़हारे को कहलवाया था जो रातको लकड़ियों का गट्ठा लिये हमारे महल के नीचे होकर जा रहा था।

मम्मन—राजन् ! वह मैं ही तो हूं।

राजा—क्या तुम्हीं वह व्यक्ति हो जो कल रात भयङ्कर वर्षा में लकड़ियों का बोझा लिये चले आ रहे थे। यदि हाँ, तो तुम्हें क्या कष्ट है ? तुम तो मेरे नगर के सबसे बड़े धनी गिने जाते हो।

मम्मन—जो कुछ आपने कहा सो तो ठीक है। परन्तु बात यह है कि मेरे पास एक बैल है। उसकी जोड़ी का दूसरा बैल मैं बनाना चाहता हूं। उसी के लिये इतनी दौड़ धूप कर रहा हूं।

राजा—यदि ऐसी बात है, तो हमारी पशुशाला में से तुम अच्छे से अच्छा बैल ले जा सकते हो।

मम्मन—महाराज ! आपकी पशुशाला में मेरे बैल जैसा बैल कहाँ ?

राजा—तो राजकीय कोष से धन लेकर खरीद सकते हो।

मम्मन—महाराज ! आपके कोष के सारे धन से भी ऐसा बैल उपलब्ध नहीं हो सकता।

राजा—तुम्हारा बैल कैसा है ? हम देखना चाहते हैं। यहाँ ले तो आओ।

मम्मन—महाराज ! वह बैल यहाँ नहीं लाया जा सकता। यदि आप मेरे यहाँ पधारने की कृपा करें तो देख सकते हैं।

राजा ने मम्मन सेठ के यहाँ जाना स्वीकार कर लिया। मम्मन ने तहखाने में लेजाकर राजा को अपना सोने का बैल दिखा दिया। राजा उस स्वर्ण-रत्न के बैल को देखकर आश्चर्य में डूब गया ? चुपके से घर लौट आया और रानी से कहा, रानी जिस पुरुष को तुमने रात लकड़ियों का गट्ठा ले जाते हुए देखा था, वह हमारे नगर का सबसे बड़ा सेठ है। इसके पास स्वर्ण-रत्न निर्मित एक ऐसा बैल है जिसका मूल्य हमारे खजाने से भी नहीं चुकाया जा सकता। वह सेठ वैसा ही एक दूसरा बैल बनाने की धुन में यह सब कुछ कर रहा है। जब उसे

अपने इतने धन से भी सन्तोष नहीं हुआ तो दूसरा बैल पाकर ही सन्तोष हो जायगा, इसका क्या भरोसा है ?

तात्पर्य यही है कि अधिक धन मिलने से तृष्णा घट जाय ऐसा कोई नियम नहीं। अपितु वह प्रायः बढ़ती ही देखी जाती है। अन्त तक उसे यही कहते बीतता है कि ये मेरे देश हैं, ये उपनिवेश हैं, ये मेरे महल, माता पिता, भाई बन्धु, पुत्र, नाती, पोते, स्त्री, हाथी, घोड़े हैं। निदान इन सबको यहीं छोड़कर जाना होता है। तेल समाप्त होने पर जैसे दीपक बुझ जाता है वैसे ही आयु रूप तेल के समाप्त होजाने पर इस जीवन दीप को भी बुझने से कोई भी नहीं बचा सकता। यही महात्मा सुन्दरदासजी ने कहा है:—

"ये मम देश, विलायत हैं गज,
यह मम मन्दिर ये मम थाती।
ये मम मात-पिता, पुनि बान्धव,
ये मम पूत, सु ये मम नाती॥
ये मम कामिनि, केलि करै नित,
ये मम सेवक हैं दिन राती।
"सुन्दर" ऐसेहि छांड़ि गयो सब,
तेल जर्यो, सु बुझी जब बाती॥

यदि सच्चा तथा स्थायी सुख चाहते हो तो परिग्रह को कम और कम से कम करो। परिग्रह जितना कम होगा उतना ही सुख अधिक होगा। परिग्रह के सर्वथा त्याग देने पर पूर्ण सुख की प्राप्ति होगी। सूत्र कृतांग सूत्र के पहिले अध्ययन में भी यही कहा है कि[1] जो व्यक्ति थोड़ा भी परिग्रह रखता है या दूसरे को रखने के लिये प्रेरित करता है वह दुःख से सर्वथा रूपेण नहीं छुटकारा पा सकता। वह परिग्रह चाहे फिर सचित्त हो या अचित्त।

सन्तोष में सुख

यदि संसार में कहीं सुख नाम की कोई अनुभूति है तो वह संतोष में ही मिल सकती है। अन्यत्र नहीं। इसका कारण यही है कि जिस सुख को

---

[1] "चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झकिसामवि
अन्नं वा अणुजाणाइ एवं दुक्खाण मुच्चई"

मनुष्य भ्रम वश बाहर ढूंढता फिरता है वह उसी के अन्दर है। जो चीज जहाँ नहीं है वहाँ मिल भी कैसे सकती है? वह तो वहीं मिल सकती है जहाँ होगी। इसको कस्तूरी के मृग के उदाहरण से भली भाँति समझा जा सकता है। एक कस्तूरिया मृग होता है, उसकी नाभि में कस्तूरी होती है। उस मृग को उस कस्तूरी की सुगन्ध आती है। वह उसको इधर उधर ढूँढता है। कभी घास को सूंघता है, कभी किसी झाड़ी को, इसी तरह वह सुगन्धित पदार्थ की तलाश करता फिरता है। पर बाहर की चीजों में मिले कहाँ से, वह तो उसी के अन्दर है। यही दशा सुख की भी है। वह मनुष्य के अन्दर है। बाहर ढूँढ़ने पर मिले भी कैसे? मनुष्य धन में सुख समझकर उसी के पीछे पड़ जाता है। अन्त में जब उसे धन से सुख नहीं मिलता तब कहीं जाकर उसे अपनी गलती का पता लगता है। फिर वह सोचता है, शायद विषयों में सुख होगा। बस फिर उन्हीं का हो लेता है। परन्तु विषयों को भोगते २ एक दिन वही भुगत लिया जाता है, पर सुख वहाँ भी मिले तो कैसे मिले? कभी परिवार में सुख समझ कर उसी को बढ़ाने में लग जाता है। इस विषय में भी उसे अपनी गलती मालुम हो जाती है। सुख यहाँ भी नहीं मिलता। उसकी मृगतृष्णा के मृग की सी दशा हो जाती है। रेतीले मैदानों में जब हिरण को प्यास लगती है तो वह पानी की तलाश करता है। दूरस्थ रेत में कुछ सफेद कणों में उसे पानी होने का भ्रम हो जाता है। वह उस ओर भागता है। परन्तु जैसे २ वह आगे दौड़ता है, वह भ्रम भी आगे-आगे होता जाता है। यहाँ तक कि हिरण थक कर बेहोश हो जाता है। पर पानी नहीं मिलता। मिले भी कहाँ से? हो जब न। यही दशा बाह्य पदार्थों या मान बड़ाई या ईर्षा आदि में सुख की खोज करने वालों की है।

परन्तु जब मन की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर सुख को ढूँढती हैं तो उन्हें वह सुख अवश्य मिलता है। क्योंकि सुख अपने ही अन्दर है। इसी बात को कबीरदास जी कह गए हैं—

"जिन खोजा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूँढन गई रही किनारे बैठ॥"

यही बात प्रकारान्तर से किसी संस्कृत के कवि ने कही है—

"सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥"

सन्तोष रूप अमृत से तृप्त जो सुख शान्त मनुष्यों को है वह धन के लोभ में इधर उधर भटकने वालों को कहाँ ? इसीलिये तो संतोष को सबसे बड़ा धन माना है "न सन्तोषात्परम् धनम्"।

"गो-धन गज-धन बाजि-धन, और रतन धन-खान।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान॥"

अब प्रश्न यह उठता है कि संसार में रह कर परिग्रह का पूर्ण त्याग कैसे संभव है ? यह पहिले ही कहा जा चुका है कि वस्तु का नाम परिग्रह नहीं अपितु उनकी चाह, उनके ऊपर मूर्छाभाव का नाम ही परिग्रह है। यह वस्तुओं के होने तथा न होने पर भी हो सकता है। जिसके पास कुछ भी नहीं यदि उसकी चाह बनी हुई है तो वह भी परिग्रही है। और एक चक्रवर्ती जिसके पास सब कुछ है। यदि उस सबकुछ पर उसका ममत्व भाव नहीं तो वह भी अपरिग्रही है। कमल पानी में पैदा होकर भी उससे पृथक् रहता है। यह ठीक है कि परिग्रह का पूर्ण त्याग सरल नहीं। कोई २ ही ऐसा कर सकता है, तो भी एक सद्गृहस्थ को महा परिग्रह का त्याग तो अवश्य ही करना चाहिये। ऐसा किये बिना तो वह गृहस्थ धर्म से ही च्युत हो जाता है।

गृहस्थ में भी कैसे २ अपरिग्रही या अल्पपरिग्रही हो गये हैं, इस विषय में आनन्द आदि श्रावक आपके लिये आदर्श हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से उदाहरण मिल सकते हैं।

किसी नगर में एक राजा रहता था। वह बड़ा ज्ञानी था। उसे सब लोग निर्मोही राजा कह कर पुकारते थे। एक दिन उस राजा का पुत्र वन विहार को चला गया। वहां वन में उसे बड़े जोर से प्यास लगी। पानी की तलाश में वह इधर उधर भटकता हुआ एक तपस्वी के आश्रम में आ पहुँचा। तपस्वी ने उसे जल पिलाया और पूछा, 'तुम किसके पुत्र हो ?'

राजकुमार– मैं निर्मोही राजा का पुत्र हूँ।

तपस्वी—राजकुमार ! यह कैसे सम्भव है कि राजा निर्मोही हो ? राजा होकर निर्मोही नहीं हो सकता। जो निर्मोही होगा वह राजा नहीं हो सकता और जो राजा होगा वह निर्मोही नहीं हो सकता। मोह हमारा यहाँ वन तक पीछा नहीं छोड़ता, सो तो वह राजा राज महलों में रहता है। राजकुमार ने कहा, इसमें तर्क वितर्क करने की क्या बात है, आप जाकर देख सकते हैं। तपस्वी ने कहा, बहुत अच्छा, जब तक हम परीक्षा करके नहीं आजाते, तुम यहीं रहो। राजकुमार राजी हो गया।

तपस्वीजी वन से चल कर नगर में पहुँचे। राज भवन के द्वार पर सबसे पहिले उन्हें एक दासी मिली। उससे उन्होंने कहा—

'तू सुन चेरी श्याम की, बात सुनावों तोहि।
कुंवर विनास्यौ सिंह ने, आसन डिगियौ मोहि॥'

यह सुनकर दासी बोली—

'ना मैं चेरी श्याम की, नहिं कोई मेरो श्याम।
प्रारब्ध वश मेल यह, सुनो ऋषी अभिराम॥

इसके बाद तपस्वी महल के अन्दर गए। वहाँ सबसे पहिले उन्हें राजकुमार की स्त्री मिली। उससे उन्होंने कहा—

'तू सुन चातुर सुन्दरी, अबला यौवन वान।
देवी वाहन दलमल्यौ, तुम्हरो श्री भगवान्॥

स्त्री ने उत्तर दिया—

'तपिया पूरब जन्म की, क्या जानत हैं लोक।
मिले कर्मवश आन हम, अब विधि कीन वियोग॥'

इसके बाद तपस्वीजी राजकुमार की माता से मिले। रानी के पास जाकर उन्होंने कहा—

'रानी तुमको विपति अति, सुत खायो मृगराज।
हमने भोजन ना कियो, तिसी मृतक के काज॥'

यह सुनकर रानी बोली—

'एक वृक्ष डालें घनी पंछी बैठे आय।
यह पाटी पीरी भई, उड़-उड़ चहुँ दिशि जायँ॥'

तत्पश्चात् तपस्वीजी सीधे राजदरबार में गये। अभिवादन तथा कुशल प्रश्न के बाद वे राजा से बोले—

'राजा मुख ते राम कह, पल-पल जात घड़ी।
सुत खायो मृगराज ने, मेरे पास खड़ी॥'

राजा बोला—

'तपिया तप क्यों छाँड़ियो, इहाँ पलक नाह सोग।
वासी जगत सराया का, सभी मुसाफिर लोग॥'

इन सभी से मिलकर तपस्वीजी को विश्वास हो गया कि अकेला राजा ही नहीं ये तो सब के सब निर्मोही हैं।

मैंने अभी कहा था कि एक चक्रवर्ती जो संसार में जल से उत्पन्न होने वाले कमल की तरह रहता है, किसी हद तक अपरिग्रही या अल्प परिग्रही कहला सकता है। और एक भिक्षुक जिसे अपने धार्मिक उपकरणों या शरीर पर मूर्छाभाव है परिग्रही कहलायेगा। सुनते हैं, एक बार व्यासदेव ने अपने पुत्र शुकदेव को शिक्षा लेने के लिये भेजा। शुकदेवजी जनकपुर पहुँचे और राजमहल की ड्योढ़ी पर पहुँचकर अपने आने की सूचना अन्दर भेज दी। जनक ने उत्तर में कहला भेजा कि शुकदेव जी अभी बाहर ही ठहरे रहें। शुकदेवजी तीन दिन तक ड्योढ़ी पर खड़े रहे। चौथे दिन कहीं जाकर उन्हें अन्दर बुलाया गया। भीतर जाकर शुकदेव ने देखा कि जनक एक ऊंचे सिंहासन पर बैठे हुए हैं। उन पर चँवर हो रहा है। चारों ओर से सुखों के सामान जुटे हुए हैं। यह देखकर शुकदेवजी बड़े चक्कर में पड़े। विचारने लगे कि पिता ने न जाने क्या देखकर मुझे इनके पास शिक्षा लेने भेजा है? वे यह सोच ही रहे थे कि ड्योढ़ीवान ने आकर राजा से हाथ जोड़ कर कहा, महाराज! नगर में आग बड़े जोर से लग गई है, सारा शहर धू २ करके जल रहा है। कुछ देर बाद समाचार आया कि आग राज महलों तक पहुँच गई है और उसने महल के सिंह द्वार को भी घेर लिया है। यह सुनकर शुकदेव बड़े चिन्तित हुए। वे सोचने लगे, मैं दण्ड और कमण्डल ड्योढ़ी पर ही छोड़ आया हूँ, कहीं वे भी न जल जायँ। राजा जनक शुकदेवजी के भावों को ताड़ गये और बोले, ऋषिजी! बस यही शिक्षा लेने के लिये आपके पिता ने आपको मेरे पास भेजा है। मिथिला नगरी या राजमहल जल रहा है तो क्या? मुझे इसकी चिन्ता नहीं। मेरा आत्मरूप धन अनन्त है। उसका अन्त कदापि नहीं हो सकता।[1] परन्तु आप अपने दण्ड कमण्डल की ही चिन्ता में [illegible] हैं। आप जब सारे जगत् के सुख के सामानों को त्याग चुके हैं तो [illegible] कमण्डलों पर आसक्ति रखने से क्या प्रयोजन? आपको तो अपने शरीर पर भी मूर्छा भाव नहीं रखना चाहिये।

[illegible] में नमिराजर्षि का उल्लेख मिलता है, उन्होंने भी ब्राह्मण वेष धारी [illegible] ही उत्तर दिया था। इन्द्र ने जब ब्राह्मण का वेष बनाकर परीक्षा [illegible] नमिराजर्षि से कहा देखिये यह आपकी मिथिला नगरी जल

[1] "[illegible] मेवित्त, यस्ने नास्तिह किंचन,
[illegible] प्रदह्यमानो, न मे दह्यति किंचन"

रही है। राजर्षि बोले[2] मैं सुख पूर्वक रहता और सुख से ही जीवित हूं। मिथिला से मेरा कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं। यदि मिथिला नगरी जल भी जाती है तो भी मेरा तो कुछ भी नहीं जलता।

इन सबके कहने का तात्पर्य यही है कि सन्तोष में सुख है और परिग्रह-मूर्च्छा-में दुःख। यदि सुख चाहते हो तो अपरिग्रही या अल्प परिग्रही बनो। मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद और कषाय आदि रूप आभ्यन्तर परिग्रह को यथा संभव कम या सर्वथा रूप से नष्ट करने का प्रयत्न करते रहो। इसी प्रकार निम्न रूप से नौ प्रकार के बाह्य परिग्रह को भी यथा संभव न्यूनातिन्यून करने की चेष्टा करो।——

(१) क्षेत्र:—क्षेत्र से यहां पर धान्यादि उत्पन्न करने वाली खुली भूमि से है। इसमें बाग, पर्वत, बंजर भूमि, खेत, चरने की भूमि और जंगल आदि के रूप में समस्त भूमि आज़ाती है। परिग्रह परिमाण व्रत को अंगीकार करने वाला इन सभी की मर्यादा करता है कि मैं इतनी से अधिक भूमि का उपयोग नहीं करूँगा।

(२) वास्तु—वास्तु का अर्थ है घर। चाहे वह पृथ्वी के गर्भ में बना हो या उसके ऊपर, सभी प्रकार के निवास स्थानों की संख्या, मंजिल, ऊंचाई, लम्बाई चौड़ाई का परिमाण करना।

(३) धन—धन से प्रयोजन है सिक्के या मणि माणिक्यादि से। इनके विषय में भी परिमाण करना कि अमुक २ वस्तु इतने २ परिमाण में रखनी।

(४) धान्य—अर्थात् सभी प्रकार के अन्नों का परिमाण करना कि अमुक धान्य इतने परिमाण या इतने मूल्य से अधिक नहीं रखना,

(५) हिरण्य—
(६) सुवर्ण— } चांदी और सोने तथा इन दोनों के आभूषणों की मर्यादा बांधना।

(७) द्विपद्—अर्थात् जितने भी दो पैरों वाले प्राणी हैं, चाहे वे दास, दासी स्त्री पुत्रादि के रूप में मनुष्य हैं चाहे अन्य दो पैरों वाले

---

२ "सुहं वसामो जीवामो जेसिं मो नत्थिकिंचणं।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झईकिंचण"

—उत्तराध्ययन

पत्ती सभी के विषय में मर्यादा बाँधना। उससे अधिक न रखना।

(८) चतुष्पद—अर्थात् चार पैरों वाले पशु हाथी, घोड़े, गाय, बैल, भैंस इत्यादि की मर्यादा करना।

(९) कुप्य—कुप्य का साधारण अर्थ ताबा, पीतल आदि कम कीमत वाली धातु होता है परन्तु यहां पर इसका अर्थ इन धातुओं के अतिरिक्त वस्त्र तथा गृहस्थी में काम आने वाली अन्य छोटी-मोटी सभी वस्तुओं से है। इनकी भी संख्या तथा मूल्य आदि की मर्यादा करना।

प्रिय धर्म स्नेही बन्धुओ! यदि आप गहराई से विचार करें तो पता चलेगा कि जीवन में दो प्रकार की वस्तुओं का उपयोग होता है। एक तो वे हैं जिन्हें आवश्यक कहा जा सकता है। दूसरी आराम की चीजें हैं। साधारण-से-साधारण भोजन, जिससे क्षुधा रोग शान्त हो सके। तन ढकने को वस्त्र तथा शीत, आतप और वर्षा से रक्षा पा सकने योग्य मकान आदि आवश्यक वस्तु है शेष सभी चीजें आराम की कही जा सकती हैं। विचार कर देखिये कि जो आवश्यक वस्तुओं के क्षेत्र से आगे बढ़े हुए हैं, वे ही दुःखी हैं। ज्यों-ज्यों आराम की सामग्री बढ़ती जा रही है इसके उपयोग करने वालों के दुःख भी उसी अनुक्रम से बढ़ते जा रहे हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आराम की सामग्रियों की बाढ़ सी आ गई है। आप देख रहे हैं दुःख और झंझट भी उसी अनुपात से बढ़ गए हैं। मानसिक एवं शारीरिक कष्टों की सीमा नहीं रही है। पहिले कहीं दस बीस गांवों में कोई एकाध वैद्य या चिकित्सक सुनने में आता था। आज आटे दाल की दुकानों की भांति वैद्य तथा डाक्टरों की दुकानें खुली हुई हैं। जो रोग कभी राजाओं के सुने जाते थे, जिनका नाम ही राज रोग था, आज वे जन साधारण में फैले हुए हैं।

चित्र के दूसरे पहलू का भी विचार कीजिये। जो लोग केवल प्रारम्भिक आवश्यकताओं के क्षेत्र में ही सीमित हैं, आगे नहीं बढ़े, वे अपेक्षाकृत सुखी हैं। आप सुन कर सम्भवतः आश्चर्य करेंगे, परन्तु इसमें आश्चर्य की तो कोई बात ही नहीं। मानव-जीवन लौकिक दृष्टि से सुखी होने की सबसे बड़ी कसौटी है, नाचना और गाना। आप लोगों के यहां चार या दस वर्ष में जब कभी शादी विवाह या बालक होता है तभी खुशी में नाचना और गाना होता है। परन्तु उन बागड़ी मजदूरों को या साधारण किसानों को देखिये जो प्रातः

काल नाचते, गाते हुये काम पर जाते हैं तथा नाचते, गाते ही लौटते हैं। परिश्रम करने से नींद ऐसी आती है; जिसके लिये आप जीवन भर तरसते ही रहते हैं। इससे इतना तो अवश्य सिद्ध हो गया कि सुख आवश्यकताओं के बढ़ाने में नहीं अपितु कम करने या बिल्कुल समाप्त करने में है।

परिग्रह परिमाण व्रत के विषय में बाह्य परिग्रहों के जो अभी नौ भेद गिनाये थे उनके परिमाण की सीमा के आंशिक उल्लंघन की दशा में उन्हीं को पांच विभागों में बांट कर अतिचारों में गिना दिया गया है। जैसे:— (१) क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रमण, (२) हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रमण, (३) धन धान्य प्रमाणातिक्रमण, (४) द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रमण, (५) कुप्य प्रमाणातिक्रमण। इनके विषय में जो भी मर्यादा की है उसको सजग एवं सावधान होकर पालना चाहिए। यदि असावधानी में भी उस मर्यादा का उल्लंघन हो गया तो व्रत में दोष लग जायगा। इस विषय में भावना की शुद्धि तथा हृदय की सचाई की परम आवश्यकता है। अन्यथा मानव हृदय गुंजाइश ढूँढ़ने लगता है।

(१) पहले क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रमण को ही ले लीजिये। किसी गृहस्थ ने एक बाग रखने की मर्यादा की। अब यदि उसे उसी के पास दूसरा बाग मिल गया उसने बीच में से सीमा बोधक चिंह्न को हटा कर दोनों को एक कर दिया और साथ ही कहने लगा मैंने एक बाग रखने की मर्यादा की सो एक-का-एक मेरे पास है। पर वास्तव में तो उसके व्रत में दोष लग चुका। एक बार मर्यादा बना लेने के बाद ऐसी युक्तियां सोचना भी व्रत में दोष लगाना है।

(२) दूसरा अतिचार हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रमण है। इसमें भी यदि मर्यादा से अधिक वस्तु प्राप्त होने पर अपने पास न रख कर अपने पुत्र पौत्रादि या निकट सम्बन्धी के पास रख दे और विचार कर ले कि अवसर आने पर फिर ले लूँगा तो वह गृहस्थ अपने व्रत में दोष लगाता है।

(३) मर्यादा का काल समाप्त होने तक या मर्यादित अनाज, घी, गुड़ के कम हो जाने के समय तक, मर्यादा से बाहर की वस्तु को फिर ले लेने की भावना से किसी के पास रख छोड़ना, धन-धान्य प्रमाणातिक्रमण है।

(४) यही बात इस चौथे अतिचार के विषय में लागू होती है। अर्थात्

गृहस्थ यह विचार करे कि मुझे इतने से अधिक द्विपद और चतुष्पद नहीं रखने हैं। जब उससे अधिक मिलने लगें तो उनको किसी निकट सम्बन्धी के पास रख दे कि मर्यादा का काल समाप्त होने पर या मर्यादित द्विपद चतुष्पद के कम होने पर ले लूँगा ? ऐसा करना द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रमण है।

(५) पाँचवाँ अतिचार है कुप्य प्रमाणातिक्रमण। इसके विषय में भी पूर्वोक्त भांति से विचार करना कुप्य प्रमाणातिक्रमण कहलाता है।

इन परिमाणों और मर्यादाओं का कोई निश्चित मापदण्ड तो है नहीं कि इतनी और इस अनुपात से करनी हैं। न उल्लंघन करने पर कोई सामाजिक या राज्य सम्बन्धी दण्ड विधान ही है। यह तो व्यक्तिगत प्रश्न है, जिसको जितनी आवश्यकता है उतने की मर्यादा रख कर, अतिरिक्त का त्याग कर दे। आप देख रहे हैं कि जो साम्राज्यवाद आज संसार में पनपना आरम्भ हुआ है उसका सन्देश परिग्रह परिमाण व्रत के रूप में भगवान् महावीर स्वामी ने सहस्रों वर्ष पूर्व ही दे दिया था कि अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तु रखना दुहरा अपराध है। एक तो अन्य व्यक्ति उस वस्तु के आवश्यक उपयोग से वंचित रह जायेंगे, क्योंकि सभी वस्तुयें संसार में सीमित हैं। और दूसरे इच्छा के वेलगाम होने पर आवश्यकता से अधिक रखने वाला व्यक्ति भी चैन नहीं पा सकता।

: ८ :

जैन धर्म की विशेषताएँ

"स्याद्वादो वर्तते यस्मिन् पक्षपातो न विद्यते
नास्त्यन्यपीडनं किंचिज्जैन-धर्मः स उच्यते"

आज संसार में कुछ रिवाज सा चल पड़ा है। जिसको देखिये अपने धर्म की विशेषतायें बतलाता फिरता है। विशेषता भी जैसे कोई नुमाइश की चीज़ है। पर मेरी समझ में तो यह बतलाने के लिये कि "यह कस्तूरी है" सौगन्ध खाने की कोई आवश्यकता नहीं। सूर्य का प्रकाश ढिंढोरा पीट कर बताने की वस्तु नहीं। आंखों वाले यहां तक कि अन्धे भी उसका अनुभव स्वतः ही कर लेते हैं। इसी प्रकार जैन धर्म की विशेषतायें सूर्य के समान रोशन हैं और संसार उनका लोहा मान चुका है। फिर भी जैसे खीर के एक चावल को देखकर शेष के पकने न पकने का पता चल जाता है। उसी प्रकार सार्वभौम जैन धर्म की विशेषताओं का यहां संकेत मात्र बता रहा हूँ।

सुनते हैं विश्व-विजयी सम्राट सिकन्दर जब यूनान से भारत-विजय के लिये रवाना हुआ, उस समय उसने अपने विश्व विख्यात गुरू से पूछा कि भारत से मैं कौन-सी वस्तु लाऊँ जो मेरे देश के लिये अधिक से अधिक कल्याणकारी हो। गुरू ने उत्तर दिया आप ला सकें तो एक जैन साधु लेते आना। यह जैन धर्म की पहली उपयोगिता का एक छोटा सा उदाहरण है। विश्व की उन्नततम संस्कृतियां—यूनान और मिश्र भी जैन संस्कृति का मुँह जोहती थीं।

आज संसार स्वार्थ के संघर्ष में फँस कर नरक रूप हो रहा है। बड़े २ सुन्दर देश रणचण्डी के क्रीड़ा क्षेत्र बने हुए हैं। जो धर्म प्राणी मात्र के लिये सुख, शान्ति और सहानुभूति का सन्देश वाहक है। जो आत्मा का निजी स्वभाव है। राग, द्वेष, ईर्षा, कलह, मोह, माया से संतप्त जगत् के लिये अमृत वर्षा है। उसी धर्म के नाम पर भाई-भाई का शत्रु बना हुआ है। सदियों से पड़ौसी कुत्तों की भांति लड़ रहे हैं। मज़हब के नाम पर खून की नदियां बह रही हैं। यदि हम विचार करें तो क्या वास्तव में यह सब धर्म के कारण है? नहीं। इसका कारण हमारा साम्प्रदायिक दृष्टिकोण है। संसार ने जब धर्म को सम्प्रदायका रंग दे दिया। धर्म के स्वाभाविक और

निर्मल विस्तृत स्रोत को जब सम्प्रदाय की गंदी बाड़ से रोक दिया तो वह गंदला हो उठा। लोगों ने वस्तु के अनेक पहलुओं में से एक ही को सत्य और पूर्ण समझ लिया। दूसरे शब्दों में जैन धर्म के स्याद्वाद—अनेकान्तवाद—को भुला दिया। आज संसार जिस शान्ति और विश्वबन्धुत्व की अनवरत खोज कर रहा है, वह अनादिकाल से ही जैन सिद्धान्त के अनेकान्तवाद में निहित है। उसे अन्यत्र खोजने की कोई आवश्यकता नहीं।

वास्तव में स्याद्वाद् का नाम से न सही, पर क्रियात्मक रूप से तो सभी को लोहा मानना पड़ता है। अन्यथा आपस के झगड़े अनिवार्य हैं। स्याद्वाद से इन्कार करना हठवाद को प्रोत्साहन देना है। और हठ-जिद किसी भी रूप में ग्राह्य नहीं। द्वैत, अद्वैत, नित्य और अनित्य आदि परस्पर विरोधी धर्मों का समन्वय स्यद्वाद ही करता है। एक ही वस्तु भिन्न-२ दृष्टिबिन्दुओं से किस प्रकार भिन्न रूप में दिखाई देती है, यह बतलाता है। व्यष्टि को नय और समष्टि को प्रमाण का रूप देता है। इस प्रकार एक दूसरे को झूठा बताने वाले सभी वादों को जिन्होंने हठवाद को अपनाया हुआ है आंशिक रूप से सच्चा बताकर उनका सुन्दर समन्वय करता है। इसी स्याद्वाद सिद्धांत को आजकल के वैज्ञानिक युग ने अपेक्षावाद कह कर अपनाया है।

प्रत्येक वस्तु द्रव्यार्थिक दृष्टि से नित्य और पर्यायार्थिक दृष्टि से अनित्य है। उसमें प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय होता रहता है। तथा द्रव्यदृष्टि से ध्रौव्यता भी बनी रहती है। यह द्रव्य का लक्षण है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर आपस में झगड़ने के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता। उदाहरण के रूप में मान लीजिये आपके पास एक अंगूठी थी। आपने उसे तुड़वाकर बाली बनवाली। अंगूठी की दशा बदल कर बाली रूप में आगई। या यों कहें, अंगूठी की पर्याय का विनाश और बाली की पर्याय का उत्पाद हुआ। सोना द्रव्य रूप से ज्यों का त्यों है। यही नियम आत्मा, प्रकाश और कालादि के विषय में लागू होता है।

स्याद्वाद की समन्वय शक्ति संसार के लिये एक महादान है—इस बात को हम एक मोटे उदाहरण से इस प्रकार समझ सकते हैं :—किसी गांव में चार अन्धे रहा करते थे। एक दिन वहां एक हाथी आ गया। सभी लोग हाथी देखने जा रहे थे। जब उन अन्धों ने सुना तो आपस में सलाह की और हाथी देखने चल पड़े। मार्ग में तय कर लिया कि हाथी देखकर सब

अमुक स्थान पर एकत्रित होंगे। हाथी के पास जाकर एक ने उसकी सूँड टटोली और निश्चय कर लिया कि हाथी एक मोटे डंडे के समान है। दूसरा कानों को हाथ लगाकर चला आया और विचार लिया कि ठीक है हाथी तो छाज के समान होता है। तीसरा जो पेट पर हाथ फेर कर आया, हाथी को एक छोटी मोटी दीवार के समान समझने लगा। चौथे के हाथ संयोग वश पैर पर लगे और उसने हाथी को एक खंभे के समान समझ लिया। देख-भाल कर जब सभी निश्चित स्थान पर इकट्ठे हुए तो अपने २ दृष्टिकोण से हाथी की परिभाषा करने लगे। परिभाषायें स्वभावतः परस्पर विरुद्ध थी हीं। एक ने दूसरे के दृष्टिबिन्दु को समझने की चेष्टा ही नहीं की और अपने को ही सर्वाङ्ग रूप से सत्य समझने लगा। बढ़ते २ झगड़े की नौबत आगई। मार्ग दिखाने वाली लाठियां एक दूसरे के ख़ून में रंगी जाने लगीं। इसी बीच में सुआंखा मनुष्य जो हाथी देखकर आया था और उधर से गुज़र रहा था, अंधों में तकरार होते देख ठिठक गया और पूछने लगा भाई सूरदासो क्यों झगड़ रहे हो। तुम्हें भी क्या कोई जायदाद बाँटनी है। अंधों ने अपने झगड़ने का कारण बताया। वह सुआंखा सुनकर हंसने लगा और बोला, अरे भोले जीवो तुम सभी सच्चे हो परन्तु अपने २ पहलू से दूसरों के पहलुओं को भी समझो। अपनी अलग २ परिभाषाओं को मिलाकर एक करलो तभी पूरा और वास्तविक हाथी तुम्हारी समझ में आ सकेगा। यह सुन कर अन्धे सम्भले और अपनी गलती को पहिचाना। जो हाथ एक दूसरे के ख़ून के प्यासे बने हुए थे, गले मिलने आगे बढ़े।

ठीक उपर्युक्त दशा उन उन लोगों की है जो हठवाद के अन्धकार से अन्धे हैं। जो स्याद्वाद रूप सूर्य के प्रकाश से वंचित हैं। ऐसे ही लोगों ने धर्म को मज़हब और सम्प्रदाय का जामा देकर उसे झगड़े की जड़ बना दिया है। धर्म के इसी विकृत रूप के कारण यूरोप में नास्तिकवाद जड़ पकड़ गया और रूस ने इसके पूरे रूप को ही तिलांजलि दे दी। इसका एक मात्र उपाय स्याद्वाद है। इस के प्रकाश में आने से आपस के झगड़े स्वतः ही मिट जावेंगे।

जैन धर्म की दूसरी विशेषता उसकी पक्षपात हीनता है। स्त्री हो या नपुंसक, काला हो या गोरा, भारतीय हो या अफ्रीकन उसकी दृष्टि में सभी मोक्ष के अधिकारी हैं। क्योंकि धर्म किसी की वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं है।

न किसी जाति या देश या सम्प्रदाय के संकुचित क्षेत्र में इसे सीमित किया जा सकता है। यह तो प्राण वायु की तरह प्राणीमात्र के उपयोग की वस्तु है। मिश्री खाने से किसी खास सम्प्रदाय का ही मुँह मीठा होगा, ऐसी बात तो नहीं। उसे तो जो भी खायगा उसी का मुँह मीठा हो जायगा, चाहे वह शूद्र हो या अन्त्यज। आज जैन धर्म को छोड़ कर सभी संसार गुलामी का पाठ पढ़ा रहा है। इसके अतिरिक्त सभी ऐसा मानते हैं कि वे अनादि काल से एक खास ईश्वर के सामने सिर रगड़ते आए हैं और अनन्त काल तक रगड़ते रहेंगे। अगर कभी मोक्ष भी प्राप्त कर लिया तो उसी में लीन हो जायेंगे, अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी खो बैठेंगे। परन्तु जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार और शक्ति प्राप्त है। लोहा सदा लोहा ही नहीं रहेगा। वह भी एक दिन पारस बन जायगा, जिसके संसर्ग से अन्य लोहे सोना बन सकेंगे। क्या जैन धर्म की यह एक महान् विशेषता नहीं है?

कर्म सिद्धान्त—कर्म के विषय में सभी ने कुछ-न कुछ अवश्य लिखा है। लेकिन कर्म की निश्चित गहराई की थाह जैन धर्म के अतिरिक्त और कोई नहीं ले सका। जगत् में इतनी विभिन्नता क्यों है? कोई अमीर है, कोई गरीब, कोई निर्बल कोई सबल यहाँ तक कि प्रत्येक प्राणी की परिस्थिति भिन्न है। इन सब स्थितियों का नियामक कौन है? कौन सी शक्ति इनका संचालन करती है? इस विषय में सभी अन्धेरे में चक्कर काट रहे हैं किसी ने और कोई मार्ग न देख कर यह काम ईश्वर को सौंप दिया और किसी ने ग्रह नक्षत्रों के मत्थे मढ़ दिया। परन्तु यह निश्चित तथ्य है कि जो भी अच्छी या बुरी जीवों की दशा होती है उसमें न ईश्वर का हाथ है और न सितारों का। मनुष्यों और सितारों में ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं कि सितारे उनके सुख दुःख के नियामक बनें। प्रत्येक जीव अपने सुख और दुःख का कारण स्वयं है। उसके बीज हमारी भावनाओं में छिपे हैं। हमारा वर्तमान सुख दुःखमय जीवन एक वृक्ष है जिसके बीज हमारे अन्त करण की भूमि पर कहीं न-कहीं छिपे होते हैं। यह दूसरी बात है कि हम इनका अनुभव कर सकें या नहीं, देख सकें या नहीं। लेकिन कुछ भी अनहोनी नहीं होती। अचानक या अकारण दुःख सुख नहीं आ सकते और न दूसरे का पुण्य पाप दूसरे के ऊपर कुछ प्रभाव ही डालता है।

"कोउ न काउ सुख दुःख कौ दाता
निज कृत कर्म भोगि सब भ्राता।"

कर्म चक्र इन सब का संचालक और नियामक है। हम कह सकते हैं कि कर्म-शक्ति के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। यही रहस्य ८ कर्मों और उनकी १४८ उत्तर प्रकृतियों द्वारा जैन सिद्धान्त में प्रसिद्ध है। कर्म सिद्धान्त का ऐसा विस्तृत विवेचन अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता।

नास्त्यन्य पीडनम्:—यदि काँटा चुभ जाने मात्र से हमें पीड़ा होने लगती है तो हमें चाहिए कि हम किसी का दिल भी न दुखावें।

"श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।"

Do as you wish be dom by.

दूसरों के गले काट कर अपनी सुख शान्ति की आशा दुराशामात्र है। अहिंसा को सिद्धान्त रूप से सभी ने परम धर्म स्वीकार किया है परन्तु क्रियात्मक रूप में कुछ नहीं। उनके लिये वह केवल शास्त्र वाक्य है। असली रूप बहुत गहराई और सचाई के साथ जैन धर्म ने ही दिया है। पृथिवी, जल आदि छः काय और मन वचन कर्म से उनकी रक्षा का विधान दूसरी जगह ढूँढने पर भी नहीं मिलेगा। अहिंसा ही धर्म रूप वृक्ष की जड़ है। दूसरे को सता कर आत्मा स्वयं कभी सुखी नहीं रह सकता। शक्ति पा कर निर्बल को दबाना अपने लिए कांटे बोना है।

एक सेठ जी किसी मेले में गए हुए थे। मेले में तो सभी लोग शामिल होते हैं। एक जाट भी आया हुआ था। संयोगवश ये दोनों रहट के झूले में जा बैठे, लेकिन अलग-अलग पलड़ों में। जिस समय सेठजी का पलड़ा ऊपर और जाट का नीचे था, उन्होंने पानकी पीक डाल दी जिससे नीचे जाटका साफा खराब हो गया। जाट देवता बहुत बिगड़े। सेठ जी ने क्षमा माँगने के बदले उसे उलटा डाँट दिया। लेकिन इतने में ही जाट का पलड़ा ऊपर और सेठजी का नीचे आ गया। जाट झल्लाया हुआ तो था ही। ऊपर से पेशाब कर दिया। सेठजी कर ही क्या सकते थे। वे पहल कर चुके थे।

यही दशा संसार के प्राणियों की है। यदि उन्हें शक्ति मिली है तो निर्बलों की रक्षा करनी चाहिए। दया से बढ़ कर कोई पुण्य नहीं है। बहुत से सज्जन

अहिंसा को कायरों का धर्म बतलाते हैं। और कह बैठते हैं कि अहिंसा ने ही संसार को बुज़दिली का पाठ पढ़ाया है। भारत को गुलाम भी इसी अहिंसा ने कर दिया। लेकिन उनका ऐसा कहना सचाई का गला घोटना है। कहा जा सकता है कि वे अहिंसा का अर्थ ही नहीं समझते। कायर कभी अहिंसक नहीं बन सकता। जो स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकता वह दूसरों की क्या करेगा। आप ही विचारिये कि जो आततायियों से अबलाओं या निर्बलों का सताया जाना देख सकता है, अपनी मातृभूमि का पराधीन होना सहन कर सकता है, अहिंसक की कौन-सी परिभाषा उसके विषय में लागू हो सकती है ? जैन सिद्धान्त की दृष्टि में तो वह परले सिरे का कायर है, नीच है। अहिंसा में कायर के लिए कोई जगह नहीं "क्षमा वीरस्य भूषणम्"। अहिंसा की पहिली सीढ़ी है निडरता। सहन शक्ति, क्षमा, धैर्य ये अहिंसा के ही अंग हैं। अब आप ही सोचिये कि निडरता और बुज़दिली दोनों एक स्थान पर कैसे रह सकते हैं।

यहाँ पर एक बात और ध्यान देने योग्य है कि जो लोग दूसरों का वध करने या हथियार चलाने की चतुराई को ही बहादुरी समझते हैं उनकी यह बड़ी भारी भूल है। बहादुरी और शूरता मनुष्य के गुण हैं। जब ये शरीर द्वारा प्रगट होते हैं तब इनका नाम वीरता होता है। और जब आत्मा द्वारा प्रगट होते हैं तो अहिंसा। जब यही बहादुरी किसी निरपराधी को दु:ख पहुँचाती है तो हिंसा कहलाती है। जब शारीरिक मोह और स्वार्थवश हिंसा की जाती है तब इसका नाम होता है दुष्टता। मोह और स्वार्थ अज्ञान से पैदा होते हैं। इसलिए अज्ञानी ही दुष्ट होते हैं। अब रही कायरता सो उसमें दूसरे को कष्ट पहुंचने की गुंजाइश ही नहीं। बेचारा कायर किसी की क्या हिंसा करेगा। वह तो है ही कायर। अब आप अच्छी तरह समझ गए होंगे कि अहिंसा और कायरता का कोई भी मेल नहीं है।

सुनते हैं एक बार महान् वैज्ञानिक न्यूटन की किसी ने प्रशंसा करते हुए कहा कि आप तो बहुत बड़े वैज्ञानिक हैं। न्यूटन ने मुस्कराते हुए कहा मेरे सामने विज्ञान का समुद्र-का-समुद्र लहरें मार रहा है जो तरह-तरह के रत्नों से भरा पड़ा है। मैं तो किनारे से दो चार चिकने पत्थर मात्र ही उठा पाया हूँ। मैं सोचता हूं जैन धर्म की विशेषता बताने में मेरी भी न्यूटन वाली दशा है। अस्तु।

"जो जन अहिंसा धर्म का पालन करेगा रीति से,
संसार सब झुक जायगा उसके पगों में प्रीति से।
उसके लिए मीठी सुधा के सम गरल हो जायगा,
उसके लिए अतिक्रूर भी अतिशय सरल हो जायगा॥"

: १ :

अवतार

"उत्सर्ग करके और जो बलिहार हुए हैं,
इस विश्व के लिये वही शृंगार हुए हैं।
मेटा अधर्म, धर्म की रक्षा जिन्होंने की,
सच पूछिये तो बस वही अवतार हुए हैं॥

यह एक ऐसी भावना है जिसके कारण कुछ आशावादी आँखें आकाश की ओर लगी रहती हैं। उन्हें किसी रक्षक के आने की सदा आशा लगी रहती है। वे प्रत्येक अत्याचार या उलट फेर के बाद किसी अवतार या पैगम्बर के आने को अवश्य भावी घटना का रूप देते हैं। कुछ लोग तो संसार भर के अत्याचारों को भी इसी उम्मीद पर सहते रहते हैं कि किसी न किसी दिन ईश्वर या उसका बेटा पोता पैदा होगा। और उनके दुःखों का निवारण करेगा।

हाँ तो यह एक ऐसा विश्वास है, जो किसी न किसी रूप से जगत के प्रायः सभी धर्मों, मजहबों और सम्प्रदायों में पाया जाता है। संसार का कोई भी सम्प्रदाय या धर्म इस विश्वास से अछूता नहीं है। हाँ नामों या कुछ अन्य बातों में अवश्य कुछ भेद हो सकता है। जैसे हिन्दू धर्म वालों को कल्की, मुसलमानों को किसी पैगम्बर, ईसाइयों को ईसा के पुनः २ यथावसर वैसे २ रूपों में उतारने का पूरा २ भरोसा है। वे आशा लगाये रहते हैं कि जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होगी तब धर्म की पुनः स्थापना तथा अधर्म का विनाश करने के लिये, साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों का विनाश करने के लिये भगवान अवतार लेगा। वह आकर उनकी रक्षा करेगा और जो उनके विरोधी हैं, जिनको वे दुष्ट कहते हैं—उनका नाश अवश्य करेगा[1]। इस विषय में भविष्य में होने वाले अवतारों के बारे में तरह-तरह की भविष्य वाणियाँ की जाती हैं। तथा अतीत काल के तथा कथित अवतारों का भी इतिहास में उल्लेख

---

[1] "यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशायच दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

मिलता है। परन्तु इस सभी रहस्य और तथ्य की खोज करने पर यह सिद्ध होता है कि इस विषय में भी कुछ लोगों ने अर्थ का अनर्थ किया है। वास्तविकता को न समझकर एक मिथ्या प्ररूपणा करदी है। और जगत रचना की तरह यहाँ भी ईश्वर को घसीट लिया गया है। कभी कछुआ-कभी मछली और वेचारे को कभी २ सूअर तक बनाया गया है। ईश्वर क्या हुआ अच्छा खासा स्वाँगिया या बहुरूपिया होगया।

हाँ तो ईश्वर वाद या जगत्कर्तृत्ववाद इत्यादि वादों की भांति इस अवतार वाद के पुष्प को भी इन भांति२ की कल्पनाओं और मिथ्या धारणाओं के कूड़े में से निकाल कर अलग करना है। जैसा कि जैन शास्त्रों ने पहिले ही किया हुआ है। कुछ स्वार्थी लोगों ने, जैसा कि कई बार कहा जा चुका है, आध्यात्मिक क्षेत्र को भी दुकानदारी बना दिया और उसमें अपना एकाधिकार स्थापित करने के लिये तथा कथित ईश्वर के अवतार की कल्पना लोगों के मस्तिष्क में किसी प्रकार उतार दी। फलतः लोग अवतार के भरोसे पर अत्याचारों का प्रतिकार या विरोध करने के स्थान पर उनको कायर की तरह सहने के आदी होगये। उनसे कोई पूछ वैठे कि संसार में इतना अनर्थ हो रहा है फिर भी तुम्हारा भगवान कान में तेल डाल कर क्यों सो रहा है ? क्यों नहीं अवतार लेता ? तो वे एक पेटेण्ट घड़ाघड़ाया जवाव देंगे। अभी पाप का घड़ा भरा नहीं है। घड़ा भी बड़ा अनोखा है। कभी तो हाथी की थोड़ी सी चिंघाड़ मात्र से ही भरजाता है और कभी भूमण्डल के सभी प्राणियों की करुणा पुकार से भी भरने को नहीं आता। कभी तो नाई की एवज़ी में (बदले) राजाओं के पैर दबाने के लिये भी भगवान भाग पड़ते थे और अब अन्न के अभाव में या और ऐसे ही कारणों से एड़ियाँ रगड़ २ कर प्राण देते रहते हैं परन्तु वही भगवान है कि कानों पर जूं तक नहीं रेंगती।

इन सभी बातों से सिद्ध होता है कि अवतार वाद के साथ ईश्वर का नाम जोड़ना सचाई का गला घोटना है। अवतार के सिद्धान्त की गहराई से खोज करने पर प्रत्येक बुद्धिमान पुरुष इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि समय २ पर आवश्यकता पड़ने पर जिन महा पुरुषोंने संसार का पथ प्रदर्शन किया, प्रकाश दिखाया तथा अत्याचारों को दूर करने के लिये आत्म-बलिदान तक दे दिया, उन्हीं को अवतार कहा गयाहै। भगवान श्रीमहावीर, महात्मा बुद्ध ईसा तथा मुहम्मद साहब इन्हीं कारणों से अवतार कहलाए। इसलिये नहीं

कि वे पहिले ईश्वर थे, बाद में मनुष्य बनकर जगतीतल पर आये । अवतार वाद में परोपकार का सिद्धान्त निहित है । अतः जो आत्माएँ संसार के बन्धनों से मुक्त होकर तीर्थं कर आदि के रूप में केवल ज्ञान–पूर्णज्ञान–प्राप्त करके भू-मण्डल पर विचरते हैं और जन्म, जरा और मृत्यु से दुःखी प्राणियों का उद्धार करते हैं, अन्धकार में भटके हुए जीवों को मार्ग दिखाते हैं । वस्तुतः वेही सच्चे अवतार हैं । इस भ्रान्त धारणा को मस्तिष्क में से निकाल देना चाहिये कि वे कोई विशेष व्यक्तियां ईश्वर के पुत्र या पौत्र होते हैं । नहीं, वे हम तुम में से ही होते हैं । अन्तर केवल इतना ही होता है कि वे आत्मिक उन्नति की श्रेणि में हमसे उन्नत हो जाते हैं ।

इस कल्पना का तो कुछ भी महत्व या मूल्य नहीं है कि संसार की अव्यवस्था का सुधार करने के लिये ईश्वर स्वयम् उतरकर आता है । इस जगतमें भला कभी पूर्ण व्यवस्था और शान्ति स्थापित भी हुई है या आगे कभी संभावना की जा सकती है । इसका तो नाम ही संसार है । यदि इसी में पूर्ण शान्ति और व्यवस्था स्थापित की जा सकती तो फिर मुक्ति के लिये इतने पुरुषार्थ और अध्यवसाय की क्या आवश्यकता थी ?

वास्तव में प्रत्येक आत्मा अपना अवतार; अपना मसीहा स्वयं है । यदि कोई जीवात्मा स्वयं शुद्ध एवं कर्ममल से रहित नहीं है तो सैकड़ों अवतार भी उस एक आत्मा का उद्धार नहीं कर सकते । भगवान श्री महावीर स्वामी के चरण सम्पर्क में रहने वाला मंखलिपुत्र गोशालक इस तथ्य का जीवित प्रमाण है । इसलिये अन्ध विश्वासों एवं अज्ञान के अन्धकार से मुक्त जीवात्मा अपना अवतार एवं रक्षक स्वयं है । आप लोग संभवत. विचार रहे होंगे कि फिर बहुत से श्रद्धालु एवं धार्मिक जीवों को आने वाले अवतार या मसीहा की इन्तज़ार करने का क्या प्रयोजन है । इस विषय में कहूँगा कि उनका लक्ष्य अपनी ही अन्तरात्मा का शुद्ध रूप है । निकट भविष्य में मुक्त होने वाले आत्मा आत्मानुभव—प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं । जब सांसारिक एवं ऐन्द्रियक वासनाएँ उनकी पूर्ण रूप से नष्ट होजाती हैं तब वे परमात्मा के साक्षात्कार के पात्र होजाते हैं । अर्थात् जो ईश्वरत्व उनमें ही रहा हुआ था उसका अनुभव करने लगते हैं । यह अनुभव किसी इन्द्रिय या शरीर द्वारा तो संभव नहीं । शरीर के अन्दर रहने वाली आत्मा द्वारा ही हो सकता है । क्योंकि यह ईश्वरत्व इसी आत्मा का ही तो निज गुण है ।

अतः इन्द्रियों द्वारा उसके साक्षात्कार का तो कोई प्रश्न ही नही उठता। आत्मा द्वारा भी तब तक उसके साक्षात्कार की कोई संभावना नही जब तक आत्मा परगुण में रम रहा है।

एक गड़रिये को शेर का बच्चा कहीं मिल गया। उसने उसे पाल लिया, भेड़ों के साथ रखने लगा। वह भी भेड़ों के साथ रहकर भेड़ों जैसी चेष्टा करने लगा। एक दिन किसी शेर ने उसको उन भेड़ों में फिरते देख लिया। शेर ने चाहा कि उस बच्चे को बतलादे कि वह भेड़ नही अपितु उसी के समान सिंह है। ऐसा करने के लिये शेर पहिले तो दहाड़ा। उसकी दहाड़ को सुनकर भेड़ें लगी इधर उधर भागने। वह बच्चा भी उन्ही के साथ भागने लगा। यह देखकर उस सिंह को और भी अधिक दुःख हुआ। जब भेड़ों के साथ वह बच्चा किसी प्रकार रुका तो वह सिंह बजाय दहाड़ने के चुप चाप उसके आगे जा खड़ा हुआ। उसे अचानक आगे खड़ा देख कर भेड़ों के तो प्राण सूख गये परन्तु वह सिंह का बच्चा सोचने लगा कि यह तो मेरे जैसा ही प्रतीत होता है। इसमें और मुझमें तो कुछ भी अन्तर नही। मैं तो व्यर्थ ही उसकी दहाड़ सुनकर भाग खड़ा हुआ था। वह डरा नहीं, वरन स्वयं ही दहाड़ने लगा और प्रहार करने उसकी ओर लपका।

ठीक यही दशा आत्मा की है। जैसे सिंह के बच्चे ने भेड़ों में रहकर अपने आप को भेड़ ही समझ लिया था उसी प्रकार आत्मा भी इस संसार में रहकर अपने आपको शरीर रूप ही समझ बैठा है। या परगुण में रमण कर रहा है। जैसे उस सिंह को देखकर उस बच्चे को अपनी असलियत का ज्ञान होगया था, उसी प्रकार किसी महान आत्मा के दर्शन से अथवा स्वतः ही जब आत्मा को निजगुण का पता चल जायगा वह स्वयं ही ईश्वर है। और जो आत्मा के निजगुण का भान कराने में निमित्त हो जाते हैं उन्हें हम अवतार कह सकते हैं। वास्तविक अन्तर कुछ भी नहीं।

यह सब कहने का तात्पर्य यही है कि आत्मा स्वयं अपना उद्धारक है। अवतार वाद सभी ने माना है परन्तु उसका यह अर्थ कदापि नही कि सारी दुनियाँ का उद्धार करने वाला ईश्वर उत्पन्न होता है। ईसाइयों की बाइबिल को भी गहराई से देखने पर इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि वहाँ भी कहीं ऐसा उल्लेख नहीं, जिसमें किसी विशेष ईश्वर का जगत् में आने का उल्लेख हो। एक स्थान पर ईसा ने स्वयं अपने अनुयायियों को उन नकली अवतारों

से सावधान रहने के लिये कहा है जो समयर पर अपने आपको ईश्वर या ईश्वर का भेजा हुआ मसीहा बतलायेंगे। इससे स्पष्ट होजाता है कि ईसाई धर्म में भी ईश्वर के अवतार को नहीं अपितु उच्चआत्मा को ही अवतार स्वीकार किया है। देखिये महात्मा पाल क्या कहते हैं प्रत्येक व्यक्ति, जो ईश्वरीय भावना से ओत प्रोत है, ईश्वर का पुत्र है'। ईश्वर के पुत्र के अवतरण के उल्लेख का रहस्य भी यही है। यदि किसी वास्तविक उद्धार कर्त्ताका अवतार होना है तो वह आप ही के अन्दर से होगा कहीं बाहर से नहीं।

इस सचाई को भली भांति समझने के लिये इस विषय में जैन सिद्धान्त की राय जान लेनी परम आवश्यक है। कर्म परमाणुओं से सम्पर्क होजाने से आत्मा की सर्वज्ञता घिरी हुई है।-इसी कारण यह अल्पज्ञ बना हुआ है। और उस पौद्‌गलिक व्यवधान को दूर करते ही आत्मा निज गुण को पाकर सर्वज्ञ हो जाता है। जब तक आत्मा इन्द्रियों की वासना पूर्ति की धुन में है तबतक इसका ध्यान निजगुण से हटकर परगुण में लगा हुआ है। यही कारण है कि वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूला हुआ है। धार्मिक क्रियाओं के आचरण का उद्देश्य आत्मा का ध्यान इसके निजगुण की ओर आकृष्ट करना, इसके सर्वज्ञत्व स्वभाव को बतलाना और अपने गौरव को पहिचानने का उपदेश करना है।

तीसरा खण्ड

श्र
द्धा
ञ्ज
लि
यां

मानवता के निधि

[जैन-धर्म-दिवाकर जैनागम-रत्नाकर जैनाचार्य पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज]

परम श्रद्धेय श्री गणी जी महाराज का जीवन एक महान उज्ज्वल समुज्ज्वल, अत्युज्ज्वल प्रकाशमान दिव्य प्रतीक है। गणी श्री जी म० ने अपने जीवन की दिव्य ज्योति से जैन-संसार को प्रकाशित कर के साधुता का महान पुण्य आदर्श उपस्थित किया है। गणी श्री जी म० अनुपम हैं, अथवा यूं कहना चाहिए कि अपनी उपमा वे स्वयं हैं।

गणी श्री जी म० का अनेकों ने मात्र दर्शन किया है, अनेकों ने उनका मात्र पावन नाम सुना है एवं अनेकों ने उन के अमृतोपम सदुपदेशों से अपने कर्ण-कुटीर को पावन बनाया है, किंतु मुझे तो उन की पावन सेवा में अनेकों वर्ष रहने का सौभाग्य उपलब्ध हुआ है, अनेकों चातुर्मास उन के श्री चरणों में व्यतीत किये हैं। मुझ पर भी उस मानवता के पुञ्ज की महती कृपा थी। उनके कृपा-पात्रों में से एक होने का मुझे भी गौरव प्राप्त है। उन के दिव्य श्री चरणों में रह कर मैं ने जो कुछ पाया है, उसे अंकित करने लगूं तो एक विशाल-काय ग्रन्थ तैयार हो सकता है। किंतु उस परमतेजस्वी महापुरुष के चरणों में अपनी अपनी भावभरी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पण करने के लिए उपकार-भार से लदी हुई अनेकों लेखनियां पत्रों के पथ पर दौड़ लगा रहीं होंगी। अतः मैं व्यापकता में नहीं जाऊंगा किंतु उनके पावन श्री-चरणों में श्रद्धाञ्जलि ही समर्पित करूंगा।

गणी श्री जी म० का नाम है—"उदय-चन्द्र"। जिस का भावार्थ है—"चन्द्र का उदय"। वास्तव में देखा जाए तो गणी श्री जी म० का प्रादुर्भाव चन्द्र का ही उदय है। जैसे अन्धकार की कालिमा से व्याप्त रात्रि में चन्द्र का उदय अन्धकार-कालिमा को विनष्ट कर संसार को प्रकाश-पुञ्ज बना डालता है तथा व्याकुल संसार में शीतलता का सरस संचार करता है, ठीक ऐसे ही परम-यशस्वी गणी श्री जी म० के प्रादुर्भाव ने अज्ञानता का विनाश कर पथप्रदर्शक का काम किया है और कलुषित आन्तरिक वृत्तियों को शान्त करने में भरसक प्रयत्न किया है। अतः गणी श्री जी म० का—"उदय-चन्द्र" यह नाम महान गंभीर अथ च मौलिक अर्थ को लिये हुए है। इस की साक्षी इन का दिव्य जीवन है।

गणी श्री जी म० को स्थानकवासी चतुर्विध जैन-संघ पंजाब की ओर से गणि-पद की उपाधि दी हुई थी। 'गणी' यह एक आदरास्पद शास्त्रीय उपाधि है। जो अनेकानेक चमत्कारों से परिपूर्ण महान व्यक्तित्व पर निर्भर है। गणि-पद की व्यापकता अथ च महानता का मगध-देश की प्रसिद्ध राजधानी राजगृह को जन्म ले कर पावन करने वाले श्री शय्यंभव आचार्य ने श्री दशवैकालिक सूत्र में बड़े मौलिक शब्दों में वर्णन करते हुए लिखा है—

जहा ससी कोमुइ-जोगजुत्तो,
नक्खत्त-तारा-गण परिवुडप्पा।
खे सोहइ विमले अब्भमुक्के,
एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे
[दशवैकालिक सू० अ० ६. उद्दे-१. गा० १२॥]

इस का भावार्थ निम्नोक्त है—

जिस प्रकार शरदपूर्णिमा की रात्रि में निर्मल आकाश पर चन्द्रमा[1], तथा नानाविध ताराओं के समूह से परिवृत नक्षत्र महान शोभास्पद होता है, ठीक इसी प्रकार गणी भी भिक्षु-वृन्द के मध्य में विराजमान होता हुआ महती सुषमा को धारण करता है।

गणि-पद की महानता का जो चित्र स्वनामधन्य श्री शय्यंभव आचार्य ने अंकित किया है, उसको गणी श्री जी महाराज को सजीव प्रतिमा कहदिया जाय तो कोई अनुचित न होगा।

"अजमेर साधु-सम्मेलन" से कौन ऐसा जैन है जो अपरिचित होगा? वहां माननीय अथ च आदरणीय सैंकड़ों मुनिवर विराजमान थे, हज़ारों की संख्या में श्रावक और श्राविकाएं थीं। उस साधु-सम्मेलन की अध्यक्षता के लिये सभी का ध्यान केवल श्रमण संस्कृति के महान गौरवास्पद गणी श्री जी म० की ओर ही गया। सब ने ऐक्य-मत हो इन्हें ही अपना प्रधान निश्चित किया। इन्हीं की प्रधानता में साधु-सम्मेलन का समस्त कार्य-क्रम निर्विघ्न समाप्त हुआ। साधु-सम्मेलन में उपलब्ध अध्यक्ष-पद से यह निर्विवाद सिद्ध है कि गणी श्री जी म० ने मात्र पंजाब में ही नहीं किंतु सर्वत्र आदर और सम्मान प्राप्त किया जो कि उनके प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व का मधुर फल था।

निर्भीकता आत्मा का सहज गुण है। महापुरुष बनने के लिये निर्भीकता का प्राप्त करना आवश्यक होता है। निर्भीकता से ही मानवता को सुरक्षित

---

[1] नक्षत्र तथा ताराओं के समूह से परिवृत चन्द्रमा शोभास्पद होता है, ऐसा अर्थ मूलानुकूल है—संपादक

रक्खा जा सकता है। मानवता के निधि श्री गणी जी म० की निर्भीकता सर्व प्रसिद्ध है। इन्हें सत्य को सुरक्षित रखना खूब आता था। नाभा-शास्त्रार्थ में इन की आशातीत विजय उस का स्पष्ट उदाहरण है।

गणी श्री जी म० बड़े शान्त-स्वभावी थे, वाणी में बड़ी अद्भुत मधुरिमा थी, साधुता के सफल उपासक थे, ज्ञान दर्शन तथा चरित्र के पूर्ण आराधक थे। अधिक क्या—"किं जीवनं ! दोषविवर्जितं यद्" यह जीवनोक्ति गणी श्री जी म० के जीवन में पूर्णतः चरितार्थ होती थी।

यह दुखः की बात है तथा हमारा दुर्भाग्य है कि आज परम-पूज्य श्री गणी जी म० पार्थिव शरीर में विद्यमान नहीं हैं किंतु दैविक जगत में विराजमान हैं तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि हम उस दिव्य विभूति के पावन उपदेशों को भूल जाएं और उनको उपेक्षा कर डालें। किंतु हमारा कर्त्तव्य तो यह है कि इनके श्री चरणों का ध्यान करते हुए उन के मंगलमय उपदेशों को जीवन में लाएं। और अपना जीवन कृत-कृत्य बनाएं। उनकी उपकार-राशि हमारे ऊपर देन है। वह तभी उतारी जा सकती है—कि जब हम गणी श्री जी म० के सन्देशानुसार अपनी जीवन यात्रा चलाएं और अपनी आत्मा का विकास करें। जितना हम उनकी आज्ञा का पालन कर अपने जीवन को उज्ज्वल बनायेंगे उतना ही अपने को उनके अधिक समीप पायगें। और ऐसा करने में ही हमारी श्रद्धाञ्जलियाँ सफल हो सकती हैं।

गणी श्री जी म० के अनेकानेक अलौकिक उपकारों का सादर आभार मानता हुआ मैं भी उनके पवित्र श्री चरणों में श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ।

उज्ज्वल ज्योति

[जैनाचार्य पूज्य श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज]

श्रद्धेय गणीश्री उदयचन्द्र जी महाराज, जैन संसार के एक महान् उज्ज्वल ज्योतिस्वरूप मुनिराज थे। उनके जीवन ने जब से मुनिधर्म के पवित्र क्षेत्र में प्रवेश किया, तभी से वे अन्त तक अखण्ड ज्योति के रूप में जगमगाते रहे, प्रकाश देते रहे और आस-पास के अज्ञानान्धकार से संघर्ष करते रहे।

गणीश्री, माधुर्यभाव की साक्षात् सजीव मूर्ति थे। उनकी वाणी में वह अपूर्व माधुर्य था, जो हर किसी परिचित और अपरिचित व्यक्ति को सहसा मोह लेता था। एक बार भी उनके परिचय में आया हुआ व्यक्ति, उन्हें प्राय

जीवनभर भूलता नहीं था। उनके व्यक्तित्व में एक विचित्र जादू का-सा आकर्षण था।

मैंने कई बार उनके दर्शन किए हैं। वे मुझसे बहुत बड़े वयोवृद्ध संत थे। परन्तु वे पद-मर्यादा का बड़ा खयाल रखते थे। उनकी भाषा, आदर के साथ बोलना और बोलने में प्रेम, स्नेह, सद्भाव एवं अपनेपन को मिश्रित कर देना, कभी भूलती न थी। मैं जब कभी उनसे मिला हूँ, मुझे अतीव आनन्द आया है और हर बार अधिक से अधिक आनन्द आया है। मेरे मनमें उन का चित्र, एक आदरणीय महान् आत्मा के रूप में अंकित है।

पुराने आदमी कट्टर सम्प्रदायवादी और अनुदार होते हैं, यह लोकोक्ति आज-कल काफी प्रचलित है। परन्तु गणी जी महाराज, इसके अपवाद थे। वे पुराने युग के प्रतिनिधि होते हुए भी उदार, एवं असाम्प्रदायिक भावना के अधिकारी थे। जब भी कभी उनसे बात होती, वे अखिल जैन-समाज को एक संघ के रूप में संयुक्त करने के सम्बन्ध में बात करते थे और आजकल की संकीर्ण साम्प्रदायिक भावनाओं को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। उनके पास सुदूर मारवाड़ आदि प्रान्तों के विभिन्न संप्रदायी मुनिराज आते रहते थे। वे सबके साथ प्रेम का ऐसा सुन्दर व्यवहार करते कि सबको अपना प्रशंसक बना लेते।

समाज-सुधार की भावना, उनके मन में तीव्र गति से प्रवाहित होती रहती थी। उन्होंने अपने जीवन में गृहस्थ समाज में से अनेकानेक कुरीतियों को दूर किया और सत्य का उज्ज्वल प्रकाश फैलाया। उन्हें मिथ्या क्रियाकाण्डों और आडंबरों से बलवती घृणा थी। जब भी कभी अवसर मिलता, इन पर करारी चोट करते और दंभ के अदृश्य दुर्गों को ध्वस्त कर डालते। आपके प्रिय पट्ट शिष्य श्री रघुवरदयालजी, मुझे सुनाते थे कि "श्री गणी जी महाराज ने अपने जीवनकाल में ही दिल्ली निवासी ला० रामरक्खा मलजी को एक सूचनापत्र लिखाया था कि मेरे मरने पर कोई आडंबर न किया जाय, मृतक शरीर पर दुशाले आदि न डाले जायँ। बखेर न की जाय। सामान्यरूप से ही सब कार्य सम्पन्न होना चाहिए। श्री संघ जो भी खर्च करना चाहे वह व्यर्थ में खर्च न कर गुरुकुल आदि संस्थाओं की सहायतार्थ खर्च करे।" यह है उस महान् सुधारक के अन्तर्हृदय की अमरवाणी। अपने परलोकगमन पर होने वाला प्रचलित आडंबर भी उन्हें पसंद नहीं था। कितना जागरूक हृदय था उस महान् आत्मा का।

आज का साधुसमाज भय और आतंक के वातावरण में रहता है। किसी

भी सत्य बात को कहते, उसे अपनी अप्रतिष्ठा का डर लगता है और वह समाज के विद्रोह से कँपकँपाता है। परन्तु गणी जी महाराज, इस सम्बन्ध में बड़े ही निर्भीक वक्ता थे। सत्य पक्ष का समर्थन करते हुए उन्हें कभी संकोच नहीं हुआ। वे जब सत्य पक्ष पर अड़ जाते थे तो दृढ़ता से अड़ जाते थे। प्रतिद्वन्द्वी लोकमत की उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती थी। उनके जीवन का मूल मंत्र था—'सत्येनास्ति भयं क्वचित्।' अर्थात् 'सत्य है तो फिर भय किस बातका ?'

वह महान् आत्मा, हमसे अलग हो गया है। अब जैन समाज, उसके साक्षात्कार का लाभ न उठा सकेगा। स्थूल शरीर के रूप में, अब हम, उन्हें नहीं पा सकते हैं तो क्या है ? परन्तु उनके उपदेश और सत्कार्य तो हमारे समक्ष अब-भी हैं। यदि जैन समाज, उनके जीवन-चरित्र का कुछ भी अनुकरण करे तो अपने को युगानुकूल महान् बना सकता है, और स्वतंत्र भारत में स्वतंत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। उनके चरणों में हमारी यही श्रद्धांजलि है कि हम उनके प्रिय मिशन को पूरा करें।

धीरोदात्त सन्त

[जैनाचार्य पूज्यश्री हस्तीमलजी महाराज]

गणी श्री उदयचन्द जी महाराज, पंजाब सम्प्रदाय के एक माननीय सन्त थे। अजमेर साधु-सम्मेलन के समय, आपके दर्शन और समागम का अवसर प्राप्त हुआ। आप स्वभाव से ही धीरोदात्त दीख पड़ते थे। यत्राऽऽकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति ? यह वाक्य आपमें चरितार्थ था। साधु सम्मेलन में आप सब साधुओं की तरफ से शान्ति रक्षक पद पर प्रतिष्ठित किये गए। विभिन्न विचारों के मुनियों में शान्ति एवं व्यवस्था कायम रखना, यह कोई सहज काम न था। फिर भी जिस आशा और विश्वास से आपको यह भार सौंपा गया, उसी योग्यता से आपने उसका निर्वाह किया।

आपकी तर्कशक्ति प्रतिभापूर्ण थी। नाभा शास्त्रार्थ में राजसभा के सामने प्रतिपक्षियों से मुखवस्त्रिका के विषय में विजय प्राप्त करके तो आपने समाज का खूब ही गौरव बढ़ाया है। पंजाब संप्रदाय ही नहीं, बल्कि सारी साधु मार्गीय सम्प्रदाय, आपके प्रति कृतज्ञता प्रगट करती है। हम अनुभव करते हैं कि असमय में आपके स्वर्गगमन से समाज में एक बड़ी क्षति हुई है।

हम विश्वास रखते हैं कि आपके अनुयायी साधुगण-विरह-व्यथा को दूर कर आपके सद्गुणों को वारिस रूप से ग्रहण करेंगे और आपके स्वर्गवास से साधु मार्गीय सम्प्रदाय में आई हुई क्षति को दूर करेंगे।

शान्त व्यक्तित्व

[जैनाचार्य पूज्यश्री मिश्रीमल्लजी महाराज]

मैं गणी जी महाराज से अधिक परिचित तो नहीं हूं; परन्तु बचपन में अपने स्वर्गीय गुरुवर स्वामी श्री जोरावरमल जी महाराज से तथा वर्तमान में गुरु महाराज (बड़े गुरु-भ्राता जी) श्री स्वामी श्री हजारीमल जी महाराज के मुखारविन्द से कई बार गणी जी महाराज के विषय में सुनता रहा हूं। उनकी प्रशंसा सुनकर, उनके दर्शनों की लालसा, मन में जागृत हुई थी; और वह अजमेर-सम्मेलन के समय सफल भी हुई। यद्यपि अजमेर सम्मेलन के समय आपसे अधिक परिचय प्राप्त नहीं कर सका; किन्तु उनका शान्ति-प्रिय व्यक्तित्व आज भी मेरी आंखों के सामने है। आज वे समाज में नहीं रहे, यह हमारे समाज के लिए एक दुर्भाग्य की बात है।

श्री गणी जी आज हमारे सामने स्थूल शरीर में नहीं हैं, परन्तु उनका उज्ज्वल चरित्र आज भी हमारे सामने है। हमारा कर्तव्य है कि हम उनके शान्तिप्रिय जीवन के उज्ज्वल चरित्र से अपने जीवन को शान्त और उज्ज्वल बनावें।

चमकते नक्षत्र

[श्रीमज्जैन दिवाकर पण्डित रत्न मुनि श्री चौथमल जी म०]

गणिवर्य पं० श्री उदयचन्द जी म० से हम अजमेर मुनि-सम्मेलन के सुअवसर पर मिले थे। आप बड़े विद्वान एवं प्रकृति के कोमल थे। जैन समाज के गौरव बढ़ाने में सतत प्रयत्नशील रहते थे। आप बड़े चर्चावादी थे। मुनि-सम्मेलन, अजमेर में आप शान्ति संस्थापक थे।

आपने ९४वें की साल सदर देहली में पूज्य खूबचन्द जी म० से मिलकर प्रसन्नता दरसाई थी, और सम्मिलित व्याख्यान में, जब मैंने जैन समाज में वृद्धाश्रम की नितान्त आवश्यकता पर उपदेश दिया तो गणिवर्य ने पूर्ण प्रेम से समर्थन करते हुए विषय की पुष्टि की थी।

आप स्थानकवासी समाज के एक चमकते हुए नक्षत्र थे। आपके स्वर्गवास से स्थानकवासी समाज को एक भारी क्षति पहुँची है।

समाज की नाड़ी के कुशल वैद्य

[व्याख्यान वाचस्पति, नवयुग सुधारक पं० मुनि श्री मदनलाल जी महाराज]

परम श्रद्धेय पूज्यपाद श्री गणी जी महाराज के श्री चरणों में श्रद्धांजलि

के रूप में क्या लिखूं ? यह लिखने की वस्तु नहीं, मन में अनुभव करने की वस्तु है। तथापि भावुक मन के अन्तरतम भाग में गणी जी महाराज के प्रति जो श्रद्धा है, भक्ति है और सहज आदर भावना है, वह सहसा घनीभूत होने के कारण शब्दों का रूप लेना चाहती है। यही आज की भाषा में श्रद्धांजलि है और यह श्रद्धांजलि उस महान् आत्मा के चरणों में सादर समर्पण कर रहा हूँ।

श्रद्धेय गणी जी महाराज वर्तमान जैन समाज में एक अग्रगण्य एवं अनुभवी मुनिराज थे। समाज की नाड़ी को कुशल वैद्य की भाँति बहुत अच्छी तरह परखते थे। आपके विशाल अनुभव के द्वारा जैन संसार को यथावसर विषम स्थितियों में क्या लाभ पहुँचा है, यह सर्वतः प्रसिद्ध है। विकट से विकट स्थिति में भी आपका अनुभवी हृदय कभी धैर्य नहीं खोता था। कभी-कभी सघन अन्धकार में आपके द्वारा वह प्रकाश मिलता था कि देखने वाले आश्चर्यचकित हो जाते थे।

आपका स्वभाव अतीव शीतल एवं शान्त था। उत्तेजना के विकट वातावरण में भी आप कभी आवेश में न आते थे और मर्यादा से बाहर न होते थे। विरोधी से विरोधी विद्वानों ने भी आपके इस महान् गुण की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। आपकी आश्चर्यजनक सफलताओं का रहस्य अधिकतर आपके शीतल एवं शान्त स्वभाव में छुपा हुआ था।

अखिल भारतीय जैन साधु सम्मेलन अजमेर में जब व्यवस्थापक के रूप में शान्तिसंरक्षक बनाने का प्रश्न सामने आया तो सब संप्रदायों के मान्य प्रतिनिधियों ने एक मत होकर आपको ही उक्त पद के लिए चुना था। आप की सर्वप्रियता का यह उत्कृष्ट उदाहरण है। आपने अपने सहज शीतल स्वभाव के द्वारा शान्ति संरक्षक के महान् पद को बड़ी ही सुयोग्यता से निबाहा। आपने किसी के प्रति किसी भी प्रकार का पक्षपात नहीं किया। आपकी शासनप्रणाली अनुकरणीय थी।

आप वृद्ध होते हुए भी युवकों जैसा हृदय रखते थे। आप पुराण पंथी न होकर, एक आदर्श सुधारवादी थे। समय-समय पर आपने अपने उन्नत विचारों के द्वारा समाज में जो क्रान्ति की उज्ज्वल किरणें फेंकी हैं, वे आज भी हमारा पथ प्रदर्शन कर सकती हैं।

आपके श्री चरणों में रहने का मुझे सौभाग्य मिला है। विक्रम संवत् २००२ का चातुर्मास आपके चरणों में ही सदर बाजार देहली में हुआ था। वह समय किस आनन्द और शान्ति में गुजरा, इस सम्बन्ध में क्या कहूँ ? आपका

स्नेह और सद्भाव मुझे मुक्त वरदान के रूप में मिला। आपकी स्नेहशीलता और दूरदर्शिता प्रशंसनीय थी। जब कभी आपके पास बैठना होता, समाज और धर्म के अभ्युदय की चर्चाओं में ही संलग्न रहते। आपके हृदय में जैन धर्म का प्रेम सागर हिलोरें लेता था।

आज आप हम में नहीं रहे हैं, मानव लोक से विदा होकर चले गए हैं। खेद है भक्त जनता अब आपके दर्शन न पा सकेगी। परन्तु हम आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें तो खेद की कोई बात ही नहीं है। आपके जीवन के ऊँचे आदर्श आज भी हमारा पथ-प्रदर्शन करने के लिए जीवित हैं और उन्हें हमें सदा जीवित रखना चाहिए। किसी भी सत्पुरुष के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि यही है कि हम उनके आदर्शों पर अपना और पर का कल्याण करें।

श्रद्धा के पुष्प

[आशुकवि युवाचार्य पं० श्री शुक्लचन्द्र जी महाराज]

गणी उदय चन्द महाराज हुआ, इद्धार तुम्हारे जीवन में।
हुआ धर्म समाज क्या राष्ट्र का, सुधार तुम्हारे जीवन में॥
जो जो संकट आए जब जब, आपने शान्त किए तब तब।
वादिजन के सब आडम्बर, हुए छार तुम्हारे जीवन में॥
शास्त्रज्ञाता जगविख्याता, निर्भीकवक्ता जन हितकारी।
मिला ज्ञान ध्यान अमृतवाणी का सार तुम्हारे जीवन में॥
उपकार जिसे कहती दुनियां, उसके प्रत्यक्ष अवतार थे तुम।
निराधार अपूर्व से हम हुए जो, साधार तुम्हारे जीवन में॥
क्या कहें उपमा मिलती नहीं, दुख से रसना हिलती नहीं।
धर्म शुक्ल रवि अस्त हुआ, जो शृंगार था तुम्हारे जीवन में॥
हम आभारी आपके ऋण से हैं, और मुग्ध तुम्हारे गुण से हैं।
हे शान्तवीर ! रसधारी हुआ, उपकार तुम्हारे जीवन में॥
हम से न आप कहीं दूर कभी, क्योंकि हम आपके बच्चे हैं।
यदि भाव हमारे सच्चे हैं, भवपार तुम्हारे जीवन में॥

× × ×

कान्धला यू० पी० में है, सो उदयाचल से कम नहीं।
यहां से रत्न पैदा हुए, वो मार्तण्ड से कम नहीं॥
मिथ्या तम फैला हुआ था, घोर जब संसार में।
बह रहे थे भव्य जीव, अज्ञान जल की धार में॥

आचार्य सम्राट सोहनलाल ने देखा जभी।
आत्मशक्ति से पसारी भानुवत् किरणें तभी॥

आप के शिष्य गैण्डे राय मुनि गुण धाम थे।
तल्लीन संयम में सदा, रहते वो अविराम थे॥

तच्छिष्य गणी श्री उदय चन्द, जिन धर्म प्राणाधार थे।
कैसे लिखें सब आप में वे गुण जो अपरम्पार थे॥

वादिमानमर्दन का पद नाभा नरेश से मिला।
तोड़ डाला जहां कहीं था, वादियों का गढ़ किला॥

नम्रता गम्भीरता पर आपका पूर्ण अधिकार था।
शम वह दम क्या क्षमा आदि योगिगुणाश्व-सवार था॥

मुनि सम्मेलन सफल था, अजमेर का तुमनें किया।
शान्ति-रक्षक का वहां, प्रधान पद तुम को दिया॥

जहां कहीं अटकी भँवर चक्कर में नाव समाज की।
कुशलता से पार कर, की सेवा भारी समाज की॥

आदर्श गुण मुनि शुक्ल के हृदय में जा सकते नहीं।
परमार्थी निर्यामक गुरु हम तुम सा पा सकते नहीं॥

फूल श्रद्धा के हृदय से आपको अर्पण करूं।
मार्गदर्शक आप को शिक्षा का मैं दर्पण करूं॥

धन्यवाद के पात्र मुनि जो आपकी सेवा में थे।
भाव शुभ निवृत्ति के जिनके, मोक्ष फल मेवा में थे॥

मन्त्री मिस्टर आपका रोपड़ में लाला मेहरचन्द।
प्रेम लिख सकते नहीं सेवक जो आला मेहरचन्द॥

स्वयं जानें या कोई सर्वज्ञ जाने उस प्रेम को।
व्यवहार से ही जानते हम, शुभाशुभ परिणाम को॥

लाला रङ्गी लाल जी, सेवक अपूर्व जो आपका।
उसको अब आधार है बस, आपके ही जाप का॥

बारह वर्ष जो चरण रज, मस्तक पै लगाता ही रहा।
आपका बन करके मुन्शी, सेवा निभाता ही रहा॥

कांधले को छोड़ कर नित्य कृपा दृष्टि में रहा:
गुरुवर बसा जा स्वर्ग में, न मनुष्य सृष्टि में रहा॥

हे जैन कुल कमल दिवाकर

[जैन भूषण उपाध्याय पं० मुनि श्री प्रेमचन्द जी म०]

श्रद्धेय, पूज्यपाद सहस्राष्ट श्री स्वर्गीय गणिवर्य, श्री उदयचन्द्र जी महाराज, यद्यपि आप आज जैन संसार के समक्ष नहीं हैं किन्तु आपका उज्ज्वलयश, त्यागमय जीवन, धर्म रक्षण, समाजोत्थानादि विशिष्ट गुण आज भी जैन समाज के दिलों में ठांठें मार रहे हैं। हां, यह बात शत प्रतिशत सत्य है कि उदयमान चन्द्रास्त हो गया है। इससे मानव-जाति जिसमें विशेषकर जैन जाति को यह महान् क्षति पहुँची है जो कि चिरकाल तक पूर्ण होनी अति-कठिन है। संसार का कथन है कि चन्द्रास्त हो जाता है, लौकिक दृष्टि से भले ही ऐसा हो किन्तु वास्तविक दृष्टि से तो चन्द्रास्त कभी भी नहीं होता है। वह तो अपनी शीतलमयी ज्योत्स्नाओं के प्रकाश से किसी-न-किसी लोक को प्रकाशित करता ही रहता है, ठीक ऐसे ही आपके तेजस्वी जीवन से स्वर्गादिक लोक का चमत्कृत होना स्वाभाविक ही है, किन्तु आपका हमारी आंखों से ओझल हो जाना हमारे लिये महा दुःखद है। हे जैन धर्म-निष्णात ! आपकी प्रचण्ड मार्तण्ड समान गुणावलि के आगे मेरे ये कतिपय श्रद्धा के पुष्प, अभिनन्दन-स्वरूप हास्यास्पद तो अवश्य होंगे किन्तु मेरे मानसिक विचारों का प्रबल प्रवाह कठोर आग्रह करता है कि मैं आपकी गुणावलि के विषय में कुछ अवश्य कहूँ। हे जैन कुल कमल दिवाकर ! आपकी गुणावलि के विषय में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना है—

हे पांचाल देश गौरव, महात्मन् ! आपने जो शीतोष्णादि कष्टों को सहन कर पादचारी होते हुए भी देश-भ्रमण करके मानव संसार में जो धर्म-प्रचार किया है वह किसी से भूला हुआ नहीं है। हे शास्त्रार्थ महारथी ! आपने बड़े-बड़े राज दरबारों में शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त करके जो जैन समाज का गौरव बढ़ाया, जैन समाज इस ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकता। हे शान्तमूर्ते, अजमेर के साधु महा-सम्मेलन में तीन-चार सौ मुनियों की संख्या होने पर भी मुनि समाज ने आपको ही शांति संस्थापक पद पर नियुक्त किया था, यह आपके धैर्य और शांति का ज्वलन्त प्रमाण है, हे तार्किक स्वामिन ! आपकी तर्क बुद्धि, वाक्पटुता, विचारशीलता तो अति ही प्रशंसनीय है। हे स्वनाम धन्य, योगीश्वर ! आपके शुभ नाम ने "यथा नाम तथा गुण" वाली लोकोक्ति को सार्थक कर दिखाया। यह परम्परा से प्रचलित एक प्राकृतिक नियम है कि पांच भौतिक विनश्वर शरीर तीर्थंकरादि किसी का भी स्थिर

नहीं रहा किन्तु महापुरुषों की गुण-गाथायें ही इस परिवर्तनशील संसार में अमर रहा करती हैं। मैं पूर्ण आशा करता हूं कि यह आपका पवित्र जीवन-चरित्र संसार के लिये पथ-प्रदर्शक बन कर संसार को चिरकाल तक पथ-प्रदर्शन कराता रहेगा।

महान् आत्मा

[शान्त मूर्ति गणी श्री श्यामलाल जी महाराज]

श्रद्धेय गणी श्री उदयचन्द्र जी महाराज, अपने युग के एक महान् आत्मा और सत्पुरुष थे। उनका त्याग, वैराग्य, साधुत्व एवं नेतृत्व सब कुछ उच्चकोटि का था। वे अन्धकार में प्रखर प्रकाश-पुंज के समान चमकते आये और जीवन भर चमकते रहे।

उनका हृदय विराट् था। वह क्षुद्र संकीर्णता की भावनाओं से परे था और हर किसी परिचय में आने वाले व्यक्ति को अपनेपन की भावना अर्पण करता था। वह वयोवृद्ध सन्त, आज भी जब स्मृति पथ पर आता है तो प्रसन्न मुद्रा से हृदय में हर्षोल्लास भर देता है। उनका वह सदा प्रसन्न रहने वाला मुख चन्द्र कभी भुलाया नहीं जा सकता।

स्वतन्त्र भारत में जैन धर्म को युगानुकूल रूप देने के लिए, आज उनकी बड़ी आवश्यकता थी। उनका विशाल प्रतिभाशाली मस्तिष्क, प्रारम्भ से ही जैन-समाज का नेतृत्व करता आ रहा था और आज वह होता तो समाज को विलक्षण नेतृत्व प्राप्त होता। परन्तु दुःख है वे आज हम में नहीं रहे हैं। उनके स्वर्गवास से जैन संसार की महान् क्षति हुई है। यह क्षति, भविष्य में कहां और कब पूरी होगी ?

गणी श्री जी का प्रकाशमान जीवन-चरित्र अब भी हमारे सामने है। उनके अनुयायी अथवा दूसरे समाज-हितैषी भी, यदि चाहें तो उनके जीवन-चरित्र से महान् प्रकाश ले सकते हैं और अपने जीवन का कल्याण कर सकते हैं।

प्रकाश स्तम्भ

[उपाध्याय कविरत्न पं० मुनि अमरचन्द्र जी महाराज]

रात्रि का समय हो और चारों ओर ऐसा घोर अन्धकार हो कि हाथ को हाथ भी नहीं सूझ पड़े, ऐसी विकट स्थिति में यदि कोई यात्रियों की टोली हाथ में मशाल लेकर किसी दुर्गम घाटी को पार कर रही हो और दुर्भाग्य वश आंधी के प्रचंड झोंके से यदि उस समय वह मशाल बुझ जाय तो उन पथिकों के सामने कैसी

भयंकर परिस्थिति पैदा हो सकती है ? यह हर कोई मनुष्य कल्पना कर सकता है।

ठीक ऐसे ही भयावह समय में, जब कि चहुँ ओर संप्रदायवाद का तूफान पूर्ण वेग के साथ उमड़ रहा है, समाज में जब कि अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को आवश्यकता से अधिक जोर दिया जा रहा है, साधु मण्डली जब कि अपना गन्तव्य पथ भूलकर विपरीत दिशा में भटक रही है, इस जाज्वल्यमान प्रदीप का बुझ जाना जैन समाज के लिए कितना भयावह तथा दुःखप्रद हो सकता है, इसको वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। केवल अनुभव किया जा सकता है।

श्रद्धेय गणि श्री उदयचन्द्रजी महाराज जैन समाज के एक प्रकाश स्तम्भ थे। जिनके ज्ञान के प्रकाश की किरणें फैलकर चतुर्मुखी दिंगमण्डल को प्रकाशमान कर रही थीं। ज्ञानी की दृष्टि में मरना और जीना दो भिन्न वस्तु नहीं हैं। अतः गणीजी महाराज की मृत्यु क्या हुई है ? आध्यात्मिक भाषा में मृत्यु तो उनकी हुई है जो उनके पावन-चरणों में बैठकर ज्ञान-दान लिया करते थे। अब उन्हें ज्ञान का वह दिव्य प्रकाश कहाँ से मिल सकेगा ?

एक दृढ़ संयमी एवं आत्मनिष्ठ साधक की जितनी उच्च साधना होनी चाहिये उसके दर्शन मैं उस पवित्र आत्मा में करता था। अहिंसा उनके जीवन में किस प्रकार घुल-मिल गई थी, यह उनकी दिनचर्या से स्पष्ट झलकता था। मैं प्रतिदिन देखता था कि वह नीचे से ऊपर चढ़ते और चढ़ते-चढ़ते जब बीच में पहुँच पाते तो उन्हें सांस चढ़ जाता था। किन्तु बीच में ही यदि कोई भक्त मिल जाता और कहता कि महाराज ! मांगलिक सुना दीजिये तो उस समय वे अपनी ओर न देखकर उसकी प्रार्थना पूर्ण करने का सत्प्रयत्न करते थे। ऊपर से निवृत्त होकर ज्यों ही हाँफते हाँफते नीचे पहुंचते तो फिर भी मैं उनको मांगलिक ही सुनाते पाता। यह सब देख कर मुझे बड़ा दर्द होता। आखिर, एक दिन पूछ ही बैठा कि—"महाराज ! आप तो बहुत वृद्ध हो गये हैं और ऊपर उतरने-चढ़ने में आपको काफी कष्ट होता है, फिर मांगलिक आदि सुनाने के छोटे-छोटे कार्यों से क्यों चिपटे रहते हैं ?

उन्होंने मुस्करा कर उत्तर दिया—"कविजी ! यह तो ठीक है किन्तु, आप देखते हैं कि यह बिचारे श्रद्धा भक्ति से कितनी दूर आते हैं, कितना कष्ट उठाते हैं। इनके प्रेम की ओर भी तो देखिए ! यदि इनकी सद्भावना पूरी न की जाय तो इनके मन को कितनी ठेस लगेगी ?" मैंने ध्यानपूर्वक

सुना और इससे आगे कोई तर्क न कर सका। इसके पीछे उनकी सूक्ष्म अहिंसा की भावना के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? क्योंकि अहिंसक का लक्षण ही यह है कि स्वयं अधिक-से-अधिक कष्ट उठा कर भी दूसरों को सुख, शान्ति प्रदान करने का भरसक प्रयत्न करे। अहिंसा, उनके हृदय के कण-कण में किस तरह समा गई थी, यह इस पर से अच्छी तरह जाना जा सकता है।

सामाजिक सुधार के लिए उनका हृदय हमेशा तरंगें लेता रहता था। वे अनेक योजनायें साधु-समाज और गृहस्थ-वर्ग के समक्ष रखते। लेकिन समाज की यह दशा है कि सिवाय वाग्विलास या वितण्डावाद के एक कदम भी उस पर चलने के लिये तैयार नहीं है। मैंने एक दिन उनसे कहा कि—"समाज जब आपकी योजनाओं तथा आवाज से लाभ उठाने के लिए उत्सुक नहीं है या उसकी इतनी भूमिका नहीं है जो इस पर चल सके तो फिर समाज जाये रसातल को। आप उसकी इतनी चिन्ता क्यों करते हैं?',

उस समय गणी श्री जी ने कहा कि—'हम तो आशावादी हैं। आज नहीं तो कल, कभी तो सफलता मिलेगी ही। हम निराश क्यों हों? यदि हम ही निराश हो जायेंगे और हतोत्साह होकर समाज को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगेंगे तो साधारण जनता की कैसी स्थिति होगी? वह कितनी निराश एवं हताश हो सकती है, इस ओर भी तो हमें ध्यान देना है।" मैंने देखा कि इस वृद्ध अवस्था में भी इस पवित्र-आत्मा के कितने उच्च विचार हैं, कितना अदम्य उत्साह है। मैंने मन में सोचा कि—"शरीर तो अवश्य बूढ़ा हो चला है किन्तु विचारों तथा भावनाओं में पूर्ण यौवन की झलक है।"

अधिक कहना ठीक नहीं, उनका जीवन इतना विराट है कि शब्दों की रेखाओं में उसे सीमित नहीं किया जा सकता। अन्त में अपने हृदय की सद्भावनाओं को उस महामानव के चरणों में सभक्तिभाव अर्पण करते हुए इतना ही कह सकता हूँ कि—

'इहंमि उत्तमो भन्ते! पच्छा होहिसि उत्तमो'

उनका जीवन यहाँ पर भी शानदार एवं प्रकाशमान रहा है और आगे भी उनका जीवन प्रकाशमान ही रहेगा।

वज्राघात !

[पं० श्री शान्ति मुनि जी महाराज]

हा दैव विडंबना ! लेखिनी उठाई किस समाचार को प्राप्त करने के लिए थी, परन्तु उससे प्रथम ही प्रकृति ने कैसा वज्राघात किया !

अभी आठ बजे ही भाई ने आकर समाचार दिया कि पूज्यपाद श्री गणी जी महाराज की एक आँख का आपरेशन हो चुका है। परन्तु बेचैनी होने के कारण नीचे लायब्रेरी में एकान्त आराम का प्रबन्ध किया हुआ है। सोचा, अपने पावन महापुरुष की शान्ति का समाचार मंगाऊँ। अस्तु, व्याख्यान के पश्चात् कलम उठा ही रहा था कि एक दौड़ते हुए भाई ने आकर कहा कि टेलीफोन बड़ी कर्कशता से बोला है— 'श्री गणी जी महाराज, इस नश्वर संसार को ठुकरा गए हैं।"

ठीक है, वे महापुरुष तो अपना कल्याण कर गए। परन्तु अब श्री संघ पर छाई काली घटाओं में विद्युत चमका कर मार्ग दर्शन कौन करायेगा ? समय असमय पर संघ में उठते हुए ज्वालामुखी अब कौन अपने वरदहस्त से सहसा शान्त कर दिखाने की क्षमता प्रगटायेगा ? कड़कड़ाती हुई क्लेश रश्मियों में अब किसकी शीतल छाया में बैठकर पीयूष वर्षिणी दृष्टि को निहारेंगे ?

हा दैव ! ऐसी अनमोल मणियों के शीतल स्निग्ध प्रकाश को छीनकर समाज को किस गहन गुहर में पटकने की इच्छा की है ? जर्जरित समाज-शरीर को किस संतप्त अवस्था में देखना चाहते हो ? यहाँ उपस्थित मुनिवृन्द इस कुसमाचार को सुनकर कितनी वेदना अनुभव कर रहा है, यह किस प्रकार प्रदर्शित किया जाय ? अपने छत्र को इस प्रकार विलग होते हुए देखकर हृदय टूक टूक हो जाता है।

अन्त में हम शासनदेव से बारंबार प्रार्थना करते हैं कि हमारे मुकुट मणि की पावन आत्मा को शान्ति प्रदान हो।

अमर विभूति

(मुनिश्री सुरेशचंद्र जी "साहित्य विशारद")

अय फूल ! दुःख तजदे, मिटने का गम न कर तू।
कर्तव्य जो था तेरा, पूरा वह कर चला तू॥

प्रकृति के सौंदर्य को लुटते देखकर कवि के सरस हृदय से कविता क्षा

स्रोत फूट पड़ा। वृक्ष की डाली पर एक सुन्दर पुष्प खिल रहा था और अपने दिव्य सौरभ दान से प्रकृति के प्रांगण को सुगंधित तथा सुवासित कर रहा था। इतने ही में प्रचण्ड वायु का एक झोंका आया और वह पुष्प जो टहनी पर झूम रहा था, अब अचेत होकर पृथ्वी का आलिंगन कर रहा था। अपने हृदय को शब्दों में उंडेलकर कवि उस फूल को आश्वासन देता है कि—"हे पुष्प! मैं मुरझा गया हूँ और मेरा सौंदर्य मिट्टी में मिल गया है। यह अनुभूति करके अपने मन में खिन्न क्यों हो रहा है? विषाद की काली रेखाओं से अपने प्रसन्न मुख मंडल को विकृत मत कर। पश्चात्ताप भी किस बात का? तूने प्रकृति की गोद में जन्म लिया था और उस कर्तव्य को जीवन में पूर्णतः निभाकर अब तू संसार से विदा हो रहा है। अपने सुवास से प्रकृति के कण-कण को सुरभित करके तूने अपने जीवन को सफल कर लिया है, फिर दुःख किस बात का? जीवन में परार्थ वृत्ति को अपना कर तूने तो संसार के समक्ष एक उज्ज्वल आदर्श रखा है।"

श्रद्धेय गणि श्री उदयचन्द्रजी महाराज, जिनका कि २८ मार्च रविवार के प्रातः स्वर्गारोहण होगया है, जैन समाज के विशाल उद्यान के एक ऐसे ही प्रफुल्लित एवं विकसित सजीव पुष्प थे। जिन्होंने अपने जीवन के मधुमय सौरभ से जैन-जगत को सुगन्धित कर दिया था।

सं० १९४१ में गार्हस्थ्य जीवन के संकीर्ण घेरे को तोड़कर आपने पूर्ण त्याग-वैराग्य के साथ जैनेन्द्री दीक्षा धारण की और "उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" भारतीय संस्कृति के इस उज्ज्वल प्रतीक को हृदयंगम करके विश्व को सत्य एवं अहिंसा का मंगलमय संदेश देकर ६४ वर्ष पर्यन्त जिन शासन को फैलाते रहे। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि काल के क्रूर हाथों ने हमसे उस दिव्य विभूत को सहसा छीन लिया है?

जैन समाज के आप एक ज्योतिर्धर मुनि राज थे। पंचनदीय सम्प्रदाय के तो आप ही एक ऐसे कर्णधार थे जो संघ की डगमगाती हुई नैया को भयंकर तूफानों से बचाते हुए बड़ी सावधानी एवं कुशलता पूर्वक गतिशील कर रहे थे। क्या मुनि-वर्ग और क्या गृहस्थ-वर्ग दोनों में से जब किसी के सामने कोई जटिल समस्या आती थी तो समस्त संघ की आशा-भरी दृष्टि आप ही पर आकर टिकती थी। किसी भी समस्या पर आप सहसा अपनी सहमति प्रदान नहीं करते थे। पहले उस पर गंभीरता पूर्वक विचार करके उसकी तह तक

पहुँचते, बाद में फिर उसके विषय में अपने सुलझे हुए विचार व्यक्त करते थे और यह एकाधिक बार अनुभव में आई हुई बात है कि उनके दूरदर्शिता पूर्वक परामर्श का परिणाम सर्वदा हितावह तथा कल्याणप्रद ही निकलता था।

आत्मनिष्ठ एवं दूरदर्शी होने के साथ साथ आपका प्रखर पाण्डित्य भी इतना उच्च कोटि का था कि जैनेतर विद्वान् भी, जो आपके सम्पर्क में आ जाता था, आपसे पूर्ण प्रभावित हुए बिना न रहता था। इतना होते हुये भी आपकी ज्ञान पिपासा अब भी शान्त न हो पाई थी और वृद्धावस्था में भी उसकी तृप्ति के लिए आप सतत प्रयत्नशील रहते थे। जीवन के खुले क्षेत्र में उतर कर आपने अनेक शास्त्रार्थ भी किए हैं। जिनमें नाभा स्टेट का शास्त्रार्थ तो आपकी शानदार विजय का एक प्रतीक बन गया था। मुनि संघ के ऊपर भी गणि श्री जी का कठोर तथापि मृदुल अनुशासन एक गौरव की वस्तु थी।

समाज की अपदशा को देखकर गणि श्री जी का चित्त सदैव व्यग्र एवं खिन्न रहता था। मैंने कई बार अपने कानों से सुना है कि जब वे पूज्य गुरुदेव के साथ हृदय खोल कर बातें किया करते थे तो कहा करते थे–''कविजी ! जैन समाज का कल्याण कैसे हो ? आज अगर हम अपनी आवाज उसके कानों तक पहुंचाना चाहें तो वह सुनने के लिए भी तैयार नहीं है। क्या करें और क्या न करें ? कुछ समझ में नहीं आता, लेकिन कहे बिना रहा भी नहीं जाता। साधु वर्ग, जो कि समाज का कर्णधार होने का अधिकार रखता है, वह भी अपना गन्तव्य भूलकर विपरीत दिशा की ओर प्रयाण कर रहा है, फिर गृहस्थ वर्ग का तो कहना ही क्या ?''

मैं उनके इन दर्द भरे शब्दों को सुनता और मेरी नस-नस में एक नई स्फूर्ति, एक अभिनव चेतना की लहर दौड़ जाती। सोचता यदि हमारे अन्य मुनिराज भी समाज-हित के लिए ऐसे उच्च तथा कल्याणमय विचार रखें और उन्हींके अनुसार योजना बनाकर उस पर पूर्णतया चलने का प्रयास करें तो समाज का सुधार होने में फिर विलम्ब ही क्या है ?

सरलता एवं मधुरता तो उनके जीवन के कण-कण में व्याप्त होरही थी। छोटे से छोटे मुनि से भी वह किस सरलता से बातें किया करते थे, यह तो वही जान सकते हैं जिन्हें कभी उनके पुण्य दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। छोटे मुनि उनकी सेवा में खड़े रहते थे किन्तु फिर भी वह अपने छोटे-छोटे दैनिक कार्यों को स्वयं अपने हाथों से करके ही प्रसन्न-चित्त रहा करते थे। अपनी ओर से किसी को ज़रा-सा भी कष्ट देना, वे, हिंसा की कोटि में समझते थे। बस

समय मेरे मन· मन्दिर में कवि की यह अमर वाणी गूंज उठती :-

सरलमतिः सरलगतिः, सरलात्मा सरल शील सम्पन्नः ।
सर्वं पश्यति सरलं, सरलः सरलेन भावेन ॥

एक सच्चे साधक का जीवन जैसा होना चाहिये, ऐसे जीवन की झलक मुझे उस महान विभूति में देखने को मिली। उनकी आत्म·साधना कितनी उच्च-कोटि की थी, इसके विषय में कुछ कहना एक बाल-प्रयास से अधिक महत्व नहीं रखता। मानव जब तक जीवित रहता है तो उसका भौतिक पिंड उसके आन्तरिक गुणों पर एक आवरण सा बना रहता है। किन्तु ज्यों ही शरीर का व्यवधान बीच में से हट जाता है तो उसके समस्त गुण पिण्डीभूत होकर आंखों के सामने नृत्य करने लगते हैं। यही बात मैं उस सौम्य मूर्ति के विषय में देख रहा हूँ। उनके गुणों का पुञ्ज मेरी दृष्टि के समक्ष घूम रहा है। उनका स्पर्श करना या शब्दों के द्वारा प्रकाश में लाने का प्रयास करना वैसा ही है जैसा कि किसी बौने का एक ऊँचे फल·फूलों से लदे वृक्ष को उछल-कूदकर पकड़ने का विफल प्रयास! फिर भी मैं इतना तो अवश्य कहूँगा कि उस शांत-मूर्ति के चरणारविन्दों में बैठकर ऐसी अद्भुत शांति का अनुभव होता था जैसा कि एक श्रांत एवं संतप्त पथिक को लहलहाते हुये वृक्ष की शीतल छाया में बैठकर होता है।

एक बात जो कि उनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता थी और जिससे मेरे जैसा एक स्वतंत्र विचारक भी प्रभावित हुए बिना न रह सका, वह यह है कि वयोवृद्ध होते हुए भी वे एक नूतन दृष्टिकोण के विचारक थे। जिस अवस्था में आकर अनेक आत्मायें रूढ़िवाद एवं संप्रदायवाद की दल-दल में फँसकर अपनी शक्ति का अपव्यय कर देती हैं तथा जिन्हें अपने संप्रदाय और पौराणिक विचारों का व्यामोह हो जाता है, आप इस विषाक्त तथा संकीर्ण वातावरण से कोसों दूर रहते थे। नवयुग को दृष्टि में रखते हुए जैन समाज को नूतन प्रणाली के अनुसार ढालने के आप कट्टर पक्षपाती थे। यदि संक्षिप्त प्रभावशाली शब्द कहना चाहें तो—"आप शरीर से वृद्ध होते हुए भी अभिनव विचारों के प्रतिनिधि थे।"

संक्षेप में मैं अपनी बात को समाप्त कर दूँ—उनका जीवन आदर्श की कसौटी पर परखा हुआ एक सफल जीवन था। सफल जीवन वही हो सकता है, जो 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' हो और इसकी पूर्ण प्रतिच्छाया उस पवित्र आत्मा में स्पष्ट झलकती थी।

अनुभवी महा पुरुष

[पं० मुनिश्री ओमीश चन्द्र जी]

आज का दिन कितना दुःखद है। हमारे और हमारे जैन संघ के इस अनमोल रत्न का, इस असमय में स्वर्गवास हो जाना, सचमुच दुर्भाग्य का सूचक है। परम पूज्य गणी जी महाराज जैसा अनुभवी महापुरुष, अब इस अभागी समाज में कौन रहा है? समस्त जैन समाज आज अनाथ हो गया!

श्रद्धेय गुरुदेव पं० श्री कस्तूर चन्द्र जी महाराज ने जब यह अशुभ समाचार सुना तो हृदय अवसन्न हो गया। इतना दुःख उन्हों ने कभी नहीं मनाया था, जितना कि आज अपने पूजनीय ज्येष्ठ गुरुभ्राता के स्वर्गवास पर मना रहे हैं। शासनदेव से प्रार्थना है कि दिवंगत आत्मा को शान्ति प्राप्त हो! गणी श्री जी के शिष्य परिवार के प्रति इस असहनीय दुःख में हमारी हार्दिक सहानुभूति है।

शान्ति और सद्भावना के महान् उपासक

[प्रसिद्ध वक्ता पं० श्र. खजानचन्द्रजी म० के सुशिष्य मुनि फूलचन्द्रजी म०]

इस परिवर्तशील जगत् में अनेक पामर जीव विकास प्राप्त करने के लिये नर जन्म धारण करने आते हैं, परन्तु दुनियां के भोगविलासों के जाल में अपने आपको मीन अथवा मकड़े की तरह फँसाकर अपने महान् अमूल्य जीवन रत्न को हेलया ही कूड़ेकर्कट में खो बैठते हैं जिसका प्राप्त करना फिर कठिन ही नहीं, बल्कि कठिनतर होजाता है। ऐसे प्राणी अपना लक्ष्य भूलकर इस विकास क्षेत्र में आकर भी हताश मात्र से कीड़े मकोड़े की तरह आकर चले जाते हैं। उन्हें न कोई याद ही करता है, न उनके मरने के पश्चात् कोई शोक ही करता है।

नरजन्म सफल उन्हीं का माना जाता है, जिन्होंने आत्म मंदिर में आते हुये दुर्गुणों को रोका, पूर्वकृत दुर्गुणों को अपने आत्मप्रदेशों से झटका दिया, और अनन्त आत्मगुण किरणों से संसार को भी प्रकाशित किया। या शुभ जैसे पामर प्राणियों की अपेक्षा जिन्होंने साधना क्षेत्र में बहुत दूर की दौड़ लगाई है, जो अपने लक्ष्य के निकट निकटतर निकटतम पहुँच गये हैं। इस प्रकार के साधकों में एक हमारे पद्म श्रद्धेय श्री संघसरोवर के राजहंस गणी श्री उदयचंद जी महाराज भी थे।

आपके आत्मिकगुणों ने आपको ओजस्वाय सिंहासन पर बैठा दिया था।

आप शान्तिप्रिय थे। आपने मानवसमाज के लिए ही अपना जीवन लगाया। आप समस्त प्राणीमात्र के हितैषी थे। जब कभी श्रीसंघ में कषाय के बढ़ जाने से आपस में घृणा की अग्नि-ज्वाला भयङ्कर रूप धारण करने लगती, तभी आप संयम तप से एकत्रित की हुई शान्ति को मधुर वचनों से प्रसादित कर जनता में आनन्द की लहर पैदा कर देते थे। इसलिये जनता आपको "शान्ति संस्थापक" नाम से पुकारने लगी।

आप वह सुमन हैं जो अन्य सुमनों से भी अतिशायी हैं। आपके जीवन सुमन की मकरन्द उनके पास है, जिन्होंने आपके भक्ति श्रद्धा तथा प्रेम से दर्शन किये, सौरभ आपके जीवन चरित्र में है। आने वाला नवयुग आपके जीवन चरित्र से सौरभ ग्रहण करेगा। लेखक ने आपकी जीवनगाथा को "गणी-उदयचन्द्र" नामक पुस्तक में रिकार्ड की तरह भर दिया है, जो कोई भावना रूपी चाबी देकर हृदयरूपी ग्रामोफौन पर इस रिकार्ड को चढ़ाएगा, वह अवश्यही आनन्द विभोर हुये विना नहीं रह सकेगा।

मुझे भी आपके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। दर्शनों से हृदय समुद्र में आनन्द की सैकड़ों हजारों तरंगें उठीं, चन्द्रोदय होने पर समुद्र की तरह। आपने जितनी भक्ति मुझ में देखी, उससे भी अधिक आपने मुझे दया दृष्टि से सरसार कर दिया। आपकी कृपा दृष्टि तो दुस्तर संसार सागर में भव्य जीवों के लिए नौका के समान थी। अनेक प्राणियों को आपने संसार समुद्र को तैरने की कला सिखाई। आप आध्यात्मिक कर्णधारों में प्रमुख थे। आपके स्वर्गारोहण से समाज में जो क्षति हुई उसकी पूर्ति होना कठिन है।

आपके चरणों में उपहार रखने के लिए मेरे पास तो क्या दुनिया भर में ही नहीं, अतः अन्तःकरण के आलवाल से श्रद्धा के पुष्प चुनकर आपके चरणों में उपहार स्वरूप समर्पित हैं, स्वीकार कीजिए। वरदान दीजिए कि आपकी गौरव गाथा मेरे मनमें गूंजती रहे।

परम-श्रद्धेय गणीश्री जी महाराज

[जैन-धर्म-दिवाकर, साहित्यरत्न, जैनागम-रत्नाकर, श्री मज्जैनाचार्य परमपूज्य श्रीआत्मारामजी महाराज के शिष्य पं० श्रीज्ञानमुनिजी]

सूर्य प्रातः उदय होकर अन्धकार कालिमा का समूल उच्छेद कर संसार में उज्ज्वल, अत्युज्ज्वल अथ च समुज्ज्वल प्रकाश का प्रसार करता है किन्तु सायंकाल का वही सूर्य अपनी प्रकाश-गरिमा को समेट कर तथा अस्ताचल की गोद

में अपने को छुपाकर आंखों से ओझल हो जाता है।

कृष्णतम विशाल-काय मेघों की चादर में से मुंह निकाल -कर जगतीतल को प्रकाशपुञ्ज बना देने वाला निशाकर, दिवाकर की प्रखर किरणों के ,सन्मुख हत प्रभ-हो श्वेत-मेघों में अपनी उदासीनता को आच्छादित करने में सचेष्ट दिखाई देता है।

पुष्प-वाटिका में उत्पन्न पुष्प अपने अपूर्व सौरभ से वायु-मण्डल को सुरभित कर श्रान्त पथिक के उदासीन मानस को गद्‌गद् करता हुआ, किसी यौवन मद से मत्त युवक के पाँव तले मसला हुआ, उस अपूर्व विकास का अन्तिम भयङ्कर परिणाम अपनी गूंगी जबान से मानों कहने का प्रयत्न कर रहा है।

पुत्र-जन्म के हर्षातिरेक से हर्षित पिता पुत्रवियोग से परम दुःखी हो सर धुनता दिखाई देता है।

उदय अस्त, खिलना, मुरझाना, जन्म-मरण, आदि जितने भी प्राकृतिक दृश्य हैं इनसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि संसार का दूसरा नाम परिवर्तन है, अथवा यूं कहना चाहिये कि परिवर्त्तन का सजीव स्वरूप ही संसार है।

मृत्यु भी एक परिवर्त्तन है, जो समय पर किसी-न-किसी कारण-विशेष से होता है। मृत्यु का अर्थ आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है। बाल हो, वृद्ध हो, युवक हो युवति हो, मूर्ख हो ज्ञानी हो मानुष हो मानुषी हो, सब पर मृत्यु का अखण्ड दुर्दम्य शासन है। मृत्यु के शासन में अधिकारी अनधिकारी, साधु असाधु राजा रंक, अल्पज्ञ सर्वज्ञ समस्त एक ही श्रेणि में उपस्थित होते है। धनी निर्धन का अन्तर मृत्यु के यहां नहीं है।

सब पर समभाव रखने वाली मृत्यु में यही एक दुर्गुण है कि जो यह लोकोपकारी विश्व की पुण्य विभूतियों के वैराग्यमय आदर्श व्यक्तित्व का तथा उनकी लोकप्रियता का भी आदर नहीं कर पाती किन्तु उन पर दुष्टता-पूर्ण असम्य प्रहार करती है और उन्हें भी अपना भोज्य बना लेती है। मृत्यु की इसी क्रूरता तथा दुष्टता से ही मानव प्राणी व्यथित होता है तथा मृत्यु को अपना सहज शत्रु निर्धारित कर लेता है। भारत की दिव्य विभूति, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का आकस्मिक निधन जिससे मानवता भी स्वयम् दांतों तले अंगुलि ले रही है मृत्यु के दुष्टता-पूर्ण व्यवहार का सजीव उदाहरण है।

महामहनीय स्वनामधन्य परमपूज्य श्री गणीजी महाराज का आकस्मिक निधन भी उन्हीं व्यक्तियों के निधन में से एक है जिन्होंने निज-जीवन की दिव्य-ज्योति से श्रमण संस्कृति के प्रकाश का महान प्रसार कर साधुता का पावन आ-

दर्श उपस्थित किया है। तथा अपने परम वैराग्यमय स्वतन्त्र व्यक्तित्व से दुःख सागरोन्मुख मानवीय प्राणियों का उद्धार कर उन्हें मोक्षमंदिर का पथिक बनाया है एवम् अपने निर्मल पावन आदर्श जीवन से लोकोपकारी होने का बुद्धिशुद्ध पथ प्रदर्शन किया है। यही कारण है कि ऐसे विशिष्ट व्यक्ति पर होने वाले मृत्यु के क्रूर प्रहार से मानव समाज कराह उठा और उसने उस तेजस्वी महापुरुष के दुःसह वियोग से महान् दुःखानुभूति प्रकट की।

गणी श्रीजी म० कौन थे! उन्होंने किस भूमि को जन्म लेकर पावन किया! उनके पितृचरण होने का गौरव किनको प्राप्त है? गौरवशालिनी सुशीला पूज्य-मातेश्वरी किंनामधेया है। उनके महान व्यक्तित्व की छाया में किस २ ने अपने दिव्य जीवन का निर्माण किया है! तथा उनके श्री चरणों में रहकर कौन २ द्विपद पशु मानव बना है! इत्यादि ऐसे अनेकों प्रश्न हो सकते हैं, किन्तु यदि सबका सविस्तर उत्तर दिया जाए तो एक विशाल ग्रन्थ तैयार हो सकता है। किन्तु मुझे तो यहां मात्र उनके श्री चरणों में श्रद्धाञ्जलि अर्पण करना है। विशेष तो उनके मंगल मय जीवन से जाना जा सकता है।

गणी श्रीजी म० एक परम संयमी, परम मेधावी, परमयशस्वी आदर्श मुनि-राज थे। इनका जीवन तपस्वी, विवेकी, योगी, अथच ओजस्वी जीवन था। जैनागमों के अतिरिक्त जैनेतर दर्शनों में भी इनकी निर्बाध गति थी। चरम तीर्थंकर पतितपावन भगवान महावीर का "समयं...मा पमायए" यह प्रवचन इनके आदर्श जीवन में पर्याप्त पाया जाता था। एकक्षण भी इनका संयमी जीवन से शून्य नहीं था। इनका प्रत्येक प्रयत्न समाजोत्थान की सद् भावना से ओत-प्रोत था। ये महान सफल तार्किक भी थे।

गणी श्रीजी म० का जन्म, सम्वत् १६२२, देहली प्रान्तांतर्गत "ब्राह्मणों का राता"। नामक ग्राम में हुआ। पूज्य पिता का नाम पण्डित शिवरामजी था। श्रद्धेया मातेश्वरी श्री सम्पतीदेवीजी थी। इन्ही के घर में हमारे आरा-ध्यदेव परम-श्रद्धेय श्री गणीजी महाराज शिशु के रूप में प्रकट हुए थे। और इन्हीं के घर "होनहार विरवान के होत चिकने पात" इस लोकोक्ति को व्यवहार में लाने के लिये अनेकानेक चमत्कार दिखाकर अपनी भावी महानता को व्यक्त किया था। उस समय कौन कह सकता था कि यही बालक कभी संसार को मानवता का दिव्य संदेश देगा और किसी मानव समाज का सफल कर्णधार बनेगा।

"भावी कर्णधार ने १८ वर्ष की आयु में सम्वत् १९९१ में पुण्यभूमि कांधला में, स्वनाम धन्य पूज्यवर तपस्वी श्री गैण्डेरायजी महाराज के श्री चरणों में जैन-दीक्षा व्रत सहर्ष अंगीकार किया। वैराग्य की तरंगों से तरंगित हृदय से गृहीत साधु-व्रत में जो आशातीत सफलता उपलब्ध की थी उसका स्पष्ट प्रमाण साधु सम्मेलन अजमेर में उपलब्ध प्रधानपद है। जब कि वहां पर अनेकानेक आदरणीय अथच समादरणीय पूज्य मुनिराज विराजमान थे। तथा हजारों की संख्या में श्रावक और श्राविकाएँ थीं। एवम् स्थानक वासी जैन संघ पंजाब की ओर से दिया जाने वाला, आगमानुमोदित गणी यह पद।

गणी श्रीजी म० जहां एक परम संयमी परमतपस्वी अथच एक सफल व्याख्याता थे वहां एक सिद्धहस्त लेखक भी थे। इन्होंने अपनी ही लेखनी से अनेकों समयोपयोगी पुस्तकें लिखी हैं। जिनमें शास्त्रार्थ-नामा नामक पुस्तक इनकी विशिष्ट अभिवन्दनीय कृति है। तथा जिसे पाठकों की ओर से भी महान आदर उपलब्ध हुआ है।

गणी श्रीजी म० का प्रत्येक प्रवचन निर्भयता तथा युक्ति पूर्ण होता था जिसके बल पर इन्होंने मूर्ति पूजकों तथा आर्यसमाजियों को अनेकोंवार निरुत्तर किया है। और उन्हें भी विवश इनके श्री चरण-कमलों का भ्रमर बनना पड़ा था। इनके युक्ति-बल से ही प्रभावित होकर समाज ने इन्हें "शास्त्रार्थ महारथी" तथा "वादि-मान मर्दन-कर्ता" आदि पदों से सम्मानित कर अपनी कृतज्ञता को निभाया था। इसी अभिनंदनीय संयमि-जीवन में गणी श्रीजी म० ने ६३ वर्ष तक समाज की अपूर्व सेवाएँ की और अपने महान लक्ष्यकी पूर्ति की।

आंखों के आपरेशन के कारण आराम करते हुए गणी श्रीजी म० पर संवत २००४, २८ मार्च, चैत्र कृष्णा ४, रविवार के दिन निर्दयी काल ने अकस्मात् निकृष्ट प्रहार किया और हमें उनकी पुण्यमयी छत्रछाया से सदा के लिए वञ्चित कर दिया। अथवा यूं कहना चाहिये कि निर्दयी काल ने इतनी धृष्टता की कि हमें अकस्मात् दु:ख सागर में धकेल दिया।

ओ पापी निर्दयी काल! यह तेरा प्रयास पापमय तथा वीरता से सर्वथा रहित है। यहां तू बहुत बुरी तरह पराजित हो गया। यदि तू सचमुच वीर था तो कम-से-कम छुपकर वार न करता, आराम करते हुए पर वार करना कहां की वीरता है? यह अमर सत्य है कि तू परम तेजस्वी मुनिराज की दिव्य तेजस्विता से भयभीत हो गया और इसीलिये तू ने छुपकर वार किया। उसका फल भुगत रहा हो। विजयश्री हमारे तेजस्वी आदर्श मुनिराज की चरण सेविका है। और वे अमर हैं। अस्तु।

यह ठीक है गणी श्री जी म० का पार्थिव-शरीर को छोड़ना उनकी सफलता है। तथा साधु बनते समय जो उन्होंने प्रतिज्ञाएँ लीं थीं उनकी पूर्ति है। अतः हर्ष भी मनाया जा सकता है। किंतु उनका सामाजिक जीवन होने से हमारा दुःखित होना भी स्वभाविक ही है। शरीर का कोई भी अंग शरीर से पृथक् हो तो क्लेशानुभूति अस्वाभाविक नहीं है। पुण्यात्मा आदर्श सेवकों से हाथ धो बैठने वाला समाज बिना व्यथित हुए कैसे रह सकता है? फिर गणी श्री जी म० तो हमारे आराध्यदेव थे उनका वियोग हमें कैसे सह्य हो सकता है?

जहां हम गणी श्री जी म० के दुःसह वियोग से व्याकुल हैं वहां हमें यह हर्ष भी होना चाहिये कि गणी श्री जी म० की शिष्य मण्डली बड़ी सुशील तथा सुयोग्य है। वे गणी श्री जी म० के पद-चिन्हों पर चल कर अवश्य समाज की सेवा करेगी। समाज को भी उन पर बड़ी २ मंगलमय आशाएँ हैं। गणी श्री जी म० के सर्व-प्रधान शिष्य श्री गणावच्छेदक श्री रघुवरदयाल जी म० हैं। जो कि परम मेधावी संयमी अथ च व्यवहार कुशल हैं। वे भी गणी श्री जी म० की भांति समाज सेवा में तत्पर रहेगें, ऐसी उनसे पूर्ण आशा है।

जहां शासन-देव का स्मरण कर हमारी यह मंगल-भावना है कि गणी श्री जी म० की आत्मा को शान्ति लाभ हो वहां अपने सहचारियों से भी सानुरोध सप्रेम विनम्र विनिवेदन है कि गणी श्री जी म० के उज्ज्वल अत्युज्ज्वल तथा समुज्ज्वल जीवन से अपने को शिक्षित करें और उन की भांति समाज सेवा में अग्रेसर हों। तभी गणी श्री जी म० के चरणों में अर्पित हमारी श्रद्धाञ्जलियाँ सफल तथा स्वीकृत हो सकती हैं।

अन्त में मैं भी उस मानवता के धनी परम-पूज्य श्री गणी जी म० के पावन श्री चरणों में सादर सहर्ष श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ।

ॐ नमः सिद्धम्।

धर्मगुरू

[डा० बूलचन्दजी, एम० ए०--पी० एच० डी० (लंदन)
अध्यक्ष—जैन संस्कृति संशोधन मण्डल]

आज से अढ़ाई हजार वर्ष पहले संसार में भगवान महावीर ने अहिंसा और मैत्री का सन्देश दिया था और अपने जीवन को पूर्ण अहिंसामय बनाने की साधना की थी। उन्होंने साधक जीवन के आवश्यक नियमों का निर्माण भी किया था, जिन का पालन करने से मनुष्य साधना प्राप्त कर सकता है।

स्वानुभव के आधार पर भगवान ने अपने शिष्यों को बताया था कि आत्मोद्धार का मार्ग ईश्वर या किसी अन्य के हाथ में नहीं है, दूसरे तो केवल मार्ग दिखा सकते हैं। मुक्ति की प्राप्ति अपने पुरुषार्थ पर ही निर्भर होती है।

स्वर्गीय गणि श्री उदयचन्द्रजी महाराज उन साधकों में से थे जो भगवान महावीर के निर्मित संघ की परम्परा पर चलकर आत्मोद्धार की पराकाष्टा पर पहुँचना चाहते थे। पंजाब संघ पर उनके चरित्र और जीवन की जो छाप पड़ी है वह सर्वथा अमिट है। जहां वे विहार करते थे उनके व्याख्यानों से जैन तथा जैनेतर सब लोग प्रभावित होते थे।

जैनकुल में उत्पन्न होने वाले को धार्मिक संस्कारों की प्राप्ति मुख्यतः साधुओं के उपदेश से ही होती है। जब मैं छोटा था, तब श्री गणिजी महाराज का चातुर्मास मेरी जन्म नगरी साढ़ौरा में था। मैं अपने पिताजी के साथ उनके व्याख्यानों में जाया करता था। श्री गणिजी को यदि मैं अपना धर्मगुरु कहूँ तो सत्य ही है, क्योंकि मुझ में जो जैन धर्म के संस्कार हैं वे उनके और दूसरे मुनिराजों के उपदेश का परिणाम हैं।

उनसे चर्चा करने अथवा विशेष परिचय प्राप्त करने का अवसर तो मुझे कभी नहीं मिला, परन्तु थोड़ी बात करने से भी यह स्पष्ट होता था कि वे वादपटु हैं और उनका आगम का ज्ञान विशाल है। पंजाब संघ को उनके स्वर्गवास से जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना कठिन है।

डा० मूलचन्द, एम० ए० पी एच० डी० (लंदन)
अध्यक्ष, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल

श्रद्धाञ्जलि

[जैन दर्शनाचार्य पं० श्री कृष्णचन्द्रजी, अध्यक्ष—पार्श्वनाथ जैन विद्याश्रम बनारस]

पञ्जाब जैनसङ्घस्य शिरोमणिर्महामुनी ।
गणनाथो सदा मान्यो वादिनो मानमर्दनः ॥१॥
ज्ञानक्रियारतो नित्यं स्वाध्यायध्यानदीपितः ।
मानितो मुनिवृन्देन गृहिवृन्देन सेवितः ॥२॥

उन्नेता जैनसङ्घस्य प्रणेता मुनिसंस्थितेः[1] ।
[2]विनेतैकान्तवादानां नेता धर्मध्वजोन्नतेः ॥३॥

साधु—सम्मेलने योऽसावजरामरपत्तने ।
मुनीनां सकले सङ्घे साभापत्ये प्रतिष्ठितः ॥४॥

गैण्डेरायमुनेः शिष्यो ज्ञानध्यानक्रियावतः ।
पूज्य सोहनलालस्य प्रशिष्यश्च महामुनेः ॥५॥

श्रीमान् उदयचन्द्राख्यो गणी च गुणिनां वरः ।
धर्मोद्योतकरो नित्यं सदा पुण्यकलोदयः ॥६॥

शिष्योत्तमो मुनिस्तस्य मुनिकुलावतंसकः ।
रघुवरदयालुर्वै स्नेहमूर्त्तिर्गणोत्तमः[3] ॥७॥

शिष्योत्तमश्च तस्यापि शिवमुनिर्गुरोः प्रियः ।
धीरः परमगम्भीरो विनीतः सौम्यशीलवान् ॥८॥

शिवमुनेः सहाध्यायी सुहृदां च शिरोमणिः ।
अन्यः शिष्योत्तमस्तस्य भाति भव्योऽभयोमुनिः ॥९॥

गणि—महोदयानां तु शिष्याणां परमेऽन्वये ।
श्री निरञ्जनदासाद्याः शिष्याः सन्त्यपरेऽपि ये ॥१०॥

सुगुणालंकृताः सर्वे सर्वे साधु—क्रियादृढाः ।
सर्वे स्तुत्याःसदा सद्भिः सर्वे धीराः क्षमान्विताः ॥११॥

श्रीमान् उदयचन्द्रस्तु चन्द्र इव सुशीतलः ।
प्रकाशतां चिरं[4] लोके नभोलोके यथा शशी ॥१२॥

भारत राजधान्यां तु भारते सङ्घशासिते ।
देहली नगरे रम्ये स्वतन्त्रे यो दिवङ्गतः ॥१३॥

सुमुनये नमस्तस्मै गणिने गणधारिणे ।
कृष्णेन्दुना च भक्त्येयं श्रद्धाञ्जलिः समर्प्यते ॥१४॥

---

[1]मुनीनां मर्यादाया इत्यर्थः । [2]निराकर्ता । [3]गणे श्रेष्ठः, गणावच्छेदक इत्यर्थः । [4]उत्कृष्ट परम्परायामित्यर्थः ।

प्रमुख मुनिराज

[मेजर जनरल दीवान विशनदासजी भूतपूर्व प्रधानमंत्री जम्मू व काश्मीर स्टेट]।

श्रद्धेय गणी श्री उदयचन्द्रजी महाराज की सत्कृपा से हमारा परिवार विशेष प्रभावित रहा है। गणीश्री जी. मात्र पंजाब संप्रदाय के ही नहीं, प्रत्युत भारतीय साधु मण्डल के प्रमुख मुनिराज थे। तत्कालीन मुनि-मण्डल में आपका स्थान बहुत ऊँचा था।

आपका जीवन एक आदर्श जीवन था। विचार उदार और साधुचर्या आकर्षक थी। आपकी विद्वता से मैं तब विशेष प्रभावित हुआ था, जब आपने नाभादरबार में शास्त्रार्थ करके अभूतपूर्व विजय प्राप्त की थी और सत्य धर्म के ध्वज को ऊँचा किया था। आप जैन शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य धर्म ग्रंथों के भी प्रकाण्ड पंडित थे। भारतीय धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन, आपके विशाल ज्ञान का परिचय देता था।

आप एक सुधारक मुनि थे। समाज को उन्नतिशिखर पर आरूढ़ देखने की आपके मन में तीव्र अभिलाषा थी। आप एक निर्भीक वक्ता थे, आपकी व्याख्यान शैली बड़ी ही रोचक एवं सुगानुरूप थी। महाराज श्री, अनुमानतः चालीस वर्ष पूर्व एक बार जम्मू पधारे थे। जम्मू का शिष्ट मंडल आपके व्यक्तित्व से बड़ा ही प्रभावित हुआ था। आपकी विद्वत्ता और आदर्श-चर्या की ध्वनि, राजमहलों में भी पहुँची। तत्कालीन जम्मू काश्मीर नरेश महाराजा प्रतापसिंहजी बहादुर भी, आपकी यशोगाथा सुनकर बहुत प्रभावित हुए और आपके दर्शनों के लिए अतीव उत्कंठित हुए। दुःख है कि किसी विशेष कारण वश, महाराजश्री से राजा साहब का मिलन न हो सका। यदि उस समय काश्मीर नरेश की भेंट हुई होती तो अहिंसामय जैन-धर्म की काश्मीर प्रदेश में विशेष प्रभावना होती।

मेरे छोटे भाई स्वर्गीय दीवान अनन्तरामजी बी० ए० एल० एल० बी० एडवोकेट जनरल काश्मीर गवर्नमेंट ने तीस वर्ष पूर्व गुलदस्ता जिन्दगी नामक उर्दू भाषा में एक सुन्दर पुस्तक लिखी थी, जो गणीजी महाराज के चरणों में अर्पण की गई थी। उस मेधावी भक्त हृदय ने गणीश्री जी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पण करते हुए लिखा था—

"आप शास्त्रों के विशेषज्ञ, वर्तमान समय की गतिविधि के पूर्ण ज्ञाता

तथा विचारक हैं। बड़े से बड़ा तार्किक भी, आपकी विद्वत्तापूर्ण युक्तियों को सुनकर चूं करने का साहस नहीं रखता। आप की व्याख्यान शैली स्पष्ट और प्रभावशालिनी है। आपकी शान्त एवं प्रसन्न मुखमुद्रा श्रोताओं पर प्रभाव डालने वाली है।"

महाराजश्री के गुणों का कहाँ तक वर्णन करूं? उनका व्यक्तित्व सब प्रकार से प्रभावशील तथा आकर्षक था। उनका उच्च एवं विशाल ज्ञान तथा चारित्र हमारे लिए आदर्श है--अनुकरणीय है।

प्रेम के देवता

[राय बहादुर श्री रघुवीरसिंहजी, भूतपूर्व प्रधान मंत्री- नालागढ़, चंबा स्टेट आदि।]

परम आदरणीय गणीश्री उदयचन्द्रजी महाराज, हमारी समाज के एक बहुत उच्चकोटि के साधु थे। आपके पवित्र उपदेश का मुझ पर गहरा असर हुआ है। गणीश्री जी, जब दिल्ली में स्थिर वासी हुए, तब तो उनके सत्संग का बहुत ही समय मिला है। आपकी विचारधारा बड़ी पवित्र तथा आदर्श थी। जैन धर्म के ऊंचे सिद्धान्तों को जिस मधुर वाणी में आपने हमें समझाया है, उसे हम कभी भूल नहीं सकते। देहली जैन समाज को आपके उपदेशों से बहुत लाभ हुआ है।

पंजाब जैन संघ में पत्री परंपरा के झगड़े को लेकर जो गृह कलह की आग धँधकी थी, उसे शान्त करने में गणीजी महाराज ने जो महत्त्वपूर्ण भाग लिया है, उसके लिए एक मात्र पंजाब ही नहीं, अपितु समस्त भारत का जैन समाज ऋणी रहेगा।

आजकल आपसका मेलजोल समाप्त हो रहा है, अहिंसा नष्ट हो रही है, धार्मिक मतान्धता की आग भड़क रही है, देश का वातावरण अशान्त तथा क्षुब्ध है। इस अवसर पर उस प्रेम के देवता की बड़ी आवश्यकता थी। उनकी मृत्यु से जैन समाज को अतीव क्षति पहुँची है।

दुःख है कि अब हम उनके दर्शन नहीं पा सकते। वह सत्संग अब कहाँ मिल सकता है? परन्तु उनके बताये हुए अहिंसा पथ पर चल कर हम अपने समाज और राष्ट्र का कल्याण कर सकते हैं। अहिंसा और दया के जिस महान् आदर्श का पथ, उन्होंने हमें दिखाया है, वह सदैव हमारे दिलों में जिन्दा

रहेगा। हमें पूरी आशा है कि गणीश्रीजी के महान् शिष्य श्री रघुवरदयालजी महाराज, श्री दुर्गादासजी महाराज आदि अपने गुरुदेव के चरण चिह्नों पर चलकर यथावसर हमें उचित मार्ग प्रदर्शन करेंगे।

महान् शासन प्रभावक

[बा० कुंजलाल जी जैन ओसवाल, सदर बाजार, दिल्ली]

प्रातः स्मरणीय श्रद्धेय गणी श्री उदयचन्द्र जी महाराज, पंजाब प्रान्तीय जैन मुनि संघ में, न केवल आयु की दृष्टि से ही सबसे बड़े थे, अपितु सबसे पुराने दीक्षित भी थे। आपका बहुत लम्बा जीवन संयम की साधना में गुजरा और बड़े शानदार ढंग से गुजरा। आपकी संयम साधना अतीव पवित्र तथा उत्कृष्ट थी।

आदर्श विद्वत्ता तथा ज्ञान ध्यान के नाते आपका व्यक्तित्व बहुत ऊँचा था। आपको तर्क बुद्धि बड़ी विलक्षण थी, बड़े-बड़े विद्वानों को भी आश्चर्य में डाल देती थी। आपकी उज्ज्वल प्रतिभा नाभाचर्चा के इतिहास के रूप में आज भी चमक रही है। चर्चावादी के रूप में, आप, समस्त जैन जगत में सम्मानित महापुरुष थे।

आपका स्वभाव परम शान्त तथा दूसरों के लिए अत्यन्त आकर्षक था। आपकी सहन-शीलता उच्चकोटि की थी। आपके निकट आने वाला छोटा-बड़ा हर कोई बराबर का प्रेम तथा सद्भाव पाता था। आपके परिचय में जो भी आया, उसके हृदय में आपकी भव्य प्रेम मूर्ति अंकित हो गई।

आपकी शासन प्रणाली अद्वितीय थी। परस्पर विशुद्ध भावना वाले बिखरे जन-समूह को भी व्यवस्था की दृष्टि से नियन्त्रण में रखना, आपके लिए साधारण बात थी। यह आपकी महान् शासन-योग्यता ही थी, जो आप अखिल भारतीय अजमेर साधु सम्मेलन के शान्ति रक्षक बनाये गये। पंजाब जैन संघ में जब पन्नी और परम्परा की दुर्घटना हुई, तब आपने जिस धैर्य से काम लेकर समय को अच्छी तरह निबाहा, वह अनुकरणीय है।

हमें इस बात का गर्व है कि श्री गणी जी महाराज के जीवन के अन्तिम बारह वर्ष देहली में व्यतीत हुए, अतः आपकी इतने लम्बे काल तक निरन्तर सेवा करने का हमें सुअवसर मिला। आपके विराजने से देहली सदर क्षेत्र में यथावसर जो धर्म प्रभावना होती रही है, वह उल्लेखनीय है। आपके धर्म दरबार में दर्शनार्थी भक्तों का हर समय तांता लगा रहता था। प्रात:काल से

लेकर सायंकाल तक भक्तजन आपकी धर्म शिक्षाओं का लाभ उठाते रहते थे।

आप एक महान् कर्तव्य परायण वीर पुरुष थे। आलस्य तो आपको स्पर्श भी न कर पाता था। यौवनकाल में जहाँ-तहाँ भ्रमण करके जैन धर्म की गौरव ध्वजा को बुलन्द करने में आपने जो श्रम उठाया है, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। यह आपकी ही कृपा का फल था कि पंजाब में जगह-जगह जैन सभायें स्थापित हुईं और पंजाब जैन सभा के रूप में जैन संघ को केन्द्रीय रूप मिला। आपकी कार्यक्षमता वृद्धावस्था तक प्रशंसनीय रही। आप इतने दृढ़ स्वावलम्बी थे कि बीमार रहते हुए भी जीवन के अन्तिम दिनों तक अपने दैनिक काम स्वयं किया करते थे।

खेद है कि आज आप स्थूल शरीर के रूप में हमारे सामने नहीं हैं। परन्तु शरीर के रूप में कौन सदा काल सामने रहा है? जीवन और मृत्यु के नियम अटल हैं। आपके जीवन का उज्ज्वल आदर्श और समय-समय पर दिए गए सुनहरी धर्म प्रवचन आज भी हमारे सामने हैं, जो यथावसर हमें सत्य पथ का उचित प्रदर्शन कर सकते हैं। आपके प्रति हमारी यह ही श्रद्धांजलि है कि हम आपके जीवन सम्बन्धी महान् आदर्शों का प्रकाश ग्रहण करें और अपने कल्याण के साथ-साथ आस-पास के जन समाज का कल्याण भी करें।

सौम्य मूर्ति

[बा० दीपचन्द्र जी जैन बी० ए० मुन्शी फाजिल
सम्पादक—साप्ताहिक 'वर्द्धमान" देहली]

स्वर्गीय गणी श्री उदयचन्द जी महाराज स्थानकवासी मुनि मण्डल के उन महान् सन्तों में से थे जिन्होंने अपने आदर्श, तप, त्याग और पाण्डित्य से चतुर्विध संघ में अमिट ख्याति प्राप्त की है। गत १५-१६ वर्षों में मुझे उनके चरण सम्पर्क में आने के बहुत से अवसर मिले हैं। उनकी शान्त प्रकृति व सौम्य मूर्ति का मुझ पर सदैव ही अच्छा प्रभाव पड़ा है। वह अनेक गुणों के भण्डार थे परन्तु उनमें एक विशेषता यह थी कि स्वयं सर्वगुण सम्पन्न होते हुए भी अन्य गुणीजनों को देख कर प्रमोद प्रगट करते थे। उनके हृदय की कोमलता तथा सरल स्वाभाविकता ऐसी थी कि हर एक के हृदय पर उनकी छाप पड़ती थी। उन्होंने ६४ वर्षों तक जिस आदर्श रूप में साधु जीवन व्यतीत किया है, और अनेक प्रकार के कठिन परीषह हँसते हुए सहन किये हैं वह सब हमारे लिये उपादेय हैं। वह सन्मार्ग के पथ-प्रदर्शक थे और

उन्होंने अपने इस जीवन में लाखों भव्य जीवों को सन्मार्ग पर लगाने का महान् कार्य किया है। आज भी उनका सन्देश भूले-भटके जीवों को सुख व शान्ति के मार्ग पर आरूढ करने के लिये अन्धकार में प्रकाश का कार्य करने वाला है, हम सबका कर्तव्य है कि हम गणी जी के आदर्श जीवन से शिक्षा ग्रहण करते हुए स्वयं सन्मार्ग पर चलें और दूसरों को चलाने में सहायक बनें।

श्रद्धेय गणी श्री जी के चरण कमलों में

[बा० पद्मचन्द जी जैन प्रभाकर दिल्ली शहर]

भारत के सभी आचार्यों ने एक स्वर से अध्यात्मवाद की ओर जोर दिया है। कर्तव्य परायणता तथा कर्मवाद के सिद्धान्त ने संसार को एक नया नहीं बल्कि पुराने ही पाठ को स्मरण कराया है। धन्य वे महापुरुष जिन्होंने कर्तव्य के आगे राजसी वैभव, बल्कि प्राण तक भी तुच्छ समझे। ज्ञान, ध्यान, तप, संयम की आराधना करके अमरत्व प्राप्त किया अथवा अमरत्व की ओर अग्रसर हुये।

श्रद्धेय गणी जी वास्तव में ज्ञान सूर्य की उदित अवस्था ही थे। आपकी शान्त तथा गम्भीर मुद्रा से एक अलौकिक तेज प्रगट होता था। आपकी कम बोलने अथवा समय पर बोलने की प्रवृत्ति साधुत्व के प्रधान गुण से परिव्याप्त थी। आप हमारे देहली क्षेत्र में प्रायः बारह वर्ष स्थिरवास अवस्था में रहे, हमारा अहोभाग्य ! गणिवर्य की सेवा का सुअवसर हम समस्त दिल्लीवासियों को भली प्रकार प्राप्त हुआ। दुःख है तो इसी बात का कि वह ज्ञान सूर्य सूचना दिये बिना ही दिवंगत हो गया।

संसार मनुष्यों से भरपूर है। प्रतिदिन सहस्रों जन्मते तथा मृत्यु को प्राप्त होते हैं। परन्तु मानव इतिहास उन्हीं महापुरुषों की याद रखता है जो इस विश्व रंगमंच पर अपना अभिनय सफलतापूर्वक अभिनीत कर सके हैं।

जिन महापुरुषों के जीवन में दया, सरलता, अहिंसा, अस्तेय, अदत्त, ब्रह्मचर्य आदि गुण समाविष्ट हो चुके हैं, उन्हीं को इतिहास नत-मस्तक करता है और उनकी गुण गाथा सुनहरी पृष्ठों में प्रकाशित करता है। गणिवर्य एक महापुरुष थे। उनके अलौकिक गुणों को प्रकाश में लाना मेरी सामर्थ्य से बाहर है।

श्रद्धा के पुष्प कैसे हैं ? सुन्दर हैं अथवा असुन्दर। सुगन्धित हैं अथवा असुगन्धित—देखा नहीं जाता। वास्तव में देखी जाती है—भावना ! मैं मन,

वचन, काया से नत मस्तक होकर गणिवर्य के गुणों की मूक प्रशंसा करता हूं। और अधिक न कह कर उनकी दिवंगत आत्मा के लिए चिर शान्ति की कामना करते हुये श्रद्धा के भाव पुष्प समर्पित करता हूँ।

आदरणीय महामुनि

[लाला रलाराम जैन रिटायर्ड जज शिमला]

"His Holiness Shri Gani Ude Ji Maharaj was the most prominent Sathanakwasi Jain Muni at the time of his demise in 1948 A.D. I had the good luck of coming in contact with him for the first time in 1908. Since then I had great respect for him. He had thorough knowledge of the Jain scriptures and spent the best part of his life in preaching the Jain Dharma throughout the Punjab Province and other localities. He was very regular and punctual in his daily engagements, His advice was invariably sought and highly appreciated in connection with all important matters relating to the welfare of the Jain community. His death is an irreparable loss not only to his disciples but also to all the Sathanakwasi Jains in the country. I pay my respectful homage to the departed soul and express the hope that his worthy disciples Shri Munis Raghbar Dayal Ji, Durga Das Ji and others will countinue to walk in the foot-steps of their great Guru and bring credit to him and to themselves."

Simla: Rala Ram Jain,
30.7.48. Retired Judge.

धर्म गुरु श्री गणी उदयचन्दजी महाराज अपने स्वर्गवास के समय सन् १९४८ ई० में बहुत प्रसिद्ध स्थानकवासी जैन मुनि थे। मुझे सर्वप्रथम सन् १९०८ में उनके सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। तभी से मेरे हृदय में उनके लिए महान् आदर है। उनको जैन-धर्म के ग्रन्थों का असाधारण ज्ञान था और उन्होंने अपने जीवन का सुनहला (अमूल्य) भाग समस्त पंजाब में तथा अन्य स्थानों में जैन-धर्म के प्रचार के लिए व्यतीत किया। वे अपने दैनिक कार्यक्रम के बहुत नियमित थे। जैन जाति की भलाई से

सम्बन्धित प्रत्येक आवश्यक कार्य में उनकी सम्मति ली जाती थी और वह हर प्रकार से माननीय (प्रशंसित) होती थी। उनकी मृत्यु से इनकी शिष्य मण्डली को ही नहीं किन्तु देश के समस्त स्थानकवासी जैनों को गहरी क्षति पहुँची है जिसकी पूर्ति होनी असम्भव है। मैं दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ और आशा करता हूं कि उनके आज्ञाकारी शिष्य श्री रघुवरदयालजी, श्री दुर्गादासजी तथा अन्य अपने महान् गुरु के चरण-चिह्नों पर चलते रहेंगे और उनके तथा अपने लिए शोभा बनाएंगे।

शिमला
१०—७—४८

रलाराम जैन
रिटायर्ड जज

आदर्श धर्म प्रचारक

[बा० रामनारायण पी० सी० एस०—
एडीशनल रिटायर्ड डिस्ट्रिक्ट और शिशन जज]

I had the privilege of coming in contact with His Holiness Shri Swami Ude Chand ji Maharaj in company with my father the late Achhru Ram ji before 1912, when I was a College Student. He was universally loved, and respected by the Jains, non-Jains, who had the good fortune to hear his discourses. Before his sad demise in 1948 A. D. people came to him from far, and wide at Delhi, for advice in religious matters regarding the welfare of the Jain community.

He never cared to be dubbed as Puj ji Maharaj, although being Senior most monk in Punjab, he was asked to accept the mantle. He always believed in silent work and was an ideal monk in all respects.

His worthy disciples Shri Raghubar Dayal ji, Durga Das ji and others will follow in the footsteps of the Great Guru to serve the Bhesh and the Jain community to which they belong.

41. Darya Ganj. *Ram Narayan P. C. S.*

DELHI. Retired Addl. Dist. and Sess Judge
20-9-1948.

सन् १९१२ से पहले जबकि मैं कालिज का एक विद्यार्थी था, अपने पिता स्वर्गीय राय अच्छरूरामजी के साथ महाराज के सम्पर्क में आने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। क्या जैन और क्या अजैन जिसको भी आपके भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, सब आपसे प्रेम करते थे और आपको आदर की दृष्टि से देखते थे। आपके स्वर्गवास सन् १९४८ ई० से पूर्व लोग धार्मिक मामलों में और जैन जाति की भलाई के विषय में आपसे सम्मति लेने के लिए हर ओर से देहली आते थे।

यद्यपि आप पंजाब भर में सबसे उच्च श्रेणी के साधु थे और आपसे पदवी धारण करने को कहा तो भी कभी आपने 'पूज्य' जी महाराज बनने की परवा नहीं की। आप सदा मौन रूप से कार्य करने में विश्वास करते थे और प्रत्येक दृष्टिकोण से आप एक आदर्श भिक्षु थे।

उनके आज्ञाकारी शिष्य श्री रघुवरदयाल जी, श्री दुर्गादासजी तथा अन्य अपने महान् गुरु के चरण-चिह्नों पर चलेंगे और भेष तथा जैन जाति की, जिससे वे सम्बन्धित हैं, सेवा करते रहेंगे।

४४, दरियागंज,
दिल्ली।
२०-९-१९४८

द० रामनारायण पी० सी० एस०
रिटायर्ड एडीशनल डिस्ट्रिक्ट और सिसिन जज

शान्त मूर्ति गणी श्री उदयचन्द्रजी

[पं० हरबंश लाल जोशी प्रिंसिपल भटिंडा]

With the demise of Shri Mahatma Ude Chand, a towering personality who worthily commanded reverence of a large section of people, has disappeared. He did not enter the political field otherwise his name like many other top leaders, would have resounded through the length and breadth of the land.

I vividly recollect having had the privilege of his first 'Darshan'. I was a mere child then. With spotlessly white sheets wrapped round him, barefooted and bareheaded, he entered our house for Ahar (food). His open countenance, with a broad

forehead and a big bald lustrous head, radiated, sanctifying smiles.

He looked at me I was charmed and conquered. It was the triumph of a forceful, magnetic personality born out of a long austere moral training. Since then, for over a period of thirty-eight years, he retained me as an ardent admirer whose feelings of reverence for him have been growing, despite the fact that my visits had been very few and far between, the last one after a lapse of seventeen years. Owing to severe throat trouble, though strictly forbidden by the doctors to speak, he sent for me and talked to me in his usual, elevating way for over three quarters of an hour. This was my last and unforgetable meeting with nim.

The question why I had so much been fascinated by him inspite of my being a non-Jaini, very often presented itself to me. The only answer, and undoubtedly the right one, that struck me with an increasing emphasis, was that it was due to his very high character, catholic mind, unswerving genuine sympathy for the well-being of those who even once contacted him, his inimitably sweet tongue and an unfailing, psychological insight into human behaviour. My grand father, grand-mother and subsequently, my uncles and father were the first in our family to be influenced by him. The wonder is that regards of all of us for him flourished unabated for no less than half a century.

There was once a religious debate (Shastrarth) at our village, Balachaur District Hoshiarpur. On one side was Gani Ude Chandji, the other side was represented by Mahatma Muni Ram, a scholarly soul of logical brain, with an exemplary purity of character. The discussion got heated. But Mahatma Ude Chand squatted unruffled putting forth arguments with a rare, unaggressive eloquence. It was a sight worth seeing. In the excited atmosphere, every inch, he looked a dignified picture of an

unrivalled spirit of tolerance. He argued with a marvellous restraint and patience.

In the face of great provocations, he was ever noted to keep calm and unperturbed. He would generously smile away the petty-mindedness of others and forgive them.

He did not carry a load of books with him. But quoted chapter and verse from memory. Unbroken celebacy (Brahamcharya) coupled with rigorous ascetism endowned him an amazing gift of memory. Even if you met him after dacades, he would ask about the welfare of every one of the family, correctly naming even the tiniest child whom he had seen in your house at the occasion of his visit years back.

It was always a treat to hear him deliver his enthralling sermons. Not a word of offence to any one ever slipped from his lips. He never thought ill of any one. In a positive form, it can be truly expressed that he ever wished well of everybody

Mahatma Gandhi preached non-violence and with his personal example and precept, he gave it a rich hallow. But much earlier, Gani Ude Chand had adopted it and practically lived this principle. He was an earnest votary of non-violence and truth.

It was his exceptional moral qualities that had drawn hundreds of admirers from outside the Jain fold; and he kept them attached to himself, Sadhus will come and go. But he will be long missed. He had a pure, humble and exalted spirit the like of which will not be easily accessible. His sacred memory will remain enshrined in our hearts.

Maharaj Raghbar Dayal, the distinguished disciple of his Master, graphically described to me in touching words, the last moments of Gani ji's earthly stay. How serene and detached he was: Quite in tune with the spiritual heights he attained.

All the members of our large family who had

seen him, will cherishingly treasure their remniscences about him. We have been benefitted with his advice and good wishes. With a feeling of profound grief and veneration on behalf of all of us, I pay an humble tribute to the departed Mahatma. I belive that his soul, resting in eternal peace, will continue to bless us.

महात्मा उदयचन्द्जी महाराज के देहावसान से एक ऐसी व्यक्ति का लोप हुआ है जिनका लाखों स्त्री पुरुषों के हृदय पर प्रेम का शासन था। महात्माजी ने राजनीति क्षेत्र में पदार्पण नहीं किया नहीं तो भारत के अन्य उच्चकोटि के नेताओं की भान्ति वे भी भारताकाश में सूर्य की भांति चमकते।

मुझे पहले पहल जब उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ वह अवसर मुझे भली भांति याद है। उस समय मैं एक बच्चा था। महात्माजी ने शुद्ध श्वेत चादर ओढ़े, नंगे पांव और नंगे सिर हमारे घर में भोजन लेने के लिए पदार्पण किया। उनका खिला हुआ मुखमण्डल विशाल मस्तक अवस्था के कारण बालरहित देदं प्यमान सिर-ऐसा जान पड़ता था मानो उनकी पवित्र और प्रेममय मुस्कान से हमारा घर चमक उठा मुझ पर उनकी दया दृष्टि पड़ी मैं तो मानो किसी अद्भुत पाश में बँध गया। वर्षों के शुद्ध आचार और तापस जीवन के परिणाम स्वरूप उनके आकर्षक व्यक्तित्व का कुछ ऐसा प्रभाव था। उस दिन के पश्चात् ३८ वर्ष तक मैं उनका भक्त बना रहा और यद्यपि उनके दर्शन का मुझे कभी २ सौभाग्य मिलता था। उनके प्रति मेरी श्रद्धा और प्रेम निरंतर बढ़ता ही रहा। पिछली बार जब मैंने महात्माजी के दर्शन किये १७ वर्ष बीत चुके थे। आपके गले में बहुत कष्ट था और डाक्टर ने आपको बोलने से मना किया हुआ था। फिर भी बड़े प्रेमपूर्वक आपने मुझे बुला भेजा और लगभग १ घंटा अपने स्वाभाविक गम्भीर और प्रेममय रूप से अमृत वर्षा करते रहे। वह दिन मैं कभी नहीं भूलूंगा। यह महात्माजी के अन्तिम दर्शन का अवसर था।

मेरे हृदय में रह २ कर यह प्रश्न उठा करता कि यद्यपि मैं जैनमत का अनुयायी नहीं हूँ फिर भी क्यों महात्माजी का मुझ पर इतना प्रभाव है और उनके प्रति इतना आकर्षण? और इसका जो उत्तर मिलता और मेरे विचार से ठीक उत्तर मिलता, वह यह था कि यह सब उनके परमशुद्ध आचार, उदार चरित्र और एक बार भी जो उनके संपर्क में आ जाए उसके लिए सच्ची सहानुभूति, उनकी मधुर वाणी और मानव हृदय और मानव चरित्र की अचूक सूझ बूझ ही उनके

इस अद्भुत प्रभाव का रहस्य है। मेरे पितामह, दादी, और तत्पश्चात् पिता व चाचा आदि मेरे परिवार में सभी महात्माजी के भक्त बन गए और आश्चर्य यह है कि अर्ध शताब्दी तक हमारी श्रद्धा उनपर अटूट और निरंतर बनी रही।

एक बार हमारे गांव बलाचौर जि० होश्यारपुर में शास्त्रार्थ हुआ। एक ओर महात्मा उदयचन्दजी महाराज और दूसरी ओर महात्मा मुनीरामजी थे। वे भी एक उच्चकोटि के विद्वान् और तार्किक और आदर्श चरित महात्मा थे, वादविवाद तीव्र हो गया। परन्तु महात्मा उदयचन्दजी शान्त रहे और बड़ी गम्भीरता और धैर्य और अद्वितीय वाणीचातुर्य के साथ अपने मत के पक्ष में तर्क करते रहे। यह एक देखने योग्य दृश्य था, इस उत्तेजित वातावरण में भी वे अगम सहन और शील की अद्वितीय चमत्कारपूर्ण मूर्ति प्रतीत होते थे, यद्यपि दूसरी ओर से पर्याप्त उत्तेजना मिलती थी। सभी ने देखा कि उनकी शान्तमुद्रा भाग न हो सकी। दूसरी ओर की क्षुद्रहृदयता को वे एक दिव्य मुस्कान के साथ टालदे ते थे और अपने हृदय से उन्हें क्षमा भी कर देते थे।

उनके पास पुस्तकों का भार न था। अपनी तीक्ष्ण स्मरणशक्ति से ही वे ग्रंथोंसे हवाले देते जाते थे। अखण्ड ब्रह्मचर्य और कठोर तापस जीवन ने उन्हें अद्भुत मेधा शक्ति प्रदान की थीं। वर्षों उपरान्त मिलने पर भी वह परिवार में हर एक का कुशल मंगल पूछते थे और छोटे से छोटे बच्चे का नाम भी, जिसे उन्हों ने परिवार में अपने शुभागमन के समय देखा होता था ठीक २ याद रखते थे।

उनके उपदेश सुनना एक आनन्द की बात थी। उनकी पुण्य जिह्वा से कभी एक शब्द भी कटाक्ष का न निकलता था। वे कभी किसी के बारे में बुरा सोचते ही न थे वरन् यह ही कहना अधिक उचित होगा कि वे हरएक के लिए शुभ कामना रखते थे।

महात्मा गांधी ने अहिंसा का प्रचार किया और अपने जीवन को उदाहरण बना या, उन्होंने इस पुण्य सिद्धान्त को और भी अधिक पुण्य बनाया। परन्तु महात्मा उदयचन्दजी ने बहुत पहिले इस सत्य को ग्रहण किया था और अपने जीवन को इसी के अनुसार ढाला था। वे सत्य और अहिंसा के अनन्य भक्त उपासक थे।

उनके यह ही अद्भुत नैतिक गुण थे जिन्होंने जैनमत से बाहर हजारों स्त्री पुरुषों को उनकी ओर आकर्षित किया। महात्माओं का जन्म और अवसान तो होता ही रहेगा परन्तु उनकी पुण्य स्मृति सदैव बनी रहेगी। उनकी आत्मा

निर्मल विनीत तथा महान् थी और ऐसी आत्माएं सदाही अवतीर्ण नहीं होती। उनके भक्तों के दिलों में उनकी पुण्य-स्मृति चिरकाल तक बनी रहेगी।

इन महात्मा के परम योग्य शिष्य महाराज रघुवरदयालजी ने बड़े हृदय विदारक शब्दों में मुझे उनके भौतिक जीवन की अंतिम घड़ियों का वृत्तान्त सुनाया। कितने शान्त और निर्लेप थे आप। और ज्ञान एवं आत्मिक बल के जिस उच्च शिखर पर आप पहुँच चुके थे यह उसके उपयुक्त ही था।

हमारे परिवार के जिन २ व्यक्तियों को आपके दर्शन और सम्पर्क का सौभाग्य मिला है वे उनकी पुण्यस्मृति को सदैव जाग्रत रखेंगे। उनके उपदेश और आशीर्वाद का हमने परम लाभ उठाया है। उन सबकी ओर से बड़े शोक और सम्मान के साथ स्वर्गीय महात्माजी के पवित्र चरणों में मैं यह श्रद्धाञ्जली भेंट करता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि परमधाम निवासी उनकी पुण्य आत्मा हमें सदा आशीर्वाद देती रहेगी।

सफल शास्त्रार्थी

[बा० हरजसराय जी जैन बी० ए०, अमृतसर
मन्त्री श्री सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति]

स्वर्गीय गणी श्री उदयचन्द्र जी महाराज की मृत्यु से श्वे० स्था० जैन पंजाब सम्प्रदाय को बड़ी क्षति सहन करनी पड़ी है। पुराने साधुओं में से गणी जी कुछेक शेष में से थे। सम्प्रदाय के मुआमलों में आपकी सम्मति आदर से तलाश की जाती थी। शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में आप अनेक बार सफलता प्राप्त कर चुके थे।

उत्तमकोटि के सन्त

[श्री बालचन्द्र जी श्री श्री माल, अध्यक्ष श्री हितेच्छु
श्रावक मण्डल रतलाम]

गणी श्री उदयचन्द्र जी महाराज साधु मार्गी जैन समाज में उत्तमकोटि के सन्त थे। उनका तात्विक एवं दार्शनिक ज्ञान भी उच्चकोटि का था। वे किसी के मिथ्या वाग्जालों को मूकदर्शक सहन नहीं करते थे।

उन्होंने पंजाब में श्रीमान् नाभा नरेश की अध्यक्षता में श्री विजयवल्लभ जी महाराज से शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त की थी। इसी तरह श्रीमान् अजमेर के वृहत्साधु सम्मेलन में शान्ति रक्षक के महत्वपूर्ण पद पर नियुक्त किए गए थे।

आपने इस उत्तरदायित्वपूर्ण पद से शान्ति कायम रखने के लिए प्रशंसनीय सत्प्रयास किया।

ऐसे अनुभवी, विलक्षण, गम्भीर एवं शास्त्रज्ञ महात्मा की क्षतिपूर्ति होना कष्ट सा प्रतीत होती है। मैं स्वर्गीय आत्मा को श्रद्धांजलि समर्पित करता हूं।

जैन सम्प्रदाय के गुरुदेव

[हिन्दुस्तान टाइम्स ३० मार्च ४८ दिल्ली]

The death occured on Sunday in Sadar Bazar, Delhi of the 83 years old sadhu Gani Udechand Maharaj, Leader of Jain Community in India. The funeral took place yesterday.

At the early age of 19, Udechandji left his home and became a Jain monk. For the last 64 years he has been moving from one part of the country to the other, propagating the teachings of Jainism.

Those who came in close touch with Ganiji spoke highly of his habit of thinking cleerly on every issue before expressing his opinion on it. He also devoted a great part of his time to constructive work.

Gani Udechandji kept himself aloof from sectarianism.

कल रविवार को सदर बाज़ार में ८३ वर्ष की प्रौढ़ अवस्था में समस्त भारतवर्ष के जैन सम्प्रदाय के नेता अथवा गुरु साधु गणीश्री उदयचन्द्रजी महाराज का स्वर्गवास हो गया। आपकी अन्तेष्टि क्रिया कल देहली में सम्पन्न हुई।

१६ वर्ष की अवस्था में ही श्री महाराज घरबार छोड़कर जैन साधु हो गए थे। गत ६४ वर्ष आप भारत के कोने २ में घूमकर जैन मत का प्रचार करते रहे। जिन्हें उनके सम्पर्क में आने का सौभाग्य मिला है, उनका कहना है कि किसी भी समस्या पर अपना मत प्रकट करने से पहिले आप उस पर गम्भीर चिन्तन करते थे। उन्होंने अपने जीवन का अधिकतर भाग रचनात्मक काम में व्यतीत किया। आप सदा मत-मतान्तर के झगड़ों से दूर रहते थे।

श्रद्धाञ्जलि

[पं० गणेशदत्त शर्मा विहारी]

"उदय, चन्द्र का अस्त हुआ अब, अरुणोदय की लाली में।
सत्य अहिंसा दर्शावेगी, तीक्ष्ण रूप हो जगती में ॥१॥
संघपति शासन के नायक, यतिवर आप कहाते थे।
सत्य अहिंसा पालन में हा! समय व्यतीत कराते थे॥२॥
किन्तु काल के वशीभूत हो, बचा नहीं कोई जग में।
यही एक विश्वास हृदय बिच, धर मानव रहता मन में॥३॥
हाय! काल तू क्यों नहि सोचा, कुछ दिन तो ठहराना था।
विश्ववन्द्य गांधी के पीछे, लख जीवन सुख पाता था॥४॥
किन्तु तुझे क्यों सोच किसी का, दुष्ट सदा दुर्वार रहा।
चला नहीं वश तेरे ऊपर, विश्व विवश हो सदा रहा॥५॥
इसीलिये क्या ऐसा करना, उचित न्याय अब है तेरा।
रोता देख संघ शासन है, क्या पिघलेगा दिल तेरा॥६॥
कभी नहीं था क्रोध सताया, तेरे जीवन प्राङ्गण में।
शान्ति सुधा रस सदा बरसता, मुनिवर तेरे मानस में॥७॥
होता था उपकार उसीका, जो व्याकुल हो आजाते।
पाता था शान्ति जीवन में, ज्ञान क्रिया जब दिख जाते॥८॥
आखिर पूर्ण सयश होने पर, पराधीन नहिं हो पाये।
इस चारित्र पूर्ण शक्ति से, ज्ञान ज्योति ही लख पाये॥९॥
इसीलिये अब छूटा, उनका इन्द्रिय लोलुप विकल प्रकाश।
हुआ पूर्ण विश्वास हमें अब, टूटा गणिवर तेरा पाश॥१०॥

शेष श्रद्धांजलियाँ

श्रद्धेय गणीश्री जी महाराज जैन और अजैन जनता के सर्वप्रिय मुनिराज थे। अत: आप के स्वर्गारोहण के समय भक्त जन समूह ने बड़े ही प्रेम और आदर भावना के शब्दों में अपनी अपनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित की थीं। यदि यहाँ उन सब श्रद्धांजलियों को अंकित किया जाय तो एक स्वतंत्र ही विशाल काय पुस्तक तैयार हो जाय। अत: उन सब प्रेमियों की भावनाओं का आदर करता हुआ भी स्थानाभाव से यहां संक्षेप में नामोल्लेखन मात्र कर रहा हूँ।

संभव है बहुत से सज्जनों का फिर भी उल्लेख न होने पाए, इसके लिए क्षमा के अतिरिक्त और कौनसा मार्ग ग्रहण किया जा सकता है ?

१. बा० कर्मचन्द्रजी, सरकारी एडवोकेट दिल्ली ।
२. बा० जयचन्दजी, मैनेजर भारत इन्सोरेंस दिल्ली ।
३. बा० मुन्नीलालजी, टांडा निवासी ।
४. ला० मेहरचन्द्रजी मंत्री, रोपड़ निवासी ।
५. श्री पार्श्वनाथ जैन विद्याश्रम बनारस ।
६. अखिल भारतीय श्वे० स्था० जैन कान्फ्रेंस बंबई ।
७. श्री भगवंतराय वैद्य मालेर कोटला ।
८. म्यूनिसिपल कमेटी दिल्ली ।
९. तिलोक रत्न जैन परीक्षा बोर्ड पाथरडी (दक्षिण) ।
१०. जैन श्री संघ आगरा शहर ।
११. जैन श्री संघ लोहामंडी, आगरा ।
१२. पंजाब भ्रातृ सभा, बंबई ।
१३. जैन संघ मदन गंज किशनगढ़ ।
१४. जैन श्री संघ, अलवर ।
१५. जैन संघ जयपुर ।
१६. जैन सभा फरीदकोट ।
१७. जैन सभा मलाना ।
१८. जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूला (अम्बाला) ।
१९. जैन श्री संघ नाभा स्टेट ।
२०. ,, ,, भटिंडा ।
२१. ,, ,, बलाचौर ।
२२. ,, ,, रोपड़ ।
२३. ,, ,, पट्टी ।
२४. ,, ,, अमृतसर ।
२५. ,, ,, अम्बाला शहर ।
२६. ,, ,, मुकेरियां ।
२७. ,, ,, हुसियारपुर ।
२८. ,, ,, पटियाला ।

५९. „ „ समाना ।
६०. „ „ निकोदर ।
६१. „ „ धामनौली ।
६२. „ „ कांधला ।
६३. „ „ जीरा ।
६४. „ „ टांडा ।
६५. „ „ जालंधर ।
६६. „ „ फगवाड़ा ।
६७. „ „ मालेर कोटला ।
६८. „ „ रायकोट ।
६९. „ „ जम्मू ।
७०. सेठ कुन्दनलालजी मुरादाबाद ।